वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली

★

क्रम संख्या 8203
काल नं० 228.02 दिवाक
खण्ड

महाविद्यालय काशी ·
तैयारी के साथ ही स्वगा५ ५।
सनातन के अनुसार हिन्दु-विश्वविद्याल
रम्भ किया। —

महाश्रमण महावीर

लेखक
विद्वत्‌रत्न, धर्म-दिवाकर
सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री, न्यायतीर्थ
बी ए एल-एल. बी. सिवनी (म. प्र.)

प्रकाशक :
आचार्य रत्न देशभूषण महाराज ग्रंथमाला
स्तवनिधि (मैसूर)

[सर्वाधिकार लेखक के अधीन]

प्रथमावृत्ति [१९६८]
मूल्य : आठ रुपया

मुद्रक
शुभचिन्तक प्रेस,
जबलपुर

वन्दना

वर्धमानं महावीरं केवलज्ञान-राजितम् ।
प्रणमामि त्रिशुध्याऽहं विश्वविघ्नोपशान्तये ॥

★ ★ ★

श्रीकुण्डपुरे सिद्धार्थनरेश-प्रियकारिणी-देव्यो-जाताय हेमवर्णाय सप्तहस्तोन्नताय द्वासप्ततिवर्षायुष्काय केसरि-लांछनाय मातंग-सिद्धायिनी यक्षयक्षीसमन्विताय नाथवंशाय पावापुर-मनोहरवनान्तरे बहूनां सरसां मध्ये महामणि-शिलातले परिनिर्वृताय श्रीमहाश्रमण-महावीर-तीर्थेश्वराय नमस्कारं कुर्वे ।

★ ★ ★ ★

प्रणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।

अनुक्रम

आमुख

आज का वैज्ञानिक युग बुद्धिवादी है, अतः केवल श्रद्धा पर निर्भर धर्म के प्रति जगत् की श्रद्धा और भक्ति का लोप होता जा रहा है। भगवान महाश्रमण महावीर ने जिस तत्त्वज्ञान की देशना दी, वह अत्यन्त पुरातन होती हुई भी नवीनता की सुवास संपन्न है, कारण विज्ञान की कठोर परीक्षा में उसकी दीप्ति न्यून न होकर वृद्धिगत होती है। जैन तत्वज्ञान उस विज्ञान का मित्र है, जिससे आत्मा का विकास होता है। जैन धर्म का शिक्षण परम विज्ञान (Science of Science) है। इस आत्म विज्ञान द्वारा जीव सच्चिदानन्द रूप परमात्मपद को प्राप्त करता है। महापुराणकार जिनसेन ने जिनेन्द्र को "नमः परम विज्ञान, नमः परम-संयम" कहकर उनकी स्तुति की है।

इतिहास के प्रकाश मे—तत्वचिंतकों एवं सहृदय विशेषज्ञों की दृष्टि में विश्व में प्रचलित विविध धर्मों में जैनधर्म की गौरवपूर्ण स्थिति है। इतिहास की दृष्टि से यह अत्यन्त प्राचीन धर्म माना जाता है।* "फिलासफीज आफ इन्डिया" नामक ग्रन्थ में जर्मन विद्वान डा. हेनरिच जिमर ने कहा है, कि जैनधर्म "Pre-Aryan"— आर्यों का पूर्ववर्ती धर्म है। (पृ० ६०)

इस धर्म की देशना सर्वप्रथम भगवान ऋषभदेव ने की थी। वे जैनधर्म के चतुर्विंशति तीर्थंकरों में सर्वप्रथम महापुरुष हुए हैं। हिन्दु धर्म के मान्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत आदि में भी भगवान ऋषभदेव को जैन-

---

* "There is truth in the Jain idea that their religion goes back to remote antiquity, the antiquity in question being that of the pre-Aryan (The Philosophies of India P. 60).

§ Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras— Rishabha, Ajitnath and Arishtanemi. The Bhagvat Puran endorses the view that Rishabhadeo was the founder of Jainism"-Indian Philosophy (Vol 1 P. 237).

धर्म का संस्थापक स्वीकार किया है। दार्शनिक भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने अपने ग्रंथ 'इंडियन फिलासफी' में लिखा है कि ईसा से एक सदी पूर्व पर्यंत लोग प्रथम तीर्थंकर रूप मे ऋषभदेव की आराधना करते थे; इस बात की साक्षी विद्यमान है। इसमें संदेह नहीं, कि जैनधर्म वर्धमान महावीर अथवा भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व में विद्यमान था। § यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीर्थंकरत्रय का उल्लेख पाया जाता है। (भाग पृष्ठ २३७)। भागवत पुराण ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक मानता है।

ऋग्वेद में ऋषभदेव का उल्लेख पाया जाता है। हिन्दू धर्म में वर्णित २४ अवतारों मे ऋषभदेव की विष्णु के नवमें अवतार रूप में परिगणना की गई है। वामन, राम, कृष्ण आदि अवतारों के पूर्व ऋषभावतार को स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में १५ वें वामन अवतार का उल्लेख पाया जाता है, इससे यह बात स्पष्ट रूप से अवगत होती है कि पन्द्रहवें अवतार का प्रतिपादन करने वाले हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की रचना के बहुत पूर्व नवम अवतार ऋषभ देव का अस्तित्व मानना इतिहास की दृष्टि से अबाधित और युक्तियुक्त है।

भगवद्गीता (अ. ४) में यह बताया गया है कि ज्ञान योग को भगवान ने सर्वप्रथम 'विवस्वान्' को बताया था। उनसे वह ज्ञान मनु को प्राप्त हुआ तथा मनु के द्वारा वह विद्या इक्ष्वाकु को प्राप्त हुई। 'स्वामी विवेकानन्द' अंग्रेजी ग्रन्थ की प्रस्तावना में डा० राधाकृष्णन ने उपरोक्त कथन* किया है।

गीता से यह विदित होता है कि इक्ष्वाकु नरेश के पश्चात् योग की विद्या बहुत समय लुप्त रही।-"स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप" (४-२ गीता) उस पुरातन विद्या की शिक्षा श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन

---

* "In the Bhagavadgita (Chapter iv) it is said that the tradition of Jnana yoga was proclaimed by the Lord first to Vivasvan who passed it on to Manu, who gave it to Iksvaku" (Swami Vivekanand, A Forgotten Chapter of His Life.)

को प्रदान की।"स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः" (गीता अध्याय ४, श्लोक ३,) इससे यह बात प्रमाणित होती है कि कृष्ण महाराज के द्वारा दिये गये योग-विद्या के उपदेश के बहुत पूर्व इक्ष्वाकु नरेश हुए हैं, जो योगशास्त्र के पारदर्शी सत्पुरुष थे। स्वामी समंतभद्र ने जो ईसा की दूसरी शताब्दी में हुये हैं. ऋषभदेव को इक्ष्वाकुकुल का आदि-पुरुष स्वीकार किया है। स्वयंभूस्तोत्र में उनके ये शब्द मार्मिक हैं—"इक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्.. वृषभः प्रभुः प्रवव्राज"। भगवज्जिनसेनाचार्य ने अपने महापुराण में ऋषभदेव के सहस्रनाम में उन्हें 'योगीश्वर' कहा है। आचार्य मानतुंग ने भी ऋषभदेव को योगीश्वर कहते हुए लिखा है—

"योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं।

ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः।"

इस सामग्री के प्रकाश में मोहन जोदरो और हड़प्पा के उत्खनन से उपलब्ध दिगम्बर ध्यानमय योगी की मूर्ति तथा वृषभ का चिन्ह इस बातों को स्पष्ट करते हैं, कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व भी जैनधर्म के संस्थापक भगवान ऋषभदेव की आराधना की जाती थी। (Modern Review Aug. 1932, Sindha five thousand years ago.) वह योगी की मुद्रा दिगम्बर जैनमूर्ति सदृश है।

भगवान ऋषभदेव के पश्चात् भगवान अजितनाथ आदि तेईस तीर्थङ्कर हुए हैं; उनमें २४ वें तीर्थङ्कर का नाम भगवान महावीर था। ऐतिहासिक अभ्यास और अनुसंधान की आरंभिक अवस्था में पाश्चात्य विद्वानों ने पूर्ण सामग्री उपलब्ध न होने के कारण भगवान महावीर को जैनधर्म का उद्धारकर्त्ता ('Revivor') न लिख उन्हें जैनधर्म का संस्थापक ('Founder') उद्घोषित किया। एलफिंस्टन नामक एक अंग्रेज ने जैनधर्म को ईसा की ६ वीं या ७ वीं सदी में उत्पन्न हुआ लिखा था—"The Jains appear to have been originated

in the 6th or 7th century of our era...." (History of India P. 121.) यह कथन आज मनोरंजक सा लगता है।

आज के इस अंतरिक्ष विचरण के वैज्ञानिक युग में ऐसी भ्रांत धारणाओं का अस्तित्व शून्य सदृश हो गया है। साम्प्रदायिकता की अंधियारी से आक्रांत व्यक्ति की बात दूसरी है। चिंतक और सहृदय विश्व के मनीषी, भगवान महावीर को जैनधर्म का संस्थापक न मानकर उन्हें बुद्धदेव से ज्येष्ठ समकालीन (Senior Contemporary) चौबीसवें जैन तीर्थङ्कर के रूप में स्वीकार करते हैं।

वातावरण—वर्तमान जगत् वर्धमान महावीर भगवान के जीवन और शिक्षण के प्रति अत्यधिक आकर्षित हुआ है। गांधी जी ने जब से भगवान महावीर की धर्म देशना के अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व अहिंसा का आश्रय ले भारतवर्ष को, दासता के बन्धन से मुक्त कराकर स्वतंत्र बना दिया, तब से समस्त विश्व के श्रेष्ठ चिंतकों और सुधीजनों के मध्य भगवान महावीर के जीवन और उपदेशों के प्रति बलवती जिज्ञासा जगी है।

आज विश्व की अणुशस्त्र रूप भस्मासुर के आतंक से आक्रांत विभीषिका की वेला में भगवान महावीर के द्वारा वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित अहिंसा रूप अजेय एवं अपूर्व उपाय की ओर विश्व के विद्वानों का ध्यान जाने लगा है। जर्मन राजदूत डा० डबल्यू मेलचर्स (Dr. W. Malchers) ने १९६१ के पत्र में भगवान महावीर के विषय में लिखा था—भगवान महावीर ने बुद्धदेव और ईसा के समान अहिंसा का दिव्य उपदेश दिया था, जिससे महात्मा गांधी का जीवन और उनके तत्वज्ञान अधिक प्रभावित हुए तथा उसने सद्भावनाशील पुरुषों के चित्त में गहरा स्थान बनाया है। वास्तव में युद्ध के द्वारा क्षति प्राप्त आज के जगत् में अहिंसा को इस प्रकार एक अपूर्व अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से शांतिपूर्ण शस्त्र स्वीकार किया गया है, जो अकेला ही हिंसात्मक घातक उन शक्तियों का प्रतिरोध करने में समर्थ

है, जिनके द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज का अस्तित्व ही संकटपूर्ण बन गया है' ।*

इस समय समस्त विश्व के सत्पुरुष भगवान महावीर के जीवन और उनके उपदेशों में विशेष रूचि ले रहे हैं, इसलिए उनके जीवन पर संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है।

जीवनी :—भारतवर्ष के बिहार प्रान्त के कुण्डपुर नगर को ईसा से ५६६ वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने अपने जन्म द्वारा पवित्र किया था। आचार्य पूज्यपाद ने 'निर्वाण-भक्ति' में भगवान महावीर के विषय में लिखा है, कि वे सिद्धार्थ नामक राजा के पुत्र थे, जो भारतवर्ष के विदेह नाम के प्रदेश में स्थित कुण्डपुर के स्वामी थे।—"सिद्धार्थ-नृपतितनयो भारतवास्ये विदेह-कुण्डपुरे"।

जन्मोत्सव :—आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में लिखा कि भगवान आषाढ़ शुक्ला षष्ठी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में विदेह देश के कुण्डपुर के स्वामी सिद्धार्थ राजा की महारानी प्रियकारिणी के गर्भ में नंद्यावर्त्त नामके सप्ततल युक्त राजप्रसाद में आये और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान महावीर का जन्म हुआ। (उत्तर-पुराण पर्व ७४)। जयधवला टीका में भगवान महावीर का जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि को कहा है—"चइत्त-सियपक्खे तेरसिए रत्तिए" (भाग १, पृ० ७८)

---

* "It was he, who like Lord Buddha and Jesus Christ propagated the sublime gosple of Ahimsa, which deeply influenced the philosophy and the life of Mahatama Gandhi and which has taken root in the minds of all those of us, who are of good will. Indeed, in our strife-torn world, Ahimsa has internationally been recognised as the only peaceful weapon which alone can counteract the evil forces of violence threatening the very existence of the whole of mankind."

भगवान की माता का नाम त्रिशला देवी– "तिसिला देवीए" भी था। भगवान का जन्म नाथकुल में हुआ था। भगवान के पिता को कुण्डपुर नगर के स्वामी सिद्धार्थ क्षत्रिय लिखा है—"कुण्डपुरपुरवरिस्सरसित्तत्थक्खद्वियस्स णाहकुले।" (पृ० ७८)

आचार्य पूज्यपाद रचित निर्वाणभक्ति में लिखा है, कि चैत्र शुक्ल चतुर्दशी के दिन प्रभातकाल में देवेन्द्रों ने भगवान का अभिषेक किया था।

जननीः—भगवान की माता प्रियकारिणी अथवा त्रिशलादेवी वैशालीनगर के स्वामी राजा चेटक की पुत्री थी। वह वैशाली उत्तर-पुराण में सिंधु देश में कही गई है—

सिंध्वाख्ये विषये भूभृद्वैशालीनगरेऽभवत्।
चेटकाख्योति विख्यातो विनीतः परमार्हतः॥ ७५–३

राजा चेटक की सप्त पुत्रियों में प्रियकारिणी के सिवाय मृगावती का विवाह वत्सदेश की कौशाम्बी नगरी के नरेश शतानीक के साथ हुआ था। दशार्णदेश की राजधानी हेरकच्छ के शासक दशरथ राजा का विवाह तृतीय कन्या सुप्रभा के साथ हुआ था। प्रभावती नाम की चतुर्थ पुत्री का विवाह कच्छदेश के रोरुक नगर के स्वामी उदयन महाराज के साथ हुआ था। वह शील गुण के कारण शीलवती रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त हुई।

पाँचवी पुत्री चेलना के पति मगध नरेश श्रेणिक महाराज थ, जिन्हे इतिहासकार बिम्बसार सम्राट के नाम से कहते हैं। ज्येष्ठा नाम की पुत्री ने यशस्वती आर्यिका के समीप साध्वी दीक्षा ली थी। सातवी पुत्री चन्दना ने अन्त में आर्यिका की दीक्षा लेकर अपने जीवन को कृतार्थ किया था।

भगवान जैसी लोकोत्तर आत्मा की जननी होने के कारण प्रियकारिणी देवी विश्वपूज्य हो गई। सुरराज की इन्द्राणी ने माता का जीवन निकट से देखा था। उसने कहा था—

'त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सुपुण्या यशस्विनी ॥'

हे माता! तुम तो तीन लोक का कल्याण करने वाली विश्व जननी हो, कल्याणकारिणी हो, सुमंगला हो, महादेवी हो, यशस्विनी हो। हे माता! तुम पुण्यवती हो।

भगवान के जन्म से त्रिभुवन को अपूर्व आनन्द मिला। पाप के सिंधु में निमग्न अपार कष्ट भोगने वाले महापापी नारकी जीवों को भी कुछ समय सुख-साता का अनुभव हो गया था।

भगवान का जन्म दया के देवता, विश्व प्रेम की दिव्य मूर्ति का जन्म था। भगवती अहिंसा ने नर-नारायण का रूप धारण कर जन्म लिया था। जीव को विकारी जीवन से विमुख कराकर अपने आदर्श चरित्र एवं वाणी द्वारा प्राकृतिक पथ पर प्रवृत्त कराने वाले उन प्रभु के जन्म समय सचेतन एवं अचेतन प्रकृति का समस्त परिकर रमणीय और सुन्दर हो गया था।

महाकवि जिनसेन कहते हैं :—

दिशः प्रसत्तिमासेदुः आसीन्निर्मलमम्बरम् ।
गुणानामस्य वैमल्यं अनुकर्तुमिव प्रभोः ॥ महापुराण ॥५-१३॥

उस समय समस्त दिशाएं स्वच्छ हो गई थीं। आकाश निर्मल हो गया था। उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वे सब भगवान के गुणों का ही अनुकरण कर रहे हों।

महावीर चरित्र में लिखा है कि सौधर्मेन्द्र ने कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करने के कारण उनका नाम 'महावीर' रखा और सद्‌गुणों की वृद्धि होने के कारण दूसरा नाम 'वर्धमान' रखा। भगवान को सन्मति दाता होने से 'सन्मति' भी कहते थे। वीर तथा अतिवीर भी उनके प्रसिद्ध नाम हैं। इस प्रकार पंच परावर्तन रूप संसार से उद्‌धार करने वाले उन प्रभु के पांच नाम प्रख्यात हैं।

वे प्रभु प्रारम्भ से ही दिव्यदृष्टि सम्पन्न थे। वे आध्यात्मिक ज्योतिर्धर सदृश लगते थे। पूर्व भवों की उपलब्धियों के कारण जन्म से महावीर के मति, श्रुत, तथा अवधिज्ञान थे। उन्हें दूसरों के पास जाकर अध्ययन योग्य कोई बात शेष नहीं बची थी। उन्हें शिक्षण देने योग्य गुरु का सद्भाव भी कहाँ था ? वे स्वयं विश्व के गुरुदेव थे।

उनका जीवन लोकोत्तरताओं का पुञ्ज था। उनकी वाणी, उनकी दृष्टि और उनकी समस्त प्रवृत्तियाँ चमत्कारप्रद प्रतीत होती थीं। वास्तव में वे आध्यात्मिक योगी थे, जो बाल्यमुद्रा धारण कर शोभायमान हो रहे थे। अपनी अवस्था के अनुरूप कौतुक, क्रीड़ा में भी वे असाधारण थे।

एक बार सौधर्मेन्द्र की सुधर्मा सभा में चर्चा चली, कि इस समय पराक्रम और वीरता में वर्धमान कुमार श्रेष्ठ हैं। उस समय संगमदेव प्रभु की वीरता की परीक्षा हेतु आया। वह मन ही मन सोचता था, कि बाल्यकाल की अपेक्षा भगवान का मनोबल पूर्णतया विकसित नहीं हो पाया होगा, अतः भयप्रद वस्तु को देखकर उनके चित्त में भीति की भावना जगे बिना न रहेगी। ऐसा विचार करते हुए वह उस उद्यान में पहुँच गया, जहाँ महावीर कुमार अनेक कुमारों के साथ वृक्ष पर चढ़ने—उतरने का खेल खेल रहे थे। संगम देव ने भयङ्कर नागराज का रूप बनाकर वृक्ष को जड़ से स्कंध पर्यन्त घेर लिया।

उस नागराज को देखते ही सब बालक घबड़ाकर भाग गये। भगवान सामान्य बालक तो थे ही नहीं। वे भय विमुक्त ही रहे।

उस सर्प की सौ जिव्हाएं भीषण रूप में लपलपा रही थीं। भगवान ने उस सर्पराज के मस्तक को, अपनी माता त्रिशला की गोद सदृश समझकर उसके साथ क्रीड़ा की।

प्रभु को अद्भुत धैर्यमूर्ति देखकर सङ्गमदेव हर्षित हुआ। उसकी समझ में आ गया, कि इस बाल शरीर के भीतर निवास करने वाली

आत्मा त्रिलोक में अपूर्व है। उस शरीर में मनोबल तथा आत्मशक्ति का अद्भुत संगम देखकर संगमदेव ने उनकी स्तुति कर उनका 'महावीर' यह सार्थक नामकरण किया।

बालोचित क्रीड़ाओं में उनका काल अत्यन्त सुखपूर्ण व्यतीत हो रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है, कि उनकी आत्मा अपनी हित साधना से विमुख हो गई हो। माता के गर्भ में आने से जब उनकी आयु के आठ वर्ष बीत गये; तब उन महावीर भगवान ने स्थूल रूप में हिंसा आदि पापों के त्याग का व्रत धारण किया और वे संयमी हो गये।

बाल्यावस्था के अनंतर यौवन श्री ने उनके शरीर को समलंकृत किया। उस समय भगवान का शरीर बड़ा सुन्दर लगता था।

> वपुः कान्तं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितम्।
> जगतः प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितम् ॥ १७६ ॥

उनका मनोहर शरीर, प्रियवाणी, मधुर अवलोकन तथा सस्मित संभाषण सभी जगत को प्रिय लगते थे।

यौवन की पूर्णावस्था होने पर उन निर्विकार प्रभु का सौन्दर्य शरच्चन्द्र सदृश मनोरम लगता था।

> अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहरम्।
> प्रकृत्यैव शशी कान्तः किं पुनश्शरदागमे ॥ १५-१ म. पु. ॥

माता त्रिशला ने अपने प्राणाधार वर्धमान की प्रवर्धमान यौवनावस्था को ध्यान में रख महाराज सिद्धार्थ से उनके विवाह की चर्चा की। अनेक गुणवती कन्याओं की ओर दृष्टि गई, किन्तु महाराज सिद्धार्थ की छोटी बहिन की पुत्री यशोदा के साथ प्रभु के विवाह की बात विशेष उपयुक्त सोची जाती थी; क्योंकि उसके विषय में कुछ घनिष्ठ और सुस्निग्ध कारण थे। हरिवंशपुराण में आगत यह कथन ध्यान देने योग्य है। गौतम स्वामी कहते हैं "श्रेणिक! क्या तुम इस जितशत्रु (कलिंग नरेश) को नहीं जानते? इसके साथ

भगवान महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की छोटी बहिन का विवाह हुआ है। जब भगवान महावीर का जन्मोत्सव हो रहा था, तब वह कुण्डपुर आया था और कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ ने इन्द्र के तुल्य-पराक्रम को धारण करने वाले इस परम मित्र का अच्छा सत्कार किया था। इसकी यशोदया रानी से उत्पन्न यशोदा नाम की पवित्र पुत्री थी। जितशत्रु की यह तीव्र भावना थी कि वह अनेक कन्याओं सहित यशोदा का विवाह भगवान महावीर के साथ सम्पन्न होता देखे।" (सर्ग ६६, १–८)

महाराज सिद्धार्थ ने अनुकूल समय देख जब भगवान के विवाह की चर्चा चलाई, तब उन वीर प्रभु ने अत्यन्त नम्रतापूर्वक निवेदन किया, "हमारे पूर्व तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ हो चुके हैं। उन्होंने विवाह के बन्धन को इसलिये स्वीकार नहीं किया कि उनकी आयु केवल सौ वर्ष थी। उनके पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर नेमिनाथ ने भी ब्रह्मचर्य व्रत लेकर संसार के विषयों से अपने मन को विमुक्त बना स्व-पर कल्याण किया। मेरी आयु केवल ७२ वर्ष है। इस अल्प जीवन में विषयों की दासता का परित्याग कर मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहता हूँ। अब मैं कर्म शत्रुओं का नाश कर सच्चे सुख और शांति को प्राप्त करना चाहता हूँ; इसलिये आपके द्वारा प्रदर्शित राग के पथ पर प्रवृत्ति करने में मैं असमर्थ हूँ।" वे नारी जाति को माता, बहिन और सुता के सिवाय अन्य रूप में नहीं देखते थे। इससे वे बालब्रह्मचारी रहे।

भगवान की जन्म कुन्डली का परिशीलन कर ज्योतिष शास्त्रज्ञ भी कहते हैं, कि उनके विवाह का योग नहीं था। उनके विवाह की कल्पना आगम के विपरीत है।

वैराग्य जागरण :—वर्धमान भगवान की विषयों के प्रति विरक्ति विशेष रूप से वर्धमान हो रही थी और वे आध्यात्मिक चिंतन द्वारा अवचनागोचर सुख का भी आस्वादन कर रहे थे। धीरे-धीरे ३० वर्ष बीत गये। अगहन मास का आगमन हुआ। एक दिन उन प्रभु की दृष्टि

अपने पूर्वजन्मों की ओर चली गई, उससे उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि किस प्रकार वे इस विश्व के रंगमञ्च पर एक नट के समान नाना रूपों को धारण करते हुए कर्मों के कुचक्र में फँसे हुए अपने जीवन को व्यतीत कर चुके हैं।

उन्होंने अपने पिता और माता से अपना मनोगत इस प्रकार व्यक्त किया; "हे इस शरीर के जनक माता और पिता! आपको यह बात अच्छी तरह ज्ञात है, कि मेरी आत्मा आपके द्वारा उत्पन्न नहीं हुई—"अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो"। अब मेरी आत्मा में परम विज्ञान रूपी ज्योति प्रकाशित हुई है, इसलिए वह अपने अनादि पिता आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहती है,—"अयमात्मा अद्योद्भिन्न-ज्ञान-ज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादि-जनकमुपसर्पति।" इसलिए मुझे आत्मकल्याण के क्षेत्र में जाते हुए आप विघ्नकारी न हो, अपना आशीर्वाद दीजिये, जिससे मैं तपश्चर्या द्वारा कर्म-चक्र का क्षय करके आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त कर भगवती अहिंसा की पुण्य धारा द्वारा विश्व की शांति के पथ में लगाऊं।" माता पिता का मोहजाल सुदृढ़ निश्चय वाले महावीर की विचारधारा में तनिक भी परिवर्तन नहीं कर सका। भगवान की तर्कमयी परिशुद्ध वाणी द्वारा सभी का मोहान्धकार दूर हुआ।

दीक्षा :—वह मङ्गल दिवस अगहन वदी दशमी का था, जब संध्या के समय उन्होंने सर्वपरिग्रह का परित्याग कर दिगम्बर दीक्षा ली। पहिले वे पूर्ण रत्नत्रय की साधना हेतु चन्द्रप्रभा पालकी पर बैठकर तपोवन में गये थे।

आध्यात्मिक साधना के अंतस्तत्व से पूर्णतया अपरिचित व्यक्ति ऐसे त्याग का मूल्यांकन न कर उस वृत्ति को उत्तरदायी श्रमशील जीवन से विमुख होना (escapist) मानते हैं। उन लोगों की तत्वशून्य दृष्टि में कोल्हू के बैल की तरह निरन्तर जुता हुआ जीवन कर्मण्यता का प्रतीक माना जाता है। तत्त्वज्ञ व्यक्ति की दृष्टि दूसरी है।

इस सम्बन्ध में 'योगि भक्ति' का पूज्यपाद महर्षि का यह कथन महत्वपूर्ण है, "जन्म, जरा, महारोग, मृत्यु, व्यथा एवं शोक सहस्त्र से प्रदीप्त, दुस्सह-नरक में पतन से अत्यन्त पीड़ित-बुद्धि प्रतिबुद्ध चित्तवाले मुनीश्वरों ने जीवन को जलबिन्दु के समान चपल, जगत् की विभूति को विद्युत् तथा मेघ के सदृश नश्वर जाना और इस विश्व की भी वही स्थिति समझी; अतः श्रेष्ठ शांति की उपलब्धि हेतु उन मुनीन्द्रों ने तपोवन का आश्रय लिया, जिससे आत्मतत्व की उपलब्धि हो।" इस अध्यात्मतत्त्व की महत्ता का मूल्यांकन करते हुए विवेकानन्द ने लिखा है, "समस्त दुःखों को सदा के लिए दूर करने का साधन आध्यात्मिक ज्ञान है। उसके द्वारा इच्छा का प्रवाह अवरुद्ध किया जा सकता है। वस्तुतः अध्यात्मज्ञान ही जीवन के समस्त कार्यों की आधारशिला है। शारीरिक भलाई निम्नतम भलाई है, क्योंकि इसके द्वारा आवश्यकताओं की निरंतर पूर्ति नहीं होती। भूख लगने पर जो क्लेश होता है, वह भोजन खा लेने के बाद नहीं होता है, परन्तु भूख फिर भी लगती है। दुःखों का अंत तभी हो सकता है, जबकि ऐसा संतोष हो कि पुनः किसी बात की जरूरत ही नहीं पड़े। जिस भलाई से हमें आध्यामिक शक्ति उपलब्ध होती है निश्चय ही वह महान भलाई है।"—[सफलता का रहस्य पृष्ठ ४१-४२]

दिगम्बर मुद्रा को धारण कर ज्ञातृवन में ध्यान करने वाले भगवान महावीर ने मोहनीय कर्म के विरुद्ध अपना युद्ध छेड़ दिया। अब वे मोह शत्रु के विजय सम्बन्धी उद्योग में महान सुभट के रूप में लग गए हैं। उन्होंने अहिंसा महाव्रत (पाणादिवादादोवेरमणं) सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत को स्वीकार किया है। वस्त्रादि धारण करने पर आत्मनिर्मलता नहीं रहती और उसके निमित्त से जीवों का घात भी हुआ करता है। इस कारण भगवान ने दिगम्बर मुद्रा धारण की। वह स्वाधीनतापूर्ण उज्ज्वल अवस्था है। उसका महत्व योगीजन स्वीकार करते हैं।

दिगम्बरत्व—एक बार कुछ शिष्य ईसा के समीप आकर पूछने लगे, "स्वर्ग के राज्य में सबसे महान कौन है ?" ईसा ने एक शिशु को अपने समीप बुलाया। उसे बुलाकर ईसा ने उन शिष्यों के मध्य में उपस्थित कर दिया [मैथ्यू]*

वास्तव में यदि मानव जीवन में बाल-सुलभ सरलता, प्रेम, मधुरता, निष्कपटता, अहंकार हीनता, अद्वेषपना, मैत्री-भाव आदि गुण प्रतिष्ठित हो जाएँ, तो जीवन में अपूर्व मधुरता और सरसता की पुण्य ज्योति जग जाय। महाकवि रवींद्र बाबू शिशु के अंतः सौंदर्य का सूक्ष्मता से दर्शन कर लिखते हैं, § "अरे प्रसन्न-शिशु ! यह तेरा पालना इस समय तेरे लिये बहुत बड़ा है, किन्तु बेटा ! जब तू बड़ा हो जायेगा, तब यह सीमातीत संपूर्ण विश्व तुझे लघु प्रतीत होगा," क्योंकि वयस्क बनने पर तृष्णा और लालसा के बढ़ जाने से आकांक्षाओं में कल्पनातीत वृद्धि हो जायेगी।

बाल सुलभ पवित्रता की अवस्थिति में दिगम्बरपना बुरा नहीं लगता। विकारों के उत्पन्न होने पर मनुष्य उस स्वाभाविक पथ का परित्याग करने को बाध्य होता है। यशस्तिलक में कहा है :—
"नग्नत्वं सहजं लोके। विकारो वस्त्रवेष्टनम्" (आश्वास—५)

विश्व के सभी चिन्तकों, दार्शनिकों, सन्तों एवं महापुरुषों ने समस्त परिग्रह को आत्म विकास तथा ईश्वरत्व की उपलब्धि में महान विघ्नकारी तत्व स्वीकार किया है। ईसाई धर्मग्रंथ में कहा है,

* "The disciples came to Jesus, saying, "Who is the greatest in the kingdom of heaven ?" And calling to him a child, he put in the midst of them".

—Matthew 18 : 1-2

§ "Happy child, the cradle is still to thee a vast space, but when thou art a man the boundless world will be too small for thee,"

—Tagore

"दुनियां की प्रीति का अर्थ ईश्वर से शत्रुता है। जो भी जगत् के प्रति मित्रता का भाव रखेगा, वह ईश्वर का शत्रु है।"* यथार्थ में परिग्रह के सम्पर्क में रहने वाला व्यक्ति वीतरागभावपूर्ण निर्मल मनः स्थिति को कभी भी नहीं पा सकता है। आत्म-निर्मलता की बातें चाहे जितनी कर लीजिये, किन्तु परिग्रह का तनिक भी सम्पर्क आत्मा को मोह के कुचक्र में फँसा देता है।

कवि मिल्टन ने लिखा है, "प्रारम्भ में बाबा आदम सपरिवार वस्त्ररहित थे। उस समय उनका जीवन अत्यन्त सुखी था। किन्तु जबसे उनके मन में लज्जा ने प्रवेश पाया, तब से वह आनन्द अतीत की वस्तु बन गया। सरलता और परिपूर्ण जीवन की निर्दोष वृत्ति चली गई।" कवि के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं।

And banished from man's life his happiest life,
Simplicity and spotless innocence !

—[Paradise Lost, Book IV]

एक मुस्लिम सूफी कवि की यह वाणी कितनी मार्मिक और अनुभवपूर्ण है :—

है नज़र धोबी पै जामा-पोश की।
है तजल्ली ज़ेवरे उरियातनी ॥

वस्त्रधारी का ध्यान धोबी की ओर जाता है। दिगम्बर व्यक्ति दिव्य आभूषण से अलंकृत रहता है।

वैदिक पुरातन साहित्य में जितेन्द्रिय महापुरुषों की दिगंबर अवस्था को अत्यन्त पूज्यपना प्रदान किया गया है। वैदिक धर्म द्वारा पूज्य शुकदेव मुनि दिगम्बर थे। जब वे राजा परीक्षित की राजसभा में आए थे, तब उपस्थित समस्त जनता तथा महान साधु उनके सन्मान में खड़े हो गए थे। उपरोक्त कथन श्रीमद्भागवत ने आया है। उपनिषदों में दिगंबरत्व को

* "The friendship of the world is enmity with God Whosoever therefore will be a friend of world is the enemy of God"

—James

अंतः पवित्रता का केन्द्र स्वीकार किया गया है। वहां भगवान ऋषभदेव को दिगंबर कहा है*। ग्रंथों तथा शिलालेखों से ज्ञात होता है कि ईसा पूर्वकाल में दिगम्बर ऋषिगण राष्ट्र में सविनय पूजे जाते थे। डा० वेबर ने ऋग्वेद में दिगम्बर साधुओं का वर्णन स्वीकार किया है। "मुनयो वातरशनाः" आदि मंत्र दिगम्बरत्व को सूचित करते हैं (मण्डल १०-२-१३६-२) ×

अप्रतिम शान्ति और परिपूर्ण आत्मविकास की उपलब्धि हेतु महावीर ने जो दिगम्बर मुद्रा स्वीकार की थी, उसका औचित्य उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से सहज ही अवगत हो जाता है। अनुभव के स्तर पर भी विचारक व्यक्ति इस सत्य को स्वीकार करने में संकोच नहीं करेगा, कि परिग्रह की न्यूनता होने पर आध्यात्मिक दृष्टि विशेष रूप से परिपुष्ट हो विकसित हुआ करती है। लोभ तथा परिग्रह पिशाच सच्चे आत्म-जागरण के यथार्थ में जानी-दुश्मन—प्राणघातक हैं।

निर्वाणभक्ति में पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि महाश्रमण भगवान ने महान उग्र तपश्चर्या के काल में ग्राम, पुर, खेट मटंब, कर्वट आदि स्थानों में विहार करते हुए द्वादश वर्ष व्यतीत किए। वे प्रभु सदा धर्म ध्यान और शुभोपयोग द्वारा अपना काल व्यतीत करते थे। गुणभद्राचार्य

* "At the time of Alexander, the Great's raid across the Indus (327-326 B. C.) the Digambaras were still, numerous enough to attract the notice of the Greeks, who called them Gymnosophists—"Naked philosophers" a most appropriate name—(Phil. of India by Dr. Zimmer P. 210). "In ancient times the Jain monks went about completely naked" (In P. 210).

× महाभारत के आदि पर्व (अ. ३-१२६ पृ. ५७) में 'नग्न क्षपणकं'— दिगम्बर साधु का उल्लेख है। इन कथनों से वह धारणा भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध होती है, जिसमें दिगम्बर संप्रदाय का जन्म चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् कहा जाता है।

ने कहा है, "धर्म्यध्यानं विविक्तस्थो ध्यायन् दशविधं मुहुः (७४-३३०) एकान्त में विराजमान होकर वे वीर भगवान बारंबार दशविध धर्म ध्यान का चिन्तन करते थे। द्वादश प्रकार की अनुप्रेक्षाओं का भी सदा चिन्तवन करते थे। बहिर्दृष्टि व्यक्ति इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता, कि वे भगवान आत्मा के विकारों के क्षय कार्य में कितने अधिक व्यस्त थे। निर्मल ध्यान अर्थात् समाधि रूपी चक्र के प्रहार से मोहनीय कर्म के चक्र का ध्वंस होता है, इससे वे प्रभु आत्म-ध्यान के साथ विविध आत्म-निर्मलता सम्पादक कार्यों में सावधानी पूर्वक प्रवृत्त थे। अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतना महान आत्मबली का कार्य है। विषयासक्त तथा विकारी भाववाला व्यक्ति दीन बनता हुआ मोह का दास होता है।

एक बार महावीर भगवान उज्जयिनी आए। उन्होंने वहाँ के अतिमुक्तक नाम के श्मशान में प्रतिमायोग रूप तप को धारण किया। वहाँ पर निवास करने वाले रुद्र ने रुद्रतम रूप धारण कर प्रभु के चित्त में भय उत्पन्न कर उन्हें ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न किया। बाल्य जीवन में जो वर्धमान अद्भुत धैर्य का परिचय दे संगम देव के द्वारा महावीर शब्द से पूजे गए थे, अब महायोगी उन महावीर को कौन विचलित कर सकता है? उपसर्ग की इस वेला में भी वे भगवान अविचल धैर्य-मूर्ति रहे आए। इससे प्रभावित हो रुद्र ने सौम्यता धारण कर उन तपोमूर्ति की स्तुति करते हुए उन्हें 'महति-महावीर' कहा। "महति-महावीराख्यां कृत्वा विविधस्तुती... अमत्सरः अगात्" । (७४-३३६)

महावीर भगवान अपनी आध्यात्मिक साधना में बड़े वेग से आगे बढ़ रहे थे। उनके दिव्य प्रभाव से जन्म-विरोधी जीवों में मैत्री की भावना उत्पन्न हो जाती थी। उनका जीवन अनेक सिद्धियों का केन्द्र बन गया था; किन्तु वे उन चमत्कारों से पूर्णतया विमुख थे। उनका ध्यान सम्पूर्ण विभाव तथा विकार का परित्याग कर स्वाभाविक अवस्थापूर्ण सच्ची स्वाधीनता की उपलब्धि की ओर संलग्न था। वे बड़ी सावधानी

के साथ अपनी आत्मा को मोह की सैन्य के प्रहार से बचाते हुए मोहक्षय के क्षेत्र में प्रगतिशील हो रहे थे। उनके श्रेष्ठ योग, महान तप और तेजपुञ्ज जीवन की आंतरिक महत्ता पर गंभीरतापूर्वक ध्यान देने पर साधारण ग्रामीण, दीन मनुष्यों आदि द्वारा उन पर किए गए उपसर्गों अथवा अत्याचारों की कथाएं मनोविज्ञान से बाधित कल्पना मात्र हैं। उन कथाओं का वास्तविकता से कोई भी सम्बन्ध नहीं दिखाई पड़ता।

कैवल्य ज्योति :—भगवान की द्वादशविध घोर तपश्चर्या के द्वादश वर्ष पूर्ण हो रहे थे। वैशाख सुदी दशमी की लोकोत्तर और पावन बेला समीप आ गई। भगवान अब जृम्भक ग्राम के निकट आ गये, जिसके समीप ऋजुकूला नदी बह रही थी। उत्तरपुराण में लिखा है, कि "वे जगद्बन्धु भगवान बारह वर्ष तपश्चर्या को व्यतीत कर जृम्भिका गांव के समीप ऋजुकूला नदी के किनारे मनोहर नाम के वन में महारत्न शिला पर प्रतिमा योग धारणकर विराजमान थे। वैशाख शुक्ल दशमी के दिन सन्ध्या समय हस्त और उत्तर नक्षत्र के मध्यभाग में चन्द्रमा के आ जाने पर वे प्रभु क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो शुक्ल-ध्यान में विराजमान हो गए"।

एकत्ववितर्क अवीचार नाम के शुक्ल-ध्यान का आश्रय ले उन वीतराग प्रभु ने मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने से शक्तिहीन हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय रूप घातिया कर्मों का क्षय किया। तत्काल वे पुरुषोत्तम अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख के स्वामी हो गए और दस जन्मातिशय, दस केवलज्ञानातिशय और चतुर्दश देवरचित-अतिशय एवं अष्टप्रातिहार्य रूप छियालीस गुणों के अधीश्वर बन गये। तीर्थङ्कर प्रकृति का इस कैवल्य अवस्था में उदय हो गया। अब वे सर्वज्ञ अर्हन्त हो गए।

* बौद्ध ग्रंथ मज्झिमनिकाय में भगवान महावीर की सर्वज्ञता तथा सर्वदर्शीपने की चर्चा आई है। उस पर बुद्ध कहते हैं "तं च पन अम्हाकं रुचति" यह कथन हमें प्रिय लगता है। यदि बुद्ध महावीर नातपुत्त की सर्वज्ञता से अपरिचित होते, तो वे अवश्य उसके विरुद्ध अपना मत व्यक्त करने में तनिक भी संकोच न करते।

बुद्धदेव उस सर्वज्ञता की आकांक्षा करते थे, क्योंकि बौद्ध भिक्षु नागसेन राजा मिलिन्द से कहते हैं कि "बुद्ध का ज्ञान सदा नहीं रहता। जिस समय बुद्ध किसी बात का विचार करते थे, तब उस पदार्थ की ओर मनोवृत्ति जाने से वे उसे जानते थे। उनकी सर्वज्ञता सार्वकालिक नहीं थी।" अतः बुद्ध नातपुत्त की अपूर्व सर्वज्ञता के प्रति ममता युक्त थे।

सुरेन्द्र के आदेश से कुवेर ने अद्भुत कौशल प्रदर्शित करते हुए त्रिभुवन को विस्मयप्रद एक योजन विस्तारयुक्त समवशरण की रचना भी कर दी; किन्तु श्रमणशिरोमणि गणधररूप निमित्त-कारण का अभाव होने से छियासठ दिन पर्यन्त उन वर्धमान भगवान की दिव्यध्वनि भव्य जीवों के कर्णगोचर न हो पाई।

भगवान का समवशरण ऋजुकूला के कूल से चलकर राजगिरी के निकटवर्ती विपुलाचल पर्वत पर आ गया। कुशल सुरराज के सत्प्रयत्न से गौतम ग्राम का निवासी गौतम गोत्र मे उत्पन्न इन्द्रभूति ब्राह्मण भगवान के समीप पहुँचा। मानस्तम्भ के दर्शन से गौतम विप्रराज का अहंकार दूर हो गया। उसके अन्तःकरण में वर्धमान भगवान के प्रति भक्ति के भाव उत्पन्न हुए। इन्द्रभूति गौतम ने वर्धमान स्वामी को प्रणाम

---

* Venerable Nagasena was the Buddha Ommiscient ? Yes, O king, he was. But the insight of knowledge was not always and continuously present with him. The Ommioscience of the Blessed one was dependent on reflection. But if he did reflect he knew whatevar he wanted to know ..(Sacred books of the East, Vol XXXV P. 154. —Milinda-Panha.

कर दिगम्बर मुद्रा धारण की। भावों की विशुद्धता के फलस्वरूप इन्द्रभूति विप्रराज सप्तऋद्धि समलंकृत महर्षि बन गए। अन्तरङ्ग सामग्री तो पहिले से ही थी; गौतमगणधर रूप निमित्त कारण मिल जाने से दिव्यध्वनि के लिए सामग्री परिपूर्ण हो गई।

दिव्य देशना—श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के मंगल प्रभात में मेघध्वनि का अनुकरण करती हुई भगवान की दिव्यध्वनि प्रगट हुई। गौतम स्वामी वर्धमान भगवान के प्रथम गणधर हुए। उनके सिवाय उनके दस गणधर रूप मुख्य शिष्य और थे।

उनके गणधरों में सातवें गणधर का नाम मौर्यपुत्र था—'मौर्यपुत्रस्तु सप्तमः'। उत्तरपुराण में 'सुधर्म-मौर्यौ' (७४–७३) शब्द द्वारा मौर्य नाम के गणधर का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि ईसा से ५५७ वर्ष पूर्व मौर्य नामके महापुरुष गणधर हुए हैं। श्रमण-धर्म की दीक्षा शुद्धजातीय व्यक्ति को ही दी जाती है; अतः चंद्रगुप्त मौर्य को मुरा नाईन से प्रसूत बताकर चंद्रगुप्त से मौर्य वंश का उद्भव बताने का कतिपय अन्य ग्रंथकारों का कथन असम्यक् है। बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र और पौत्र अर्थात् बिन्दुसार और अशोक को क्षत्रिय बताया है। (पोलीटिकल हिस्ट्री, राय चौधरी रचित पृ० ११७)

भगवान महावीर प्रभु सर्वज्ञ हो गए थे, क्योंकि उनकी आत्मा केवलज्ञान रूप परंज्योति की स्वामी हो गई थी। वे 'धम्मतित्थयरा' धर्मतीर्थ के प्रवर्तक कहे गए हैं। उन्होंने बताया, कि 'वत्थुसहावो धम्मो'—वस्तु का स्वभाव धर्म है। जल का स्वभाव शीतलता है। इसी प्रकार क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य आत्मा के धर्म हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारी परिणाम आत्मा के निज स्वभाव नहीं हैं। "यः संसार-दुःखतः सत्वान् उत्तमे सुखे धरति सः धर्मः"—जो संसार के दुःखों से बचाकर जीवों को श्रेष्ठ सुख में धारण करता है, वह धर्म है। उस श्रेष्ठ एवं अविनाशी

सुख की प्राप्ति परभाव तथा पर पदार्थों का परित्याग करने पर होती है। "आत्मरतस्य आत्मसंतुष्टस्य आत्मतृप्तस्य वाचामगोचरं सौख्यं भवति"– आत्म स्वभाव में निमग्न, आत्मा में संतोष धारण करने वाले, आत्मतृप्त व्यक्ति को वाणी के अगोचर आनन्द प्राप्त होता है। मोह की मदिरा को पीने के कारण यह जीव आत्म सुख को भूलकर बाह्य पदार्थों में सुख खोजता हुआ दुःख पाता है: जैसे श्वान शुष्क अस्थि को चबाता है और अपने मुख से बहने वाली रक्त धारा का आस्वादन कर वह सुख की कल्पना करता हुआ अन्त में मुख के व्रणों के कारण व्यथित होता है। इस जीव की भयंकर भूल यही है, कि यह शरीर में आत्म-बुद्धि धारण कर बाह्य वस्तुओं के प्रति आत्मीयता धारण करता है और उनका अपने प्रतिकूल परिणमन होने पर यह खेद को प्राप्त होता है। इस जीव के संसार में परिभ्रमण का कारण अचिंत्य सामर्थ्यसंपन्न अपने आत्मस्वरूप को नहीं जाना है।+ अतः आत्म परिचय तथा जीवन शोधन आवश्यक हैं।

यह बात मनन करने योग्य है :—

देहान्तरगतेर्बीजं देहेस्मिन् आत्मभावना।
बीजं विदेहनिष्पत्तेः आत्मन्येवात्म-भावना॥

इस जीव के देहान्तर धारण का कारण इस शरीर में आत्मा की भावना करना है। देह रहित अर्थात् विदेह अवस्था का कारण आत्मा में आत्मा की भावना है। अनादिकालीन अविद्या के कारण यह कनक, कामिनी, गृह, आदि बाह्य वस्तुओं को बकरे की भांति मेरा-मेरा कहता हुआ अन्त मे काल रूप भेड़िया का ग्रास बनता है।

+ सच्चा सुधार आत्म निर्मलता में निहित है। अमेरिकन दार्शनिक इमरसन का कथन है, "सुधार भीतर से ही करना पड़ेगा। अपने प्रति सच्चा रहने पर कोई भी मार्ग मानव के लिए असत्य नहीं हो सकता। हमें पूर्णतः आत्म शक्ति के सहारे रहना है।"

बुद्धिमान व्यक्ति को यह सोचना चाहिए :—

अरे जीव भववन विषैं, तेरा कौन सहाय।
कालसिंह पकरे तुझे तब को लेत बचाय ॥

अपने संबंध में यह विचार भी आवश्यक है—

नित्य आयु तेरी झरै, धन गैरे मिल खाय।
तू तो सोता हो रहा, हात झुलाता जाय ॥

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर तथा मोक्ष ये सप्त तत्व हैं। चैतन्य अर्थात् ज्ञान-दर्शन गुण युक्त आत्मा ही जीव है। उससे रहित ज्ञानशून्य अजीव है। जीव के रागादि भावों का निमित्त पाकर जड़ पुद्गल कर्म रूपता धारण करते हैं। * उन कर्मों के निमित्त से जीव के रागादि भाव होते हैं। जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; उनमें उपादान-उपादेय संबंध नहीं है। मिथ्यात्व, राग, द्वेषादि के कारण आत्मा में विकार उत्पन्न करने वाले कर्मों का आगमन होता है। कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहा है। आत्मा और कर्मों का परस्पर में बंध होकर उनमें बंध्य-बधक भाव का हो जाना बंध है। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा चारित्र के द्वारा उन कर्मों का आगमन रुकता है, इसे संवर कहा गया है। तपश्चर्या और आत्मध्यान द्वारा कर्मों को धीरे-धीरे आत्मा से पृथक् करना निर्जरा है तथा कर्मों का आत्मा से पूर्णतया पृथक्करण मोक्ष है। बुद्धिमान व्यक्ति

---

* जैन धर्म के कर्म सिद्धान्त पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर डा० जैकोबी कहते हैं, "The theory of Karma is the Key-stone of the Jain system." "कर्म सिद्धान्त जैन दर्शन का केन्द्र स्थल है।" अपने कथन को संयुक्तिक समझाते हुए वे कहते हैं,—"The Karma theory of the Jains is an original and integral part of their system and that Jainism is considerably order than the oligin of Buddhism" (Studies in Jainism P. 24, 39).

का कर्तव्य है कि संवर और निर्जरा के द्वारा† आस्रव और बंध से बचकर मोक्ष को प्राप्त करे।

प्रत्येक भव्य प्राणी सम्यग्दर्शन (आत्म श्रद्धा) सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के द्वारा मोह शत्रु का क्षय करके सिद्ध परमात्मा बन सकता है। अन्य संप्रदाय में उन्हें 'निर्गुण ब्रह्म' कहते हैं। अपने को ब्रह्म कहने मात्र से यह आत्मा मोह के भयंकर जाल से नहीं मुक्त होता है। जब तक अहंकार और ममकार के महारोग से पिण्ड नहीं छूटता है, तब तक यह सच्ची स्व की अधीनता को नहीं पाता है। आर्थिक, राजनैतिक आदि स्वाधीनताओं से आध्यात्मिक स्वाधीनता भिन्न है। राजनैतिक आदि स्वाधीनता वाला व्यक्ति मोहनीय कर्म के क्रीतदास तुल्य आचरण करता हुआ सदा बंधन के जाल में अपने को जकड़ा करता है।

तत्वचिंतक हृदय में सोचता है :—

हे आत्मन्! तू ही कर्मों का बंधन करता है। उसके फल समूह का अनुभव करने वाला तू ही है। तू ही उन कर्मों का क्षय करता है। इस प्रकार कर्मक्षय रूप मुक्ति तेरे हाथ में है, उसके लिये क्यों नहीं चेष्टा करता है?

भगवान ने यह भी कहा था—

'कालक्षेपो न कर्तव्यः'—आत्मन्! विषयों की आराधना में अपने दुर्लभ नरभव को नष्ट मत कर, क्योंकि "आयुः क्षीणं दिने-दिने"—तेरी आयु प्रतिदिन घटती जा रही है। तू यह मत सोच कि मेरी स्थिति

† आस्रव आदि शब्द बौद्धों के यहां प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु उनका यौगिक (literal) अर्थ में बौद्धों ने प्रयोग नहीं किया है। डा० जेकोबी ने यह महत्व शोध की है —"The Buddhits have borrowed from it (Jainism) the most Significant term 'asrava'–"बौद्धों ने जैन धर्म से 'आस्रव' शब्द ग्रहण किया है।" (Ibid P 39) इन शब्दों के आधार पर उक्त जर्मन विद्वान जैनधर्म की विशेषता बताते हुए उसे बुद्धधर्म से पूर्व का मानते हैं।

पर सर्वभक्षी यमराज करुणाभाव धारण करेगा। यम के भण्डार में करुणा शब्द ही नहीं है—'यमस्य करुणा नास्ति'। यम के संकट से छूटने के लिए संयम का शरण ग्रहण करने में क्षण मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। आत्मदर्शन और आत्मज्ञान होने पर भी असंयमी निर्वाण को नहीं प्राप्त करता है। 'यम का नाशक संयम' है।

बाह्य रूप में संयम को भूलनेवाला प्रमादी आध्यात्मिक निर्मलता नहीं प्राप्त करता है; अतः स्वयं को बाह्य और अन्तरंग निर्मलता का संगम स्थल बनाना विवेकी व्यक्ति का परम धर्म है।

न च बाह्य-तपोहीनमभ्यन्तरतपो भवेत्।
तंडुलस्यैव विक्लित्तिर्नहि वन्ह्यादिकं विना॥

बाह्य तप शून्य अंतरंग तप नहीं होता है। अग्नि आदि बाह्य सामग्री के अभाव में तंदुल का परिपाक नहीं होता है।

प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य को मद्य, मांस, मधु, स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी परस्त्री सेवन त्याग के साथ धनादि परिग्रह को मर्यादित करना चाहिये। इन्हें गृहस्थ के मूलगुण कहा गया है। इस बाह्य आचार द्वारा अंतरंग में राग द्वेषादि विकार दूर होते हैं। बाह्य आचार साधन है। अन्तरंग में निर्मलता साध्य है। 'रागद्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः' मुनिजन राग, द्वेषादि की निवृत्ति के लिए द्रव्य संयम रूप चारित्र को स्वीकार करते हैं।

यह समझ भ्रांतिपूर्ण है, कि राग द्वेषादि का त्याग साधन है और द्रव्य चारित्र साध्य है। अतः सर्वप्रथम विषय भोगों का त्याग आवश्यक है। जितनी शक्ति हो उतना त्याग करो और सर्वसंग परित्याग को लक्ष्य बना अपरिग्रही श्रमण के चरणों के अनुरागी बनो।

दो मुख सुई न सीवे कंथा दो मुख पथी चलै न पंथा।
यों दो काज न होय सयाने विषय भोग अरु मोख पयांने॥

त्याग का जीवन के विकास में बड़ा स्थान है। तत्वज्ञान सहित त्याग मोक्ष का कारण है, किन्तु तत्वज्ञान रहित भी त्याग दुर्गति की

विपदाओं से बचाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा सच्चे सुख की कल्पना जल मंथन द्वारा घृत की प्राप्ति सदृश बात है। आसक्ति को छोड़ना त्याग का प्रथम चरण है। भरतचक्रवर्ती ने क्षत्रिय नरेशों को उपदेश देते समय कहा था :—

त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः।
त्यागादिह यशोलाभः परत्राभ्युदयो महान ।। महापुराण ।।१२४-४२।।

त्याग ही श्रेष्ठ धर्म है। त्याग ही श्रेष्ठ तप है। त्याग से कीर्ति मिलती है तथा आगे महान अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

यह सुभाषित महत्वपूर्ण है :—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम।
अब जो नफरत हमने की वो बेकरार आने को है ।।

भगवान ने प्रत्येक गृहस्थ को विषय-भोगों के प्रति आसक्ति के त्याग का उपदेश दिया था, कारण आसक्ति में ही अधःपात के बीज विद्यमान हैं। कवि का यह कथन व्यक्ति को सुखी बनाने के साथ लोक-जीवन के सुख का हेतु भी है :—

दातव्यं भोक्तव्यं सति विभवे संचयो न कर्तव्यः।
पश्येह मधुकरीणां संचितमर्थं हरन्त्यन्ये ।।

वैभवपूर्ण स्थिति होने पर मुक्तहस्त हो सत्पात्रों को एवं करुणा-पात्रों को आहार, औषधि, ज्ञान तथा अभयदान दो और स्वयं भी पुण्योपार्जित संपत्ति का फल भोगो। कृपण बनकर केवल संचयशील नहीं बनना चाहिये। बेचारी भ्रमरी श्रम कर मधु का संचय करती है और उसके संचित मधु को लोग लूट लिया करते हैं। धनसंचय के लिए दीवाना बनने वाले और सर्व प्रकार के पापाचार में निमग्न रहने वालों को यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके समीप ही उनकी मौत रहा करती है। क्षण भर में आंखों के बन्द हो जाने पर वह व्यक्ति परलोक प्रयाण करता है और उसकी संचित संपत्ति आदि सामग्री यहां ही पड़ी रहती है। शायर का कहना ठीक है :—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस का पल की खबर नहीं ॥

भगवान ने गृहस्थ को दान, पूजा, तप और शील पालने की प्रेरणा की थी। उससे गृहस्थ की मनोकामना पूर्ण होने के साथ अशुभ का क्षय होता है :—

गौतम गणधर ने भगवान से महत्व की बात पूछी थी—

भगवन्! किस प्रकार चलना चाहिए? किस प्रकार खड़े रहना चाहिए? किस प्रकार बैठना चाहिए? किस प्रकार शयन करना चाहिए? किस प्रकार भोजन करना चाहिए? किस प्रकार संभाषण करना चाहिए? किस प्रकार पाप कर्म नहीं बँधता है?

भगवान ने उत्तर दिया :—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।
जदं भुंजेज भासेज एवं पावं ण बज्झई ॥

यत्न से चलना चाहिए, यत्नपूर्वक खड़ा रहना चाहिए, यत्न से बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिए, यत्नपूर्वक संभाषण करना चाहिए। इस प्रकार सावधानीपूर्वक आचरण करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता है।

अहिंसा की साधना—भगवान ने अहिंसा की साधना को सर्व-जीव हितंकर कहा था। यह गृहस्थ और श्रमण के भेद से दो प्रकार की है। गृहस्थ कृषि, वाणिज्य, राष्ट्रसंरक्षण आदि उत्तरदायित्वपूर्ण आवश्यक कार्यों के कारण पूर्णतया अहिंसा का पालन नहीं कर सकता, इसलिए उसके लिए अधिक से अधिक करुणाशील बनने के लिए प्रेरित करते हुए कम से कम इरादतन होने वाली अर्थात् (Intentional) संकल्पी हिंसा का परित्याग आवश्यक बताया है। जैन क्षत्रिय व्यक्तिगत जीवन में मद्यमांसादि का त्याग करते हुए लोक व्यवस्था के हेतु अपरिहार्य स्थिति में शस्त्र का भी प्रयोग करता है। अन्याय के दमन निमित्त समर्थ शासक भीषण रूप से दण्ड का प्रहार करते थे। जिनसेन स्वामी ने महापुराण में लिखा है–'प्रजाः दण्डधराभावे मात्स्यं न्यायं श्रयन्त्यमूः'।

(महापुराण १६-२५२) अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत ने कहा है "रणु चंगउ दीणपरिग्गहेण"—दीन रक्षणार्थ युद्ध उचित है। सच्चा पराक्रम शरणागत का संरक्षण है—"पोरिसु सरणाइय रक्खणेण।" क्षत्रिय का धर्म रक्षा करना है।

यदि दण्ड धारण में नरेश शैथिल्य दिखावे, तो प्रजा में 'मात्स्य-न्याय' (बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, इस प्रकार बलवान द्वारा निर्बलों का संहार होना मात्स्यन्याय है) की प्रवृत्ति होगी। कुशलगृहस्थ अनासक्ति पूर्वक कार्य करता है। वह अहिंसा की हृदय से आराधना करने के कारण अधिक मात्रा में दोष का संचय नहीं करता। भगवान महावीर की अहिंसा की चर्चा करते हुए स्व० भारतरत्न राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी ने वैशाली अहिंसा जैन शोधसंस्थान के शिलान्यास के समय ये महत्वपूर्ण शब्द कहे थे—"महावीर भगवान के सन्देश और उनके लौकिक जीवन के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का हमारे लिए ही नहीं समस्त संसार के लिए विशेष महत्व है। 'अहिंसा परमो धर्मः' का उनका सन्देश उनकी अनुभूति और तपश्चर्या का परिणाम था। महावीर के जीवन से मालूम होता है कि कठोर तपस्या करने बाद भी वे शुष्क तापसी अथवा प्राणियों के हित अहित से उदासीन नहीं हो गये थे। दूसरों के प्रति उनकी आत्मा स्नेहार्द्र और सहृदय रही। इसी सहानुभूतिपूर्ण स्वभाव के कारण जीवों के सुख-दुःख के बारे में उन्होंने गहराई से सोचा है और इस विषय में सोचते हुए ही वे वनस्पति के जीवों तक पहुँचे हैं। सूक्ष्म दृष्टि और बहुमूल्य अनुभव, जिसके आधार पर वे अहिंसा के आदर्श पर पहुँचे, असाधारण जिज्ञासा का ही विषय न रहकर वैज्ञानिक अध्ययन एवं अनुसंधान का विषय होना चाहिये* ।"

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो अहिंसा की विद्या को प्रदान करने वाले तीर्थङ्करों के चरणों में मस्तक झुके बिना न रहेगा।

* (Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa Calender 1955-1960 Page 97).

'जीवो जीवस्य भक्षणम्' "Survival of the fittest"—समर्थ को ही जीने का अधिकार है आदि विचारों के समक्ष असमर्थों को भी जीवित रहने का उचित अधिकार है यह दृष्टि युक्तिपूर्ण है। हमें जैसे जीवन प्रिय है, उसी प्रकार दूसरों को भी जीवन प्यारा है। इस प्रकार आत्मौपम्य की कल्पना ने अहिंसा की दृष्टि को जागृति प्रदान की। सुसंस्कृत और अत्यन्त विवेकी मानस ही अहिंसा की महत्ता को पूर्णतया हृदयंगम कर सकता है।

इस अहिंसा के विषय मे नोबल पुरस्कार विजेता महान् विद्वान् रोम्याँ रोलाँ ने ये शब्द कहे हैं§ :—

"जिन सन्तों ने हिंसा के मध्य अहिंसा सिद्धांत की खोज की व न्यूटन से अधिक बुद्धिमान तथा वेलिंगटन से बड़े योद्धा थे।" जो लोग विश्व में पशु-जगत् के जीवन का अध्ययन कर हिंसा के हेतु मनुष्य को प्रेरित करते हैं, उन्हें यह स्मरण रखना चाहिये, कि पशुओं की अपेक्षा विवेकी मानव का स्थान उच्च है; इसलिए उसे पशुओं के पदचिन्ह पर चलने की भूल से बचना चाहिये, क्योंकि वह विवेकहीन पशु नहीं है। अतः वह पशुता का पथ क्यों पकड़ता है? रोम्याँरोलाँ का यह कथन सत्य तथा विचारपूर्ण है --

"जिस प्रकार हिंसा पशुओं का धर्म है, उस प्रकार अहिंसा मनुष्यों का धर्म है।"*

यह जैन धर्म की अहिंसामयी देशना का प्रभाव था; कि जिससे 'प्रेयतत्त्व' का प्रेमीवर्ग पशु बलिदान के विचारशून्य पथ का परित्याग कर भगवती अहिंसा की आराधना में प्रवृत्त हुआ। भारत की विभूति तथा प्रकाण्ड वैदिक विद्वान लोकमान्य तिलक ने ये महत्वपूर्ण शब्द लिखे थे—"अहिंसा परमो धर्मः" इस उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर

---

§ "The Rishis, who discovered the Law of Non-violence in the midst of violence, were greater geniuses than Newton, greater warriors than Wellington."

* "Nonviolence is the law of our species as violence is the law of the brute." (Mahatma Gandhi P. 48)

चिरस्मरणीय छाप मारी है। पूर्वकाल में यज्ञ के लिए असंख्य पशुओं की हिंसा होती थी। इसके प्रमाण मेघदूत काव्य आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु इस घोर हिंसा का ब्राह्मणधर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैन धर्म के हिस्से में है।" इस अहिंसा परम धर्म के सम्बन्ध में ज्ञानार्णव का यह कथन स्मरणीय है :—

यत्किञ्चित् संसारे शरीरिणां दुःख-शोक-भयबीजम्।
दौर्भाग्यादि-समस्तं तद्हिन्सा-सम्भवं ज्ञेयम्॥

इस संसार में जीवों के दुःख, शोक एवं भय के बीज स्वरूप दुर्भाग्य आदि का जो दर्शन होता है, वह हिंसा से ही उत्पन्न समझना चाहिये। आज जिस भौतिक उन्नति के कारण वैज्ञानिक जगत् अहंकार युक्त हो परितोष की कल्पना करता है, वह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। प्राणघात के कुशल उपायों की वृद्धि एक प्रकार से यमराज का प्रतिनिधि बनाती है। 'यम' के आलय से निकालकर 'संयम' के मंदिर में जीव को सुरक्षित रखना अहिंसा की सामर्थ्य है। डा० इक़बाल ने वर्तमान हिंसात्मक विकास की व्यंग्यात्मक शैली में इन शब्दों में निन्दा की है —

जान ही लेने क हिकमत में तरक्की देखी।
मौत का रोकने वाला कोई पैदा न हुआ॥

अहिंसा की साधना के लिए हमें अपनी अधोमुखी वृत्तियों को ऊर्ध्वगामिनी बनाने का परिश्रम पूर्वक उद्योग करना होगा। आज विश्व के चिन्तक इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि वर्तमान के जगत को दुःख के दावानल से मुक्त करने का एकमात्र उपाय महाश्रमण महावीर की अहिंसा है। प्रकाण्ड चिंतक और वैदिक दार्शनिक डा० राधाकृष्णन की यह चेतावनी सारपूर्ण है, "यदि मानवता का विनाश से बचाना है और कल्याण के मार्ग पर चलाना है, तो भगवान महावीर के संदेश को और उनके बताए हुए मार्ग को ग्रहण किए बिना अन्य कोई रास्ता नहीं है।"

यथार्थ बात तो यह है, कि जितनी आत्मौपम्य की भावना तथा अहिंसापूर्ण आचरण की अभिवृद्धि होगी, उतनी ही सच्ची समृद्धि, शक्ति

और सुख की उपलब्धि होगी। भगवान महावीर के तत्त्वज्ञान का उदार भाव से अध्ययन तथा आचरण कल्याणदायी है। व्यक्तिगत लघु स्वार्थों से ऊंचा उठकर विश्व प्रेम और विश्व बंधुत्व की भूमि में पदार्पण करने वाली आत्मा महान बनकर मंगलमय संसार के निर्माण में योग दान कर सकेगी। हमारा प्रेम मानव समाज तथा पशु जगत् के प्रति आवश्यक है। सुसंस्कृत व्यक्ति अपने हार्दिक प्रेम की वर्षा प्राणी मात्र पर करता है। महारानी विक्टोरिया के ये शब्द बड़े महत्वपूर्ण एवं गंभीर हैं :—* "कोई भी सभ्यता तब तक पूर्ण नहीं होगी, जब तक कि वह अपनी उदारता तथा करुणा की परिधि में मूक तथा परित्राण रहित प्राणियों को सम्मिलित नहीं करती है।"

स्याद्वाद—इस अहिंसा का बौद्धिक स्तर पर उपयोग होने पर दार्शनिक मैत्री की स्थापना होती है। इसे स्याद्वाद या अनेकान्तवाद कहते हैं। इसके द्वारा विभिन्न विचारधाराओं के मध्य समन्वय की भावना उत्पन्न की जाती है। एक ही वस्तु विविध दृष्टियों से देखी जाने पर नाना रूप में प्रतिपादित की जाती है। जो व्यक्ति पिता की अपेक्षा पुत्र कहलाता है, वही पुत्र की अपेक्षा पिता भी कहलाता है। पितापना और पुत्रत्व जैसे विरोधी विशेषण भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से अबाधित तथा अनुभव सिद्ध हैं, उसी प्रकार वस्तु की नित्य मान्यता, अनित्य मान्यताओं आदि में द्रव्य तथा पर्याय दृष्टियों की अपेक्षा सत्य का दर्शन होता है। जहाँ मनुष्य एकान्तवादी बन स्वयं को बृहस्पति मानता हुआ दूसरे पक्ष को नितान्त असत्य मानने की जिद पकड़ता है, वहां वह अज्ञान के गड्ढे में गिर जाता है।

पदार्थ में अनन्त प्रकार की विशेषताएँ हैं। उनमें जिसका वर्णन होता है, वह मुख्य रहती है; शेष बातें गौण रूप हो जाती हैं। हम

---

* No Civilisation is complete which does not include the dumb and defenceless creatures within the sphere of charity and mercy. —Queen Victoria

अपनी सीमित शक्ति रहने से पूर्ण सत्य का दर्शन न करने के कारण उसके एक अंश को ही जान पाते हैं। भूल से हम अपने को ही सत्य का एक मात्र अधिकारी मान अन्य पक्ष को सर्वथा मिथ्या कहने का दुस्साहस करते हैं। हमें दूसरों की भी दृष्टि का सम्मान करना चाहिये। स्वर्गीय जवाहरलालजी नेहरू के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं। *"हमें यह स्वीकार करना चाहिए, कि सत्य विविधताओं से पूर्ण है तथा वह सत्य का दर्शन किसी एक वर्ग का ही विशेषाधिकार नहीं है।" (Bhartiya Vidya Bhavan Journal Bombay).

संखिया को जनसाधारण प्राणघातक जान उसे विष मानता है; किन्तु कुशल वैद्य उसे योग्यपद्धति द्वारा संशोधित करके उसके द्वारा प्राण रक्षण करता है। अतः कहना होगा कि एक दृष्टि से संखिया विष है, किन्तु कुशल वैद्य की दृष्टि से वह विष नहीं है। इससे सत्य का वर्णन विविध दृष्टियों से विविध रूप में होता है। जर्मन दार्शनिक हेगल (Hegel) ने भी इस स्याद्वाद विचार प्रणाली का समर्थन किया है। गांधी जी कहा करते थे, 'मुझे जैन धर्म का स्याद्वाद बड़ा प्रिय लगता है।' डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने इस समन्वय दृष्टि रूप सिद्धान्त के बारे में कहा था, "महावीर के जीवन से एक और तत्व हमें ग्रहण करना चाहिये, वह है उनकी समन्वय दृष्टि। अपने विचारों को उदार रख दूसरों को सहानुभूतिपूर्वक उनकी दृष्टि से समझने की क्षमता और अपने में मिलाने की शक्ति ही समन्वय दृष्टि है। महावीर की समन्वयात्मक दृष्टि भारतीय धर्म तथा दर्शन के लिये बहुत बड़ी देन है। इस सिद्धान्त की गहराई और इसके उच्च व्यवहारिक पहलू को हम महावीर के जीवन द्वारा समझ सकते हैं।"

राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने दिल्ली में महावीर जयंती पर दिए भाषण में कहा था, कि भारतीय संविधान में धर्मनिरपेक्षता की

* "We have to realise that truth is many-sided and that it is not the monopoly of any group—formation"—

(Secular) नीति निर्धारण में जैन धर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त मार्गदर्शक रहा है।

भगवान महावीर की दिव्यवाणी का सार यह है।

जीवोन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोस्ति तस्यैव विस्तरः॥

चैतन्यपुञ्ज जीव द्रव्य भिन्न है और चैतन्य शून्य जड़ पुद्गल (matter) भिन्न है; यह तत्व का सार है। इसके सिवाय जो कुछ अन्य निरुपण किया जाता है, वह उपरोक्त कथन को विस्तृत व्याख्या है। इस आत्मा को रत्नत्रय के द्वारा कर्मबन्धन से छुटाना परम कर्तव्य है।

अहिंसा की समाराधना मनुष्य को शक्ति (might), ज्योति (light) तथा आनन्द (delight) को प्रदान करती है। व्यक्ति तथा समष्टि का कल्याण अहिंसा की हृदय से आराधना है। उनकी करुणापूर्ण दृष्टि के कारण पुष्पदंत कवि ने उन्हें 'दया-वड्ढमाणं जिणं वड्ढमाणं'–दया से वर्धमान, जिनेश्वर वर्धमान रूप में स्मरण कर उनकी अभिवंदना की हैं।

भगवान महावीर ने कहा है, कि आत्मशक्ति को विकसित करते हुए साधारण मानव अहिंसा तथा अपरिग्रहत्व की परिपूर्ण साधना द्वारा परमात्मा बन सकता है। एक अंग्रेज ने महावीर भगवान के जीवन से प्रभावित हो कहा था*, "मुझे महावीर का जीवन इससे प्रिय लगता है, कि वह मानव को परमात्मा बनने की शिक्षा देता है। उसमें यह बात नहीं है कि महावीर की शिक्षा ईश्वर को

* I want to interpret Mahavira's life as rising from Manhood to God-hood' and not as from God-hood to super-God-hood. If that were so, I would not even touch Mahavira's life, as we are not God but men. Man is the greatest subject for man's study.'' (Anekanta 1944, August number).

और महान् ईश्वरत्व प्रदान करती है। यदि ऐसी बात न होती, तो मैं महावीर के जीवन चरित्र का स्पर्श भी नहीं करता, क्योंकि हम ईश्वर नहीं हैं, किन्तु मानव हैं। मनुष्य के अध्ययन के योग्य महान् विषय मानव ही है।"

उनकी पावन स्मृति में दीपमालिका का सुरम्य मंगल उत्सव मनाया जाता है। इस ग्रंथ के निर्माण में जिनेन्द्र की भक्ति तथा आराधना विशेष कारण रहें हैं, अतः उनके चरणों में हमारी सविनय प्रणामांजलि है।

इस पुस्तक के लेखनकार्य में चि० ऋषभकुमार दिवाकर एम. ए. ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया है। मुद्रण की व्यवस्था तथा सत् परामर्श प्रदान करने में हमारे अनुज डाक्टर सुशीलकुमार दिवाकर एम० ए०, बी० कॉम०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी० का महत्व पूर्ण योगदान रहा है। इस ग्रंथ के प्रकाशन में तीन हजार रुपयों की सहायता दानवीर, रायसाहेब सेठ चांदमल जी सरावगी गोहाटी (आसाम) के द्वारा प्राप्त हुई। अतः पूर्वोक्त सभी व्यक्ति धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है इस रचना द्वारा लोगों में अहिंसा तत्वज्ञान के प्रति समादर की सद्भावना वृद्धि गत होगी।

महावीर जयंती
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
११ अप्रेल, १९६८
दिवाकर सदन
सिवनी (म. प्र.)

सुमेरुचन्द्र दिवाकर

वनवासी पुरुरवा

विश्व का रंगमंच विचित्रताओं और विविधताओं का अपूर्व संगमस्थल है। अनन्त जीव अनादि से अगणित वेषों को धारण कर अपना अभिनय किया करते हैं। उन प्राणियों में कोई कोई ऐसे जीव रहते हैं, जो अपनी आत्मा को स्वावलम्बन के द्वारा समुन्नत बना अभिनेता का कार्य समाप्त कर सिद्ध भगवान की पूर्ण स्थिति को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाते हैं तथा संसृति के अद्भुत अभिनयों का अपनी कैवल्य ज्योति में दर्शन करते हैं। ऐसी ही प्रातः स्मरणीय एवं चिरवन्दनीय विभूतियों में तीर्थंकर महावीर हुए हैं। सुविकसित एवं सर्वांगीण सामर्थ्य-पुंज परम पुरुष बनने के पूर्व वे अनेक योनियों में परिभ्रमण करते थे। एक समय वे एक वनवासी भीषण वनचर पुरुरवा की पर्याय में थे।

इस सम्बन्ध में उत्तरपुराण में इस प्रकार प्रकाश डाला गया है। इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तर तट पर एक पुष्कलावती नाम का देश है। उसमें पुंडरीकिणी पुरी के मधुवन में एक "व्याधाधिप :"—भीलों का स्वामी रहता था।

पुरुरवाः प्रियास्यासीत् कालिकाख्यानुरागिणी ।
अनुरूपं विधत्ते हि वेधाः संगमंगिनाम् ॥ पर्व ७४—१६ ॥

भीलराज का नाम था पुरुरवा तथा उस पर अनुराग धारण करने वाली कालिका नाम की स्त्री थी। प्रायः कर्मरूपी विधाता जीवों का समागम एकसरीखा निर्माण करता है।

एक समय उस मधुवन में सागरसेन नाम के दिगम्बर मुनिराज मार्ग भूलजाने से इधर उधर भटक रहे थे। उन दिगम्बर मुनि को दूर से देखकर पुरुरवा को ऐसा प्रतीत हुआ कि वहाँ कोई हरिण है। उस मांस-लोलुपी भीलराज ने अपना धनुष-बाण तैयार करके उस

कल्पित हरिण को 'मारने का निश्चय ही किया था कि कालिका ने अपने पति को ऐसा करने से रोका। उसने अपने स्वामी से कहा:—

"वनदेवताश्चरंतीमे मात्रधी :"—ये वन के देवता विचरण कर रहे हैं। ये हरिण नहीं है। इनका घात करना ठीक नहीं है।

अपनी स्त्री की बात सुनकर पुरुरवा का हिंसक मन बदल गया। वह तत्काल मुनिराज के समीप पहुँचा। उन साधुराज की शान्त, वीतराग तथा प्रभावशाली छवि के दर्शन से पुरुरवा की आत्मा प्रभावित हुई।

गुणभद्र स्वामी ने लिखा है:—

> तदैव सुप्रसन्नात्मा समुपेत्य पुरुरवाः।
> प्रणम्य तद्वचः श्रुत्वा स शातः श्रद्धयाहितः॥ १९॥

वह भील हर्षित चित्त होकर उसी समय सागरसेन मुनिराज के पास पहुँचा। उसने उन साधुराज को प्रणाम किया। साधुराज ने उसके कल्याणार्थ मङ्गलमय उपदेश दिया। उसे सुनते ही उसका हिंसात्मक मन अत्यन्त शान्त हो गया तथा उसके चित्त मे श्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए।

मुनिराज ने उस भीलराज को भद्र परिणामी भव्य सोचकर उसके कल्याण हेतु कुछ व्रत देने का विचार किया, क्योंकि जीव को पतित अवस्था से उच्च दशा को प्राप्त कराना व्रत की ही सामर्थ्य है। प्रमादी तथा पापी पुरुष व्रत का तथा व्रती जीवन का निषेध करता हुआ कुगति का बंध करता है। सत्पुरुष सर्वदा व्रत धारण करने में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहते हैं। जैन ग्रन्थों के परिशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि जिस जीव की होनहार अच्छी रहती है, उसका मन उज्ज्वल कार्यों की ओर आकर्षित होता है। वह स्वयं श्रेष्ठ कार्यों में रुचि धारण करता है। भोगी तथा विलासी जीवन से विमुक्त हो वह सदाचार के पवित्र पथ पर चलने का उद्योग करता है। इस कलिकाल में ऐसे प्रमादी जीवों का सद्भाव पाया जाता है, जो अपने अव्रती जीवन पर गर्व

करते हुए दूसरों को भी सदाचार से विमुख बना अपना तथा दूसरों का सर्वनाश करते हैं।

आचार्य कहते हैं :—

अभीष्टं फलमाप्नोति व्रतवान् परजन्मनि ।
न व्रतादपरो बन्धुर्नाव्रतादपरो रिपुः ॥ १७४—पर्व ७६

व्रत धारण करने वाला जीव आगामी भव में अभीष्ट फल को प्राप्त करता है। व्रत से बढ़कर जीव का कोई दूसरा बन्धु नहीं है तथा व्रत रहित अवस्था से बढ़कर जीव का कोई शत्रु नहीं है।

गुणभद्र स्वामी की यह वाणी भी मार्मिक है :—

व्रतेन जायते सम्पन्नाव्रतं सम्पदेऽ भवत् ।
तस्मात्सम्पदमाकांक्षन्निःकांक्षः सव्रतोभवेत् ॥ १७८, ७६ उत्तर पुराण ॥

व्रत धारण करने से सम्पत्ति प्राप्त होती है। पाप परित्याग रूप व्रत से विमुख रहने पर सम्पत्ति नहीं मिलती है। इससे धन-वैभव की इच्छा करने वाले को आकांक्षा रहित व्रत धारण करना चाहिए। सागारधर्मामृत में लिखा है कि मनुष्य को जब तक कोई पदार्थ सेवन को न प्राप्त हो, तब तक भी उसका प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग करना उचित है, क्योंकि व्रत सहित कदाचित मृत्यु हो गई, तो वह आगामी भव में सुखी होगा।

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्ताना प्रवृत्तितः ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽ मुत्र सुखायते ॥ ७४—२ ॥ सा० ध०

अधिक कथन करने से क्या लाभ है, सुखार्थी व्यक्ति को पाप से विरक्त होना चाहिए। जीव हिंसा से पाप होता है। उसके द्वारा जीव दुःख पाते हैं।

आचार्य कहते हैं :—

किमत्र चित्रैर्बहुभिः प्रलापैः सुखार्थिभिः पापरतिर्विहेया ।
पापं पुनर्जीव-विहिंसनेन तन्मूलतो दुःखमवाप्नुवंति ॥ ८४-२ ॥

वरांग चरित्र में लिखा है कि वर्तमानकाल में जो जीव सुखी देखे जाते हैं, उन्होंने जन्मान्तर में अवश्य तप किया है, सत्पात्र दान दिया है, जिनेन्द्र की पूजा की है अथवा जीवों पर दया की है।

जन्मान्तरे तप्ततपः प्रभावात् ।
सत्पात्रदानाजिन-पूजनाच्च ॥
प्राणानुकंपोद्भव-भावनाया
जन्मन्यथास्मिन् सुखिनो भवंति ॥ २-८३ ॥

उन सागरसेन मुनिराज ने पुरुरवा की भावना तथा सर्व परिस्थिति पर विचार कर उसे "मद्यादि-त्रितय-त्यागलक्षणं व्रतं"-मद्य-मांस तथा मधु के त्यागरूप व्रत दिया। इस प्रसङ्ग में अनेक महत्वपूर्ण विचार उत्पन्न होते हैं, कारण क्रूरपरिणामी, महाशिकारी, मांसभक्षी पुरुरवा का अहिंसाव्रत की बीज रूप शिक्षा को अङ्गीकार करना एक महत्वपूर्ण घटना है। कालिका का भी महत्वास्पद स्थान है। यदि उसने अपने पति को इन्हीं गुरु सागरसेन मुनि के वध कार्य से विमुख न कराया होता, तो पुरुरवा का कितना न अधःपात होता! मुनिवध बहुत बड़ा दोष है, महा पाप है। मुनिवध का विचार मात्र ही श्रेणिक महाराज को नरक में गिरने से न बचा सका। जो लोग मनसा, वाचा, कर्मणा इन अहिंसा महाव्रती परम तपस्वी मुनियों को क्षति पहुँचाते हैं, या उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग देते हैं, उनकी क्या गति होगी, यह परमात्मा तो जानते ही हैं, किन्तु शास्त्र के प्रकाश में हम भी उनका निकृष्ट भविष्य सोच सकते हैं। महावीर तीर्थंकर के समीप पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त करने वाले राजा श्रेणिक के निम्नलिखित शब्द चिर-स्मरणीय हैं:—

कृतो मुनिवधानन्दस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया।
येनायुष्कर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति ॥ १-२४—महापुराण ॥

"मुझ मिथ्यादृष्टि ने मुनिराज के वध के उद्योग में आनन्द माना था, इस हिंसानन्द रौद्र ध्यान के कारण मुझे नरक गति में ले जाने वाला ऐसा आयुकर्म बंधा है, जो कभी भी नहीं छूटने वाला है।"

कर्मों का बंध बड़ा विचित्र है। भगवान महावीर प्रभु के समवशरण में प्रमुख प्रश्न कर्ता का पद प्राप्त करते हुए, तीर्थंकर प्रकृति का बंध करते हुए तथा क्षायिक सम्यक्त्वी होते हुए भी श्रेणिक का भाग्यचक्र नहीं बदला। यह सत्य है कि स्थिति बंध में न्यूनता हुई, किन्तु नरक योनि में पतन नहीं छूटा।

इस निकृष्ट पंचमकाल में व्रत पालना कितना कठिन है, तथा आभ्यन्तर और बाह्य परिस्थितियाँ कितनी प्रतिकूल हैं, इसका विचार कर महाव्रती दिगम्बर साधु की मुद्रा धारण करने वालों का दर्शन वास्तव में अद्भुत बात है। चक्रवर्ती भरतेश्वर के स्वप्नों का फल बताते हुए आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ भगवान ने कहा था, कि पंचमकाल में जो दिगम्बर मुनि होंगे, उनका आचार परिपूर्ण नहीं होगा। जिस काल में जैन कुल में उत्पन्न लोग भी अष्टमूल गुणों को पालन करने से विमुख हों, उस युग में मुनि पदवी को धारण करने वाली विभूतियों का दर्शन यथार्थ में महान् आश्चर्य की वस्तु है।

महापुराण में कहा है :—

करीन्द्रभार–निर्भुग्न–पृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात् ।
कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढुं नालं दुष्षमसाधवः ॥ ४१–६६ पर्व
मूलोत्तर–गुणेष्वात्तसंगराः केचनालसाः ।
भंक्ष्यन्ते मूलतः केचित्तेषु यास्यन्ति मन्दताम् ॥ ६७ ॥

गजराज के उठाने योग्य महान भार के धारण करने से जिसकी पीठ झुक गई है, ऐसे घोड़े के देखने से यह सूचित होता है, कि इस दुष्षम पंचमकाल के साधु तपश्चरण के समस्त गुणों को धारण करने में समर्थ नहीं होंगे।

कोई मूलगुण तथा उत्तर गुणों के पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करने में आलसी होंगे। कोई-कोई उन्हें मूल से ही भङ्ग कर देंगे तथा कोई-कोई उनके पालन में शिथिल रहेंगे।

भगवान की वाणी में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह कभी नहीं सोचेगा कि आज ऐसे साधु होंगे, जो तपोवन में निवास करते हुए परिपूर्ण मूलगुणों के सिवाय आदर्श उत्तर गुणों का भी पालन करेंगे। जो स्वयं प्रमादी बनकर व्रत पालन से डरते हुए साधुओं को अनेक प्रकार का आदेश देने की धृष्टता करते हैं, वे उपरोक्त सर्वज्ञ वाणी के विपरीत प्रलाप करते हैं। आप्त की उक्ति रूप आगम के विपरीत बोलने वाला, सोचने वाला सम्यक्त्वी है या नहीं यह जिनागम से अल्प भी परिचय रखने वाला सहज ही जान सकता है।

एक दिन स्व. चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराज ने मुझसे कहा था, इस पंचमकाल की तपस्या यद्यपि बहुत कठिन है, किन्तु इस समय किए गए थोड़े भी तप का बड़ा महत्व है।

भाव संग्रह में आचार्य देवसेन ने लिखा है :—

> वरिस-सहस्सेण पुरा जं कम्मं खवइ तेण काएण।
> तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण-संहणणे॥ १३१॥

पहले हजार वर्ष तप करने पर जितना कर्मो का क्षय होता था, उतना कर्म का क्षय आज हीन संहनन में एक वर्ष की तपस्या द्वारा सम्पन्न होता है।

इस कलिकाल में संयमी के जीवन-दीप को बुझाने वाली संयम के शत्रु-वर्ग की वाणी रूप प्रचण्ड पवन-चक्र बड़े वेग से बहा करता है, उस तूफानी हवा में बड़े-बड़े तक उड़ जाते हैं और मार्ग से विचलित हो जाया करते हैं।

आचार्य कुन्द कुन्द स्वामी साधु द्वेषी व्यक्ति की श्वान से तुलना करते हुए कहते हैं, जिस प्रकार चर्म, अस्थि, मांस के प्रति आसक्त श्वान मुनि को देखकर गर्जना करता है, उसी प्रकार पापी पुरुष भी धार्मिकों को देखकर गर्जना करते फिरते हैं।

यही भाव आचार्य श्री के इन शब्दों में विद्यमान है :—

चम्म द्दि-मंडलबहुलदो सुणहो गच्छए मुणि दिट्ठा ।
जइ पाविट्ठो सो घम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा ॥ १११ ॥

इस वर्णन को पढ़कर जो शिथिलाचार के जीवन की ओर झुकने को तैयार होता है, उसे कुन्द-कुन्द स्वामी के इन शब्दों को स्मरण रखना चाहिए :—

कोहेण य कलहेण य जायण-सीलेण संकिलेसेण ।
रुद्देण य रोसेण य भुंजइ कि वितरो भिक्खू ॥ ११७ ॥ रयणसार

जो क्रोध पूर्वक, कलह द्वारा अथवा याचना करता हुआ, संक्लेश भावपूर्वक रौद्रभाव सहित अथवा रोषपूर्वक भोजन करता है, वह व्यंतर-भिक्षु है। उन्होंने यह भी चेतावनी दी है कि यदि कोई मुनि पद को धारण कर रुपया पैसा आदि परिग्रह का संग्रह करता है तो वह साधु निगोद में जाता है।

जहजाय-रूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्तेसु ।
जइ लेइ अप्पबहुय तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥ १८ ॥ सूत्रपाहुड

आज-कल देखा जाता है कि प्रायः अनेक व्यक्ति अपनी योग्यता, पात्रता आदि का बिना विचार किए अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के अनुसार मोक्ष मार्ग के पथिक साधुओं को आदेश, उपदेश देने बैठ जाते हैं। इस सम्बन्ध में कुन्द कुन्द स्वामी के ये शब्द बहुत गम्भीर तथा अर्थपूर्ण हैं, कि जिस प्रकार माता, पिता अपने निज पुत्र की आलस्य रहित हो रक्षा करते हैं, ऐसी ही दृष्टि धारण करता हुआ धर्मात्मा निर्ग्रन्थों की वैयावृत्ति करता है।

शंका होती है कि सागरसेन मुनिराज ने पुरुरवा को मांस, मधु, मद्य त्याग का उपदेश दिया था। कोई व्यक्ति सोच सकता है कि आत्म विद्या का उपदेश क्यों नहीं दिया गया? सर्व प्रथम उसे सम्यग्दर्शन का अमृत पिलाना चाहिए था? मिथ्यात्व का त्याग होने के पश्चात चरित्र-निर्माण की बात कही जानी थी?

ऐसी धारणा वाला व्यक्ति सम्यग्दर्शन को बच्चों का खेल सरीखा सोचता है। उसे यह मालुम होना चाहिए कि काल-लब्धि आदि सामग्री की सम्पूर्णता जब तक नहीं होगी, तब तक सम्यक्त्व की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती।

महाकवि बनारसीदास जी अपने नाटक समयसार मे लिखते हैं : -

"आगम ग्रन्थ, अध्यातम बानी समझे कोई विरला ज्ञानी।"

यदि अध्यात्म की शिक्षा का कार्यक्रम रखा और उस जीव ने उसे हृदय में स्थान नहीं दिया तथा कदाचित् परलोक प्रयाण की बेला आ गई, तो उस बेचारे की अद्भुत अवस्था हो जायगी। अतः पुराणों में तथा कथा-ग्रन्थों में सर्वत्र यही वर्णन पढ़ने में आता है कि सद्गुरुओं ने जीव के हितार्थ पाप त्याग तथा संयम पालन का उपदेश दिया है। इस व्रत के द्वारा अगणित जीवों का कल्याण हुआ है। भगवान पार्श्वनाथ का जीव मरुभूति मरण कर हाथी हुआ था। उस वज्रघोष हाथी को अरविन्द मुनि महाराज ने व्रत प्रदान किए थे, जिससे वह उन्नति के मार्ग में लग गया था और क्रमशः विकास करता हुआ तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान हुआ।

विचारने की बात है कि पुरुरवा ने अपने जीवन में शिकार खेलकर, मांसादिका सेवन कर कितनी अशुभ सामग्री इकट्ठी नहीं की थी, किन्तु उसके मद्यादि के त्याग जनित निर्मल भावों के द्वारा वह मलिनता धुल गई। सुवर्ण की मलिनता अग्नि के सम्पर्क को पाकर दूर हो जाती है, इसी प्रकार अपवित्र आचरण द्वारा संचित पाप सच्चरित्र का आश्रय लेने से विनष्ट हो जाता है। गुणभद्र स्वामी का कथन है "दुराचारार्जितं पापं सच्चरित्रेण नश्यति" (उत्तरपुराण पर्व ७२-४६)

पुरुरवा का मांसादि का त्याग करना सामान्य बात नहीं थी। क्रूरकर्मा व्यक्ति का जीवन दयाभाव के लिए पूर्णतया अपात्र रहता है। सागरसेन मुनिराज का आकर्षक व्यक्तित्व था, जिससे भीलराज के जीवन में सद्वृत्तियों ने प्रवेश पा लिया।

शंका—कोई तर्क प्रेमी व्यक्ति कह सकता है कि पुरुरवा को मांस त्याग करना कोई आवश्यक कार्य नहीं था। अविरत सम्यक्त्वी के किसी प्रकार का त्याग नहीं रहता है; वह त्यागभाव शून्य रहते हुए भी सम्यक्त्वी का मुकुट अपने सिर पर लगा सकता है।

समाधान—ऐसी धारणा जिन लोगों की है, उनको ऋषिराज कुन्द-कुन्द की इस वाणी द्वारा अपनी विचारधारा को सुधार लेना चाहिए। जहाँ स्पष्ट आगम का आधार मिले, वहाँ धर्मात्मा विचारक को वचन पक्ष पकड़ना अनुचित कार्य है। रयणसार में कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यक्त्वी को चवालीस दोषों से विरहित बताया है। उनके शब्द इस प्रकार हैं :—

मय-मूढ-मणायदणं संकाइ-वसण-भय-मईयारं।
जेसिं चउदालेदोण संति ते होंति सद्दिट्ठी॥ ७॥

जिनमें अष्ट मद, तीन मूढ़ता, षट् अनायतन, शंकादि अष्टदोष, सप्त व्यसन, सप्तभय तथा पंच अतीचार ये चवालीस बातें नहीं पाई जातीं वे सम्यक्त्वी कहे गए हैं।

सप्त व्यसनों में मांस, शराब, शिकार, जुआ, चोरी, वेश्यासेवन, परस्त्री सेवन का समावेश है। अतः स्पष्ट है कि सम्यक्त्वी जीव कभी भी मांस नहीं खायेगा, न वह शराब पियेगा, न शिकार खेलेगा। सम्यग्दर्शन बहुत बड़ी निधि है; अपूर्व ज्योति है, जिसके प्रकाश में जीव हीन वृत्तियों से अपनी रक्षा करता हुआ, अपने जीवन को परिशुद्ध बनाने के उद्योग में संलग्न हो जाता है। आत्मा को अन्धा तथा अविवेकी बनाने वाले मिथ्यात्व के दूर हो जाने पर आत्मा अद्भुत आत्मबल तथा विवेक-सम्पन्न हो जाती है। वह सम्यक्त्वी यदि अपनी पवित्रता की रक्षा करने योग्य वातावरण में अपने को नहीं पाता है, तो वह धर्म की रक्षा करते हुए शान्त भाव से प्राणों का परित्याग करने से नहीं डरता है। वह लोकभय, परलोकभय आदि सप्त प्रकार की भीतियों से विमुक्त रहता है। अतः करणानुयोग का आश्रय ले जो

सम्यक्त्वी के मांसाहार की पुष्टि करते हैं, उनको महर्षि कुन्द-कुन्द की पवित्र वाणी द्वारा अपनी मलिन धारणा को सुधार लेना चाहिये।

इस प्रसङ्ग में एक बात और ध्यान देने की है कि सम्यक्त्वी स्व और पर का भेद जानता है। उसमें प्रशम, अनुकम्पा, संवेग तथा आस्तिक्य भाव पाए जाते हैं। जिसके हृदय में अनुकम्पा-परम करुणा की ज्योति प्रदीप्त हो, वहाँ क्रूरता की अन्धकार पूर्ण तामसी प्रवृत्तियों का कैसे अवस्थान हो सकता है? वह न्याय भाव को अपनाता हुआ आत्मा को अपना मानता है तथा पुद्गल देह को अपने से भिन्न निश्चय करता है। उसी न्याय-भाव की प्रेरणा से वह सोचता है, मुझे क्या अधिकार है, कि अपने जड़ शरीर को मोटा ताजा बनाने के लिए मैं निर्दोष, निरपराध, करुणा के पात्र हरिण आदि पशुओं की हत्या करके उनके मांस तथा रुधिर का उपभोग करूं। जैन शास्त्र बताता है कि पशुओं तक में सम्यक्त्व की उपलब्धि होने पर जीव दया का भाव अथवा सर्व जीवों के प्रति आत्मौपम्य की भावना जागृत हो जाती है। वह तत्त्वज्ञ जीव चाहे मानव हो, चाहे पशु हो आत्म ज्योति से समलंकृत हो जाता है। वह संसार, शरीर तथा भोगों से विरक्त होता है। इससे ही वह मांस सेवन शिकार खेलना आदि क्रूर प्रवृत्तियों से अपने को दूर रखता हैं। कुन्दकुन्द स्वामी के ये शब्द भी सम्यक्त्वी के अंतः—बाह्य जीवन पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं: –

भय–विसरण–मल–विवज्जिय संसार–सरीर–भोग–णिव्विएणो।
अट्ठगुणंग–समग्गो–दंसण सुद्धो हु पंचगुरु भत्तो ॥ ५ ॥

सम्यग्दर्शन से विशुद्ध जीव सप्तभय, सप्त व्यसन, पच्चीस मल, दोष से रहित होता है। वह संसार, शरीर तथा भोगों से उदास होता है। वह अष्टगुणों से अलंकृत होता है तथा पंच परमेष्ठी की भक्ति युक्त रहता है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार में लिखा है, कि संसारी प्राणी शरीरनाम कर्म के उदय से संयुक्त होता हुआ

कर्म तथा नोकर्म को ग्रहण करता है, जिस प्रकार तप्त लोहे का गोला जल को ग्रहण करता है।

देहोदयेण सहियो जीवो आहरदि कम्म-णोकम्मं।
पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व-जलं॥

इस प्रकार यह जीव प्रतिक्षण कर्मों का बंध अपने भावों के अनुसार किया करता है। ज्ञानावरण आदि सात कर्मों का तो निरन्तर बंध होता है। आयु कर्म का बंध होने की पात्रता जीवन के त्रिभाग शेष रहने पर आती है। आत्मज्ञानी मानव को यह पता नहीं है, कि उसका जीवन कितना शेष रहा है, कब आयुबंध का समय आया है, अतः उसे सदा सावधानी रखना चाहिए। आयु का बंध हो जाने के पश्चात् वह वज्रलेप सदृश पक्का हो जाता है। राजा श्रेणिक ने क्रूर परिणामों द्वारा नरकायु का बंध कर लिया था, इससे उस जीव के नरक गति में जाने को कोई भी ताकत नहीं रोक सकी।

करणानुयोगी विद्वान कहता है कि तेतीस सागर की स्थिति न्यून होकर केवल चौरासी सहस्र वर्ष रह गई, यह तत्त्वज्ञान का प्रभाव कौन शिरोधार्य नहीं करेगा?

यह बात पूर्णतया सत्य है, किन्तु नरक का एक क्षण भी अवर्णनीय, अकल्पनीय दुःखों के समुद्र तुल्य होता है, अतः नरक की अल्प आयु भी कम भयंकर तथा दुःख-प्रद नहीं होती है। जो जीव कर्म का विपाक भोगता है, वही उसकी वेदना को जानता है। दावाग्नि प्रज्वलित होने पर जलते हुए जीवों की मनोव्यथा को दूसरा सुरक्षित व्यक्ति नहीं जानता है।

अतः यह आवश्यक है, कि जीव संयम तथा व्रत का यथाशक्ति पालन करे, ताकि वह नरकगति, तिर्यंचगति की पीड़ाओं से बच जाय। सच्चे गुरु जीव को एक क्षण भी व्रत रहित रहने की अनुज्ञा नहीं देते, क्योंकि अल्प प्रमाण में धारण किया गया भी सदाचार अनन्त उपकार करता है। स्वयं धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकरों के जीवन को देखा

जाय, तो पूर्व में पतित अवस्था में पड़ा हुआ उनका जीव व्रताचरण के द्वारा उन्नति के मार्ग पर लगा है, पश्चात् योग्य समय तथा सामग्री की अनुकूलता होने पर वह सम्यक्त्वी बनकर रत्नत्रय धर्म को अङ्गीकार कर मुक्त हुआ है। महावीर भगवान बनने वाली आत्मा ने पुरुरवा भील की पर्याय में मुनि महाराज सागरसेन स्वामी से मांसादि के त्याग रूप अल्प व्रत लिए थे; उसका आश्रय ले वे आगे वर्धमान होते हुए वर्धमान भगवान हुए और उनका तीर्थ सच्चे मुमुक्षुओं में आज भी वर्धमान हो रहा है।

खदिरसार का आख्यान—पुरुरवा की तरह खदिरसार भील को समाधीगुप्त मुनि ने कल्याण के मार्ग में लगाया था। वही खदिरसार का जीव उन्नति करता हुआ श्रेणिक राजा हुआ और आगे उत्सर्पिणी काल का प्रथम तीर्थंकर भगवान महापद्म होकर निर्वाण जायगा।

इस सम्बन्ध में उत्तरपुराण का यह कथानक विशेष उद्‌बोधक है। उस ग्रन्थ मे लिखा है कि इस जम्बूद्वीप के विध्याचल पर्वत के कुटच नाम के वन में खदिरसार भील को समाधि गुप्त मुनिराज का दर्शन प्राप्त हुआ।

भील ने मुनिराज को नमस्कार किया।

मुनिराज ने कहा, आज तुझे धर्मलाभ हो, "ते अद्य धर्मलाभोस्तु।"

भील ने पूछा, महाराज! धर्म क्या है, उससे क्या लाभ होता है यह बताइये?

उन्होंने धर्म का स्वरूप उस भील के समझने योग्य शब्दों में इस प्रकार बतलाया।

गुणभद्र स्वामी लिखते हैं :—

किरातेनेति संपृष्टः सोपीति प्रत्यभाषत।
निवृत्तिर्मधु-मांसादि-सेवायाः पाप-हेतुतः॥
स धर्मस्तस्य लाभो यो धर्मलाभः स उच्यते।
तेन कृत्यं परं पुण्यं पुण्यात्स्वर्गे सुखं परं॥ ३९३ पर्व ७४॥

जब भील ने धर्मलाभ के विषय में प्रश्न किया, तब मुनिराज ने समझाया कि मधु, मांसादि का सेवन नहीं करना धर्म है, क्योंकि इनका सेवन पाप का कारण है। उस धर्म का लाभ होना ही धर्म लाभ है। इस त्याग धर्म के द्वारा महान पुण्य प्राप्त होता है। पुण्य से स्वर्ग में महान आनन्द प्राप्त होता है।

यह सुनकर भील ने कहा, "महाराज! मैं तो ऐसे व्रत का स्वामी नहीं बन सकता।" ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय?

वे साधुराज-विचार मग्न हो गए। उन्होंने भील से पूछा "कि काकमांसकं भक्षितं-पूर्वं न वा?" क्या तूने पहले कभी कौआ का मांस खाया है?

भील ने उत्तर दिया कि मैंने यह कभी नहीं खाया है।

मुनिराज ने उस पापी भील को सर्व मांस परित्यागी न बनाकर केवल काक-मांस छोड़ने को कहा।

भील ने विचार कर कहा "दीयतां' व्रतम्'—महाराज! यह व्रत मुझे दीजिये।"

अब वह खदिरसार केवल काक-मांस के त्याग रूप व्रत से अलंकृत हो गया।

प्रश्न—अपने को अधिक चतुर और बुद्धिमान सोचने वाला कहेगा, क्या रखा है, ऐसे त्याग में, ऐसे पाखण्ड तथा ढोंग में? कौआ का मांस नहीं खाया तो हरिण, मुर्गा आदि को मारकर खा लिया। बताओ जीवहिंसा कहाँ बची?

समाधान:—ऐसा ही तर्क रात्रि को सर्वभक्षण करने वाले उन लोगों के विरुद्ध उपस्थित करते हैं, जो रात्रि को अन्न का बना पदार्थ नहीं खाते। ऐसी अनेक प्रतिज्ञाओं के ऊपर पाप प्रवृत्तियों में प्रवीण ये लोग अपने मिथ्या तर्क का अस्त्र फेंका करते हैं। उन्हें यह पता नहीं है, कि थोड़ा सा भी सच्चा नियम जीवन में आश्चर्यकारी परिवर्तन उत्पन्न करता है।

'सत्संगति में क्या धरा है, वह तो निमित्त कारण है, उससे जीव का क्या होगा ? ऐसा कहने वालों को आश्चर्य होगा, कि सज्जन समागम मात्र जीवन को उच्च विकास की अवस्था प्राप्त करने में अपूर्व सहायक बनता है। आचार्य शान्तिसागर महाराज सन् १६२८ में विशाल संघ के साथ शिखरजी की यात्रा को गए थे। उस समय मार्ग में आचार्य महाराज का कमण्डलु साथ में लेकर उनके पीछे-पीछे गमन करने वाले अनेक व्यक्ति थे, जिन्होंने आगे जाकर मुनि पदवी प्राप्त की अथवा उच्च श्रावक की अवस्था धारण की। चुंबक यदि शक्तिशाली होता है, तो लोहा उसके पास अपने आप खिंचता है। जिसमें पात्रता रहती है, उसका कल्याण हो जाता है। सुवर्ण तो बहुमूल्य धातु है, किन्तु उसमें वह पात्रता नहीं है, जो लोहे में है। इसी प्रकार चाहे निर्धन हो, चाहे शिक्षा हीन हो, लोहे सदृश जीवन वाला गुण-चुंबक साधुराज का आश्रय पाकर आकर्षित होता हुआ अपने जीवन को विशिष्टता सम्पन्न बना लेता है, और बहुमूल्य माना जाने वाला सुवर्ण जहाँ का तहाँ ही पड़ा रहता है। पात्रता विशिष्ट पदार्थ योग्य सामग्री का सन्निधान प्राप्त कर श्रेष्ठ अवस्था से सम्पन्न हो जाता है।

रत्न पारखी के समान साधु पुरुष मानव-पारखी बनकर पहिचान लेते हैं, कि यह काला तथा मलिन पाषाण समान दिखता है, किन्तु योग्य सामग्री के द्वारा यही पाषाण तुल्य जीवन बहुमूल्य रत्न रूपता प्राप्त करता है। सप्त व्यसनों से जो आत्मा मलिन हो कुमार्ग की ओर जा रही थी, उन रामचन्द्र गोकाककर नाट्याचार्य को आचार्य शान्तिसागर महाराज के सम्पर्क ने आध्यात्मिक चूड़ामणि पूजनीय दिगम्बर जैन आचार्य पायसागर महाराज रूप में परिणत करके समाधि मरण के माध्यम से स्वर्गीय विभूति बना दिया। सत्पुरुष की संगति रूप निमित्त कारण उपादान का सहयोगी बनकर चमत्कारपूर्ण फल दिखाता है। कबीरदास के ये शब्द इस प्रसंग में विशेष अर्थपूर्ण लगते हैं :—

राम बुलावा भेजिया दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु-सङ्ग में सो बैकुण्ठ न होय ॥

अतः समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि सत्पुरुष का रत्नों से भी अधिक मूल्य आंके। उसके द्वारा इस लोक तथा परलोक में कल्याण का लाभ होता है।

गीता में ये सुन्दर शब्द आए हैं :—

नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ६ अध्याय, ४० ॥

कल्याणपूर्ण कार्य करने वाला व्यक्ति कुगति में नहीं जाता है। यहाँ 'कल्याणकृत' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। कल्याण की बातें करने वाला नहीं, कल्याणपूर्ण कार्यों को करने वाला दुर्गति में नहीं जाता है। आज उन बातों का जवानी जमा खर्च करने वालों से दुनियाँ भरी पड़ी है। कल्याणकृत् व्यक्तियों की संख्या अत्यन्त अल्प है।

गीता के ये शब्द भी हितकारी हैं :—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ २-४० ॥

थोड़ी मात्रा में भी पाया जाने वाला धर्म महान दुःखों से रक्षा करता है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ अहिंसात्मक प्रवृत्ति करना ही सुसङ्गत होगा। अतः अल्प मात्रा में आचरित धर्म को तिरस्कार भाव से नहीं देखना चाहिए।

शंका—जो यह मान बैठे हैं, कि हम अहिंसादि अणुव्रतों का तो अभ्यास नहीं करते, जब केवली भगवान के ज्ञान में हमारी महाव्रती पर्याय झलकी है, तब हम एकदम महाव्रती बनकर शुद्धोपयोगी तथा शुक्लध्यानी बनकर भरतेश्वर के समान आत्मा का कल्याण करेंगे।

समाधान—वे लोग यह नहीं जानते कि जैसे जीवन में एक क्षण का महान मूल्य है, उसी प्रकार एक कण की भी कीमत है। कहावत है "क्षणशः कणशश्चैव विद्यां अर्थं च साधयेत्"—एक एक क्षण का उपयोग करते हुए विद्या का सञ्चय करो, उसी प्रकार एक एक कण का रक्षण करते हुए अर्थ का संग्रह करो। पानी की एक एक बूंद का भी अपना महत्व है। जो विशाल समुद्र दिखता है, उसके भीतर भी बूंदें विद्यमान

हैं। यूंदों का समुदाय सिंधु रूप दिखने लगा है। अतः व्रत, नियमादि के धारण करने में हृदय से उत्साह धारण करना चाहिए और वचनों का जाल बिछाकर अपना तथा दूसरों का अकल्याण नहीं करना चाहिए। अन्न की मात्रा का उल्लंघन कर भोजन करने वाला उदरशूल की व्यथा पाता है। ऐसी स्थिति धर्मपालन तथा पाप परित्यागी की नहीं होती है; बुद्धिमान व्यक्ति का नियम रहता है "शुभस्य शीघ्रम्" सत्कर्म को शीघ्र करे।

पूज्यपाद स्वामी की यह वाणी कितनी मर्मिक है, कितनी अर्थपूर्ण है :—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
सन्निहितं च सदा मृत्युः कर्तव्यो धर्म-संग्रहः ॥

इस जीव के शरीर तो विनाशीक हैं। वैभव सदा रहने वाला नहीं है। मौत सदा समीप बैठी है, अतः विवेकी व्यक्ति को धर्म का संग्रह करना चाहिए।

दयनीय दशा :—अपने लौकिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु लोग हर प्रकार की जोखम उठाते हैं। अपार कष्ट भोगते हैं। धन की प्राप्ति यदि यमराज के घर में होती है, तो यह अर्थ लोलुपी यम के मन्दिर के भीतर भी जाने को तैयार हो जाता है, किन्तु धर्म साधन तथा आत्म-कल्याण के विषय में यह अपने को असमर्थ, अबोध, दीन-हीन मानता हैं तथा बताता है। यह देश विदेश तक दौड़ लगा सकता है, किन्तु जिनेन्द्रदेव के मन्दिर में जाकर आत्मकल्याण करने को इसके पास समय नहीं है, शक्ति नहीं है। यथार्थ बात यह है कि आज के व्यक्ति का आराध्य विषय भोग बन गया है। वह साक्षात राक्षस से उतना नहीं डरता, जितना संयम के नाम से घबराता है।

जैन धर्म संयम की आधार शिला पर स्थित है। यह विजेताओं का, जिनों का अर्थात् संयमियों का धर्म है। वासनाओं पर विजय प्राप्त किए बिना कभी भी सच्ची उन्नति नहीं होती है। यह जीव मिथ्यात्व तथा अविद्या रूप विपरीत मार्ग को अपनाता हुआ, उसमें आनन्द की कल्पना

करता है; जैसे अबोध बच्चे अपने माता-पिता की बहुमूल्य वस्तु को नष्ट कर हर्षित होते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम है कि उन्होंने क्या कर डाला? आनन्द की मिथ्या कल्पना जाल में फँसा हुआ अमेरिका का धन-कुबेर कोडक सर्व प्रकार की सुखोपयोग की सामग्री समन्वित था। करोड़ों की धनराशि पास में थी। उसने विचार किया कि ऐसा आनन्द आगे रहेगा या नहीं, यह निश्चय रूप में नहीं सोचा जा सकता, अतः उसने गोली मार कर स्वयं के जीवन का अन्त कर दिया। अपने मित्रों के लिए एक पत्र छोड़ दिया था, जिसमें लिखा था, मेरा काम पूर्ण हो गया है (नवनीत दिसम्बर १९५४)। जैन शास्त्रों के अनुसार आत्महत्या महा-पाप है। + वर्तमान कानून भी हत्या का प्रयत्न करने वालों तथा उसमें सहयोगी बनने वालों को दण्डित करता है।

जीवन अनमोल है। उसका एक एक क्षण रत्नों से भी अधिक कीमती है। जिसने संयमरूपी चिंतामणि रत्न पा लिया, उसका भविष्य उज्ज्वल है। प्रकाश पूर्ण है। विवेकी व्यक्ति ऐसे मार्ग का आश्रय लेता है, जिसमें वह इस लोक में दुःखी नहीं रहता है तथा परलोक में भी वह सुखी बनता है।

नीति-वाक्यामृत में लिखा है :—"स खलु सुधीः योऽमुत्र सुखा-विरोधेन सुख मनुभवति"—वह मनुष्य बुद्धिमान है, जो आगामी सुख का नाश न करते हुए आनन्द का उपभोग करता है। आत्म कल्याण के विषय में प्रमाद करना दुःख को आमन्त्रण देना है। गौतम बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से कहा था "आनन्द ! देखो यह सामने वृक्षों की छाया है। ये सूने घर हैं। आनन्द ! ध्यान लगाओ, प्रमाद मत करो। देखो, पीछे मत पछताना। यही हमारी शिक्षा है।"

+ Whoever attempts to commit suicide and does any act towards the commission of the offence shall be punished with simple imprisonment for a term, which may extend to one year or with fine or with both''.—Indian Penal Code—Section 309.

संयम का सौन्दर्य :—संयम स्वीकार करने का मुख्य सौन्दर्य उसके भीतर पाए जाने वाले सुदृढ़ सत्य निश्चय में निहित है। थोड़ा भी त्याग, यदि वह सच्चा और अविचलित है, तो वह डगमगाने वाले शिथिल बड़े त्याग से बहुत आगे बढ़ जाता है। सच्चा किन्तु अल्प भी त्याग आगे जाकर विशेष परिपक्व अवस्था में अपना सौरभ बिखेरता है।

यमपाल की कथा शास्त्रों में आई है। वह तो चाण्डाल था। निकृष्ट तथा पतित व्यक्ति था। नर हत्या करके जीविकोपार्जन करने वाले व्यक्ति की चर्चा शास्त्र में क्यों आई ? उसने कोई बहुत बड़ा त्याग नही किया था। एक मुनि महाराज से यमपाल ने चौदस के दिन जीव हत्या नहीं करने का व्रत लिया था। पापी राजपुत्र को फाँसी देने की राजाज्ञा प्राप्त हुई। यमपाल उस दिन यमपाल नहीं रहा। वह 'नियम-पाल' हो गया। उस चौदस ने व्रत द्वारा यमपाल को एक दिन के लिए 'धर्मपाल' बना दिया। विपुल सम्पत्ति का लाभ होते हुए भी उस गरीब यमपाल ने अपनी प्रतिज्ञा को तोड़ना उचित नहीं समझा। उसने राज्याधिकारी को कह दिया, कि आज मेरा व्रत है। मैं आज जीवहिंसा कदापि नहीं करूँगा।

यमपाल पर शासन सत्ता का भयंकर रोष हो गया। पापी राजपुत्र को तथा यमपाल को एक भयंकर सरोवर में फेंक दिया गया, जहाँ भीषण जलचर जीव विद्यमान थे। क्या परिणाम निकला ?

सागार धर्मामृत में लिखा है :—

यमपालो ह्रदेऽहिंसन्नेकाहं पूजितोऽमरैः ।
धर्मस्तत्रैव मेढ्घ्नः शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥ ८२ ८ ॥

चांडाल यमपाल ने एक दिन अहिंसा व्रत का पालन किया तो देवताओं ने उसको सम्मानित किया, किन्तु मेंढ़ा को मारकर खाने वाले पापी राजकुमार धर्म को जलके जन्तुओं ने भक्षण कर लिया।

यहाँ यमपाल को जो गौरव मिला, वह उसकी सच्ची श्रद्धा तथा दृढ़ता के कारण प्राप्त हुआ। ऐसी ही सच्ची श्रद्धा पूर्वक खदिरसार ने

काक मांस का त्याग किया था। उसका त्याग अत्यन्त जघन्य दिखता था, किन्तु उस त्याग में मधुरता थी, सौन्दर्य था, अद्भुत ज्योति थी।

आगम कहता है, कि खदिरसार बीमार पड़ गया। वैद्यों ने कहा, "कौआ का मांस खाए बिना तुम्हारा रक्षण असम्भव है।" गुणभद्राचार्य के शब्दों में वह भील सोचने लगा : -

व्रतं तपोधनाभ्यासे गृहीतं धर्म-मिच्छता।
कृतसंकल्प-भंगस्य कुतस्तत्पुरुषव्रतम् ॥ ३९९, पर्व ७४ ॥

मैंने धर्म की इच्छा से जो मुनिराज के पास व्रत ग्रहण किया है; उस संकल्प का भङ्ग करने पर वह किस प्रकार पुरुष का व्रत कहलाएगा? पुरुष का पौरुष इस बात में है, कि वह अपनी प्रतिज्ञा न बदले।

खदिरसार जैसे मांस-भक्षी, मरणासन्न किन्तु काक का मांस त्यागी व्यक्ति के ये शब्द चिर स्मरणीय रहेंगे :—

पापेनानेन मांसेन नाद्य प्राणि-निषाम्यहम् ॥ ४०० ॥

मैं इस पाप रूप मांस को भक्षण कर आज जीवित रहना नहीं चाहता। इतने में शूरवीर नामका खदिरसार का साला अपने बहनोई के पास आया। उसने बड़े प्रेम तथा ममता से खदिरसार को मांस लेने की प्रेरणा की, किन्तु उस प्रतिज्ञा-वीर ने कहा :—

त्वं मे प्राणसमो बधुर्मां जिजीवयिषुः स्निहा।
ब्रवीष्येवं हितं नैव जीवितं व्रत-भंजनात् ॥ ४०८ ॥ पर्व ७४

तुम मेरे प्राणों के समान प्रेम करने वाले बन्धु हो। स्नेह के कारण तुम ऐसी बात करते हो, कि मुझे माँस खालेना चाहिए, परन्तु व्रत का भङ्ग करके जीवित रहना कल्याणकारी नहीं है; क्योंकि व्रत-भङ्ग के द्वारा दुर्गति प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् खदिरसार की आत्मा में विशेष उज्ज्वल विचार उत्पन्न हुए। उनसे प्रेरित हो उसने श्रावकों के पंचव्रत धारण कर लिए। खदिरसार का उस समय मृत्यु के साथ युद्ध चल रहा था। सुसंस्कार

शून्य भील होते हुए भी उस समय खदिरसार ने अद्भुत साहस और धैर्य का परिचय दिया।

क्षणभर में भील का शरीर चेष्टा शून्य हो गया।

आचार्य लिखते हैं :—

अखिलं श्रावकव्रत पंचकं समादाय जीवितान्ते सौधर्मकल्पजः देवोऽभवत्।

'परिपूर्ण रीति से हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पंच पापों का त्याग कर उस सत्पुरुष ने शान्त भाव से परलोक को प्रयाण किया। इस सच्चे त्याग से वह भील सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया। यही खदिरसार अब देव कहा जाने लगा, क्योंकि भील पर्याय रूप परिणत प्रद्गल पिंड नष्ट हो गया और वैक्रियिक शरीर रूप नवीन प्रद्गल पिंड उत्पन्न हुआ।

चैतन्य की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा, कि संसार के रंगमंच-स्टेज पर एक अभिनेता भील की वेषभूषा लिए हुए आया था, अब उसने देव शरीर को धारण कर दूसरा अभिनय आरम्भ किया है। वेष की अपेक्षा उनमें भिन्नता दिखती है। यथार्थ दृष्टि डालने पर उनमें अन्तर नहीं है। अनादि काल से यह संसारी प्राणी कर्मों की संगति में फँसकर ऐसा ही नाटक रचा करता है।

जिस प्रकार खदिरसार का देव पर्याय रूप में परिणमन हुआ, उसी प्रकार का विकास पुरुरवा का भी हुआ। उसने सागरसेन मुनिराज द्वारा प्रदत्त व्रत का बड़े आदर पूर्वक पालन किया। इस श्रद्धा पूर्वक परिपालित व्रत के प्रभाव से पुरुरवा की पूर्व संचित मलिनता न्यून होती गई और उज्ज्वल भावों के साथ मरणकर वह भीलराज अपूर्व सुख के केन्द्र सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

जीवितावहितौ सम्यक् पालयित्वादराद् व्रतम्।
सागरोपमदिव्यायुः सौधर्मेऽ निमिषोऽभवत् ॥ ७४ पर्व—२२ ॥

मनुष्य पर्याय वाला प्राणी जिस अल्प सुख की प्राप्ति में दिनरात व्यग्र रहता हुआ कोल्हू के बैल को भी मात कर देता है, उससे असंख्य गुणित सुख थोड़े से नियम के प्रसाद से प्राप्त हो जाता है।

वरांग चरित्र में लिखा है : –

> आयुष्कं नारकं दुःखं तिर्यग्योनि च मानुषम् ।
> सुख-दुःख-विमिश्रं तं दैवमैकान्तिकं सुखम् ॥ ४—३४ ॥

नरक आयु का उदय आने पर नारकी जीव निरन्तर दुःख ही भोगता है। ऐसी ही कष्टपूर्ण अवस्था पशु पर्याय में होती है। मनुष्य की योनि में सुख तथा दुःख का मिश्रण पाया जाता है, किन्तु देव पर्याय में सुख का अखण्ड राज्य रहता है।

अध्यात्म विद्या के महान आचार्य योगी पूज्यपाद मुनीन्द्र कहते हैं, व्रत को पालन करो क्योंकि उससे देव पर्याय मिलती है। व्रत रहित पर्याय का दुष्परिणाम नरक में सागरों पर्यन्त भोगना पड़ता है। उनके शब्द हैं : –

> वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतै र्वत नारकम् ॥ ३ ॥ (इष्टोपदेश)

जो मनुष्य पर्याय में अनेक प्रकार के परिश्रम उठाते हुए आर्त-ध्यान, रौद्रध्यान की मूर्ति बनकर निकृष्ट लेश्या द्वारा सुख और साता नहीं पाते हैं, वे जब यह कह बैठते हैं कि देव पर्याय में कुछ सुख नहीं है, उसमें क्या है ? हमें तो सिद्ध भगवान बनना है, तब आश्चर्य होता है, कि ये लोग कर्मों के क्षय को खिलवाड़ सा मान बैठे हैं। ये कांच खण्ड को सिर पर धारण करते हैं, और मणि को ठुकराते हैं। उन्हें पूज्यपाद स्वामी के इन शब्दों को ध्यान से बांचना चाहिए कि देव पर्याय में पुण्य जीवन के प्रसाद से किस प्रकार का महान सुख मिलता है :—

> हृषीकजं अनातंकं दीर्घकालोपलालितम्
> नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥ ५ ॥ इष्टोपदेश

स्वर्ग में देवताओं को जो सुख प्राप्त होता है, वह इन्द्रियों से उत्पन्न होता है, वह किसी भी प्रकार के आतंक से व्याप्त नहीं है तथा वह दीर्घकाल पर्यन्त प्राप्त होता है। वास्तव में उस आनन्द की तुलना के योग्य अन्य इंद्रियजन्य सुख नहीं है। अतः उपमा रहित होने से स्वर्ग में देवताओं के उस सुख को स्वर्ग में देवताओं के सुख की ही उपमा दी जाती है।

कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा इन्द्रिय जनित सुख और दुःख में भेद नहीं किया जाता है, किन्तु संसारी प्राणी की दृष्टि से दोनों का भेद स्पष्ट है। जब तक यह जीव दिगम्बर मुद्रा धारण कर श्रेष्ठ साम्य दृष्टि को प्राप्त कर राग, द्वेष, मोह से विमुक्त दशा को नहीं प्राप्त करता है, तब तक इसके शुभ परिणामों के द्वारा पुण्य लाभ को कौन रोक सकता है? जो गृहस्थ की दशा में रहकर पुण्य तथा पाप विमुक्त वीतराग स्थिति की कल्पना करता है, वह जैनागम के रहस्य से अपरिचित है। मुनि जीवन में परिग्रहादि के त्याग द्वारा प्राप्तव्य शांति की कल्पना आर्त-रौद्रध्यान के कुचक्र में फँसा गृहस्थ किस प्रकार कर सकता है? जो सम्प्रदाय सवस्त्र मुक्ति को मानता है, वह परिग्रहधारी होते हुए भी सिद्धत्व का स्वप्न देख सकता है, किन्तु अचेल सम्प्रदाय सर्वज्ञ की तत्वदेशना से प्रकाश प्राप्त करने के कारण ऐसी अयथार्थ धारणाओं से दूर रहता है। शुभ तथा अशुभ रूप विभाव से विमुक्त अवस्था गृहस्थ की नहीं होती। अतः चतुर तथा विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य होगा, कि वह अशुभ का त्यागकर शुभ प्रवृत्ति को स्वीकार करे तथा उस दिन को जीवन का श्रेष्ठ क्षण सोचे जब वह सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके सकल संयमी बनकर सम्पूर्ण मोह जाल को नष्ट करने का सम्यक् पुरुषार्थ करेगा।

कुन्द कुन्द स्वामी ने पंचास्तिकाय में लिखा है :—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो य सव्वदुक्खेसु।
णासवदि सुहं असुहं समसुह-दुक्खस्स भिक्खुस्स ॥ १४२ ॥

जिन मुनिराज ने सुख तथा दुःख में समभाव की मानसिक स्थिति प्राप्त की है, जिनके समस्त दुःखों के मध्य में रहते हुए भी राग, द्वेष तथा मोह रूप विकार भाव उत्पन्न नहीं होते हैं, उनके शुभ तथा अशुभ रूप आस्रव नहीं होता है। सयोग केवली भगवान के योग का सद्भाव रहने से वहां भी साता वेदनीय रूप पुण्य का आस्रव होता है। शुभ-अशुभ रूप आस्रव-विमुक्त अवस्था चौदहवें गुण-स्थानवर्ती अयोगी जिनकी होती है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है :—

> सीलेसिं-संपत्तो णिरुद्ध-णिस्सेस-आसवो जीवो।
> कम्म-रय-विप्पमुक्को गय-जोगो केवली होदि॥

जिन्होंने शील के स्वामित्व को प्राप्त किया, जो सम्पूर्ण आस्रवों से छूट चुके हैं, जो कर्मरूपी रज से विप्रमुक्त हैं, वे अयोग केवली होते हैं। उस श्रेष्ठ स्थिति की लोकोत्तरता को भूलता हुआ एकान्तवादी गृहस्थ जब शुभ भावों को मल मान छोड़ने की बात करता फिरता है, तथा पुण्य बंध के कारण देव, गुरु आदि की भक्ति को अवहेलना की दृष्टि से देखता है, तब ऐसा लगता है कि किसी गृहस्थ के द्वार पर खड़ा होकर घृणित देहवाला सैकड़ों रोगों से व्याप्त 'भिक्षां देहि' उच्चारण करता हुआ भिक्षुक अपने को अहंकारवश चक्रवर्ती से भी श्रेष्ठ मानता हुआ चक्रवर्ती के साम्राज्य तथा वैभव का तिरस्कार करता है।

आगम कहता है, गृहस्थ को पापों के परित्याग की विशेष चिन्ता करनी चाहिए। कामिनी-कंचन के फेर में फँसे व्यक्ति के मुख से पुण्य के त्याग की बात ऐसी ही विचित्र लगती है, जैसी आम के फल के लोलुपी व्यक्ति द्वारा आम्रवन को दग्ध करने की चर्चा अद्भुत लगती है।

अनेकांत दृष्टि :—पुण्य हेय है या नहीं, इस विषय में अनेकांत है। महा श्रमण की अपेक्षा पुण्य ग्राह्य नहीं है, क्योंकि मुनि पदवी में परिग्रह मात्र को विष मानकर त्याग किया जाता है। वे सच्चे निर्वाण सुख की प्राप्ति के हेतु मोक्ष की भी आकांक्षा त्यागने के श्रेष्ठ पथ पर चलने को उद्यत

ही रहे हैं, अतः वे सच्चे मुमुक्षु हैं। स्वामी समन्तभद्र ने राज्य-वैभव त्यागी मुनि पदवी प्राप्त ऋषभनाथ भगवान को "मुमुक्षु" कहा है। "मुमुक्षुः प्रभुः प्रवव्राज"। तात्विक दृष्टि से विचारने पर यह मानना होगा कि गृहवास के भयंकर जाल में फँसे गृहस्थ को मुमुक्षु मानना श्यामवर्णी भ्रमर को धवल बताने सदृश कार्य है। कांच, कंचन को भिन्न अनुभव कर माया के फेर में फँसा आर्तध्यानी, रौद्र परिणामी गृहस्थ सदा धन दौलत का स्वप्न देखता है। वह ईमानदारी के प्रकाश में अपनी मनोवृत्ति के बारे में सोचे, कि उसका मन दिन-रात किन बातों में फँसा हुआ है? पाप के पंक में डूबा उसका मन सिद्धों की अतीन्द्रिय अवस्था की बातें बनाता हुआ प्रमादी हो अकर्मण्यता की मूर्ति बनता है। उसे मालूम होना चाहिए कि भगवान सर्वज्ञ ने उसके लिए क्या मार्ग विधेय बताया है।

गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन में लिखा है :—

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।
बीजादवाप्तधान्यः कृषीवलस्तस्य बीजमि॥ २१॥

हे भव्य! जिस प्रकार किसान बोए गए बीज के फल रूप धान्य को प्राप्त करता हुआ बीज के लिए कुछ धान्य की रक्षा करता है एवं फल का उपभोग करता है, उसी प्रकार जिस धर्म के फल रूप तूने वैभव पाया है, उस धर्म की रक्षा करते हुए तू सांसारिक भोगों का अनुभव कर।

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्य-पापयोः प्राज्ञाः।
तस्मात्पापापचयः पुण्योपचयश्च सुविधेयः॥ २३॥

ज्ञानी पुरुष पुण्य तथा पाप का कारण जीव का परिणाम ही कहते हैं, अतः पाप का निरोध तथा पुण्य का उपार्जन सम्यक् रूप से करना चाहिये।

उन महान आचार्य ने सामान्य श्रेणी के जीवों को लक्ष्य करके स्पष्ट शब्दों में लिखा है :—

पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि
नोपद्रवो ऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै ॥
संतापयञ्जगदशेष-मशीतरश्मिः ।
पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ॥ ३१ ॥

अरे भव्य ! पुण्य की प्राप्ति करो। जिसने पुण्य का संचय किया है, उस पर असाधारण उपद्रव भी हानि न पहुँचाकर उसकी समृद्धि का कारण बन जाता है। देखो ! ग्रीष्मकालीन सूर्य सम्पूर्ण जगत् को संताप प्रदान करता है, किन्तु वह कमलों में विकास रूप लक्ष्मी का कारण बनता है।

जिस प्रकार दरिद्र पुरुष को वैभव तथा समृद्धि के केन्द्र में कोई नहीं पूछता है, उसी प्रकार पुण्य रूप सम्पत्ति-शून्य हतभाग्य को अभीष्ट तथा हितकारी वस्तुओं का योग नहीं मिलता है। जिस प्रकार कोई पुत्र अपने पिता द्वारा प्रदत्त धन-वैभव का उपभोग करता हुआ यदि पिता की निन्दा करता है तथा अपशब्द कहता है, तो समझदार उस पुत्र को कुपूत कहते हैं, इसी प्रकार पुण्य के फलों की ओर दौड़ लगाने वाले, उनसे पोषण प्राप्त करने वाले गृहस्थ का उस पुण्य को बुरा तथा निंदनीय कहना है। जो उज्ज्वल जीवन के प्रेमी हैं, उन्हें भी पुण्य का उचित मूल्य मानना होगा।

वरांगचरित्र में आचार्य जटासिंह-नंदी के शब्द ध्यान देने योग्य हैं। जो व्यक्ति आर्षवाणी को न मानकर स्वच्छन्द पथ को पकड़ता है वास्तव में उसने मिथ्याभाव को पकड़ लिया है, किन्तु मोहवश वह उसे सम्यक्त्व कहता है। भिक्षुक का नाम कुबेरपति होने से वह सम्पत्ति नाथ नहीं हो सकता और न गरीबी के अभिशाप से ही वह बच सकता है :

आचार्य कहते हैं :—

मनुष्य-जातौ भगवत्प्रणीतो धर्माभिलाषो मनसश्च शान्तिः ।
निर्वाण-भक्तिश्च दया च दानं प्रकृष्ट-पुण्यस्य भवंति पुंसः ॥८—१६॥

जिस पुरुष ने श्रेष्ठ पुण्य किया है, उसे मनुष्य पर्याय में जिनेन्द्र भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म की रुचि प्राप्त होती है, मानसिक शांति मिलती है; निर्वाण के प्रति सच्ची भक्ति, दया के परिणाम तथा दान देने योग्य क्षमता मिलती है। निर्वाण पुरी के पथिक को प्रारम्भ में मनुष्यायु, उच्चगोत्र, वज्रवृषभ-संहनन आदि पुण्य सामग्री भी आवश्यक है, पश्चात् मुक्त होने पर कर्ममात्र पृथक् हो जाते हैं।

जब कोई महाभाग अन्तः बाह्य दिगम्बरत्व को प्राप्त कर निर्विकल्प समाधि के द्वारा शुक्ल ध्यान रूप मनोभूमिका को प्राप्त होता है, तब वह श्रेष्ठ व्यक्ति उन्नति करता हुआ पुण्य-पाप के चक्र से छूटता है। ऐसी श्रेष्ठ आत्मा की अपेक्षा पुण्य भी त्याज्य हो जाता है। परम आर्हन्त्य पद में कारण तीर्थंकर प्रकृति का मोक्ष जाने के पूर्व १४ वें गुणस्थान में क्षय किया जाता है। तीर्थंकर प्रकृति रूप पुण्य पूर्व में ग्राह्य रहता है, स्तुति के योग्य माना जाता है किन्तु अयोगी जिन उसका भी क्षय करते हैं, क्योंकि सिद्ध पर्याय की अपेक्षा वह प्रकृति ग्राह्य नहीं रहती। यही न्याय अन्य कर्म प्रकृतियों के विषय में भी लगाना चाहिए। क्रम तथा व्यवस्था का परित्याग कर जैसा मन में आया, वैसा निरूपण करने की विचार पद्धति मिथ्यात्व के गहरे रोग की निदर्शिका है। ऐसे सोचने वालों पर "सदसतो रविशेषात् यदृच्छोपलब्धेः उन्मत्तवत्" यह तत्वार्थसूत्र का वाक्य चरितार्थ होता हुआ प्रतीत होता है।

मर्म की बात :—पुरुरवा का जीवन ही यह स्पष्ट करता है. कि तत्त्वज्ञान-विहीन लघुव्रतों को देकर सागरसेन मुनि ने उसे भिल्लराज के स्थान में भुवनातिशायी वैभव, सुख तथा समृद्धि का स्वामी सौधर्म स्वर्ग का देव बनने में पवित्र प्रेरणा प्रदान की। ये निर्ग्रन्थ-श्रमण व्रतदान तथा पवित्र उपदेश द्वारा जीवों का जितना सच्चा कल्याण करते हैं, उसका सहस्रांश भी बड़े २ विद्या केन्द्रों आदि के द्वारा सम्पन्न नहीं होता।

सुरत्व

दृढ़ प्रतिज्ञ भिल्लराज पुरुरवा ने सत्यता के साथ व्रतपूर्वक मरण किया। उसके भावों में पवित्रता थी, विशुद्धता थी। उससे मरण कर वह सौधर्म स्वर्ग में गया।

अब पुरुरवा देव है। उसने व्रत रूप जो बीज बोया था, उसका मधुर फल वह एक सागर पर्यन्त भोगता है।

क्रम क्रम से काल क्षय होते हुए एक सागर की सुदीर्घ स्थिति भी पूर्ण हो जाती है। अब पुण्य की पूंजी समाप्त हो गई। देव पर्याय में उसके जो भाव हुए थे, उनके अनुसार उस जीव ने बंध किया था। अब उनका विपाक काल आ गया।

वह मनुष्य लोक में आ गया। उसको सब मरीचि कुमार कहने लगे।



मरीचि कुमार

पुरुरवा का जीव संयम के प्रसाद से देव हुआ था। वहां से चलकर वह आत्मा इक्ष्वाकुवंशी ऋषभनाथ भगवान के पुत्र चक्रवर्ती भरतेश्वर के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुई।

उत्तर पुराण से मरीचि के सम्बन्ध में ज्ञात होता है, कि चक्रवर्ती भरत की रानी अनन्तमति देवी मरीचि कुमार की जननी थी। प्रारम्भ में मरीचि के हृदय में अपने पितामह ऋषभदेव के प्रति बहुत भक्ति थी। आचार्य गुणभद्र ने लिखा है :—

> स्वपितामह–संत्यागे स्वयं च गुरु–भक्तितः।
> राजभिः सह कच्छाद्यैः परित्यक्तपरिग्रहः॥ ५२, पर्व ७४॥

जब मरीचि के बाबा ऋषभदेव ने राज्य का परित्याग कर दीक्षा ली थी, तब उसने भी कच्छ आदि राजाओं के साथ भगवान के प्रति भक्ति वश परिग्रह का त्याग कर दिगम्बर दीक्षा ली थी।

तपश्चरण का क्लेश सहन करने में असमर्थ होने से उसने खाने के लिए फल और ओढ़ने के लिए वस्त्र आदि स्वयं ग्रहण कर लिए थे। उस समय वन देवता ने कहा; "नाय क्रमो नैर्ग्रन्थ्य-धारिणाम्"— दिगम्बर मुनियों का ऐसा आचार नहीं है। तुम्हें स्वच्छन्द प्रवृत्ति करनी है, तो अन्य वेष को अङ्गीकार करो।

> परिव्राजक–दीक्षायां प्राथम्यं प्रत्यपद्यत्।
> दीर्घाजवं–जवानां तत्कर्म दुर्मार्ग–देशनम्॥ ५६, पर्व ७४॥

यह सुनकर मरीचि कुमार ने पहले परिव्राजक की दीक्षा ली, क्योंकि जिनका दीर्घसंसार परिभ्रमण बाकी है, उनको मिथ्यात्व कर्म कुमार्ग का ही उपदेश देता है।

उस समय मिथ्यात्व के विशेष परिपाकवश उसके परिव्राजक मत की अनेक बातें स्वयमेव ज्ञानगोचर हो गई थी।

तच्छास्त्र-चंचुताप्यस्य स्वयमेव किलाजनि ।
सतामिवासतां च स्याद्बोधः स्वविषये स्वयम् ॥ ५७ ॥

उस परिव्राजक मत के शास्त्रों का थोड़ा बहुत ज्ञान उसे अपने आप प्रगट हो गया था। बात यह है कि सत्पुरुषों के समान असत् पुरुषों को भी अपने विषय में स्वयं ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

दीर्घ संसारी होने से तीर्थंकर की धर्मदेशना उसके लिये कल्याणदायिनी नहीं हुई।

उत्तरपुराण में लिखा है :-

श्रुत्वापि तीर्थकृद्वाचं सद्धर्मं नाग्रहीदसौ ।
पुरुर्यथात्मनैवात्र सर्वसङ्ग-विमोचनात् ॥ ५८ ॥
भुवनत्रय-संक्षोभकारि-सामर्थ्य-माप्तवान् ।
मदुपज्ञं तथा लोके व्यवस्थाप्य मतान्तरं ॥ ५९-पर्व ७४ ॥

उसने भगवान ऋषभनाथ की दिव्यध्वनि भी सुनकर सच्चे धर्म की शरण नहीं ली। उसने सोचा कि जिस प्रकार ऋषभदेव ने स्वयमेव सम्पूर्ण परिग्रहों का परित्याग किया तथा उससे त्रिभुवन में हलचल उत्पन्न करने वाली सामर्थ्य प्राप्त की, उसी प्रकार मैं भी स्व रचित अन्य सिद्धान्त की लोक में स्थापना करूंगा।

इति मनोदयात्पापी न व्यरंसीच्च दुर्मतात् ।
तमेव वेषमादाय तस्थिवान् दोषदूषितः ॥ ६१—पर्व ७४ ॥

इस अहंकार के उदय से उस पापी ने मिथ्या मत से अपना मुख नहीं मोड़ा। अनेक विकारों से दूषित होते हुए भी वह उसी वेष को धारण करके रहने लगा।

प्रातः शीतजलस्नानात्कंदमूल-फलाशनात् ।
परिग्रह-परित्यागा-त्कुर्वन् प्रख्याति-मात्मनः ॥ ६४—पर्व ७४ ॥

वह प्रातःकाल ठण्डे पानी से स्नान करता था, कन्दमूल फल खाता था तथा अपने को परिग्रह का परित्यागी प्रसिद्ध करता था।

इस प्रकार वह महाभिमानी अपना कलंकमय भविष्य बना रहा था।

महापुराण मे लिखा है:—

यस्मात्स्वान्वय–माहात्म्यं शुश्रूवान्भरतात्मजः।
सर्लीलमनटच्चारु–चंचत्–चीव‌‍र‌‍ वल्कलः ॥ १४—१ ॥

भरत के पुत्र मरीचि कुमार के उन ऋषभनाथ भगवान से अपने वंश की महिमा सुनी। उससे अत्यन्त हर्षित हो सुन्दर वल्कल रूप वस्त्रों को धारण किया हुआ वह मरीचि लीला पूर्वक नृत्य करने लगा।

इस प्रसङ्ग में यह बात ज्ञातव्य है कि राजपुत्र मरीचि योग्य शिक्षा प्राप्त कर विविध कलाओं आदि में पहले ही निपुण हो गया था। ऋषभनाथ भगवान के दीक्षा लेने पर उनके भक्त चार हजार राजाओं ने मुनि दीक्षा ली थी। उसी समय मरीचि कुमार ने भी दीक्षा धारण कर उन भगवान का अनुकरण किया था। तपस्या का भार उठाने में असमर्थ होने से अन्य राजाओं के समान उसने भी दिगम्बर तपस्वी का मार्ग छोड़ दिया था। अन्य तपस्वी कायक्लेश में असमर्थ होने से भिन्न-भिन्न लिंगी साधु बने थे, किन्तु उनकी ऋषभनाथ भगवान में प्रगाढ़ भक्ति जीवित थी।

महापुराण में लिखा है:—

तदा संस्तापसाः पूर्वं परिव्राजश्च केचन।
पाषण्डिना ते प्रथमे बभूवुर्मोहदूषिताः ॥ ५६—१८ ॥
पुष्पोपहारैः सजलैः भर्तुः पादावचालयञ्जलं
न देवतान्तरं तेषा आसीन्मुक्त्वा स्वयंभुवम् ॥ ६०—१८ ॥

जो पूर्व में तापसी थे, उनमें से अनेक परिव्राजक बन गये थे। मोह से दूषित होने से वे पाखण्डियों में प्रधान हो गए थे; फिर भी वे लोग पुष्प के उपहार तथा जल के द्वारा भगवान के चरणों की पूजा करते थे, क्योंकि स्वयंभू ऋषभनाथ भगवान को छोड़कर उनका आराध्य अन्य देव नहीं था।

मरीचि की स्थिति भिन्न थी। साधु वेष में मरीचि कुमार चारित्र से भ्रष्ट होने के साथ श्रद्धा से भी च्युत हो गया था। उसके मन में नवीन महत्त्वाकांक्षा जगी। उसने नवीन मत स्थापन करने का निश्चय किया, अतः उसने अपने स्वतन्त्र विचारों का प्रचार करना आरम्भ कर दिया।

जिनसेन स्वामी ने लिखा है :—

मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूय मास्थितः।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोत् अपसिद्धान्तभाषितैः॥ ६१—१८॥
तदुपज्ञमभूद् योगशास्त्रं तंत्रं च कापिलम्।
येनायं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः॥ ६२॥

भगवान का नाती मरीचि परिव्राजक हो गया था। उसने एकान्तवादी सिद्धान्तों के निरुपण द्वारा मिथ्यात्व की वृद्धि की थी। उसने ही प्रथम योगशास्त्र तथा कपिल दर्शन का प्रतिपादन किया था, जिनसे लोक सम्यग्ज्ञान से विमुख हो जाते थे।

आचार्य रविषेण मरीचि के विषय में पद्मपुराण में लिखते हैं कि उसने गेरुआ रङ्ग के वस्त्र धारण किये थे। उसके मन में मार्दव भाव के स्थान में अभिमान का विकार हो गया था। इस मान के वशीभूत होकर उसने परिव्राजक का सम्प्रदाय प्रचलित किया था।

ग्रंथकार के शब्द हैं :—

मानी तत्र मरीचिस्तु दधत्काषाय-वाससी।
परिव्राट् शासनं चक्रे वल्किभिः प्रश्रवस्थितः॥ ३—२९३॥

हरिवंश पुराण में मरीचि के विषय में इस प्रकार कथन आया है :—

यो मरीचिकुमारस्तु नप्ता तमततुर्विभोः।
दृष्टवान् जलभावेन तृषामरु-मरीचिकाम्॥ ६—१२५॥
जलावगाहनान्धस्य गजस्येव विदाहिनः।
मृदवश्च मृदश्चकुः शरीरपरिनिर्वृतिं॥ १२६॥

यत्सन्मानकषायी स कापायं वेषमग्रहीत् ।
एकदंडी शुचिर्मुन्डी परिव्राड्-व्रतपोषणं । १२७ ॥

भगवान वृषभदेव का नाती मरीचि तप से अत्यन्त व्याकुल हो जाने से तृषा दूर करने को मरीचि का चमकती हुई रेत में पानी को खोजने लगा। यद्यपि इसे गज के समान जल में अवगाहन करना चाहिये था किन्तु उसने मरीचिका में ही जल खोजा, जहाँ जरा भी जल न मिला। उस कोमल रेती में उसने अपना संताप दूर करने का प्रयत्न किया। वह बड़ा स्वाभिमानी था। उसने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिए थे। सिर मुंडा लिया था। एक दण्ड धारण करता हुआ स्नान द्वारा अपने को पवित्र मानने लगा था तथा परिव्राजक मार्ग का पोषक हो गया था।

उस मरीचि ने मान कषाय के अधीन हो भगवान वृषभदेव का शिष्यपना छोड़कर प्रतिद्वन्द्वी वृत्ति धारण की। स्वयं अपने आपको कुमार्ग में लगाने के सिवाय उसने अनेक भोले लोगों को पतन के पथ पर लगाया इससे उस आत्मा का अधःपात हुआ।



मरीचि का परिभ्रमण

मिथ्यात्व के प्रचारवश मरीचि की आगामी क्या अवस्था हुई, इस पर उत्तर-पुराणकार कहते हैं :—

कपिलादि-स्वशिष्याणां यथार्थं प्रतिपादयन् ।
सुनुर्भरतराजस्य धरित्र्यां चिरमभ्रमत् ॥ ६६, पर्व ७४ ॥

इसके पश्चात् मरणकर वह तपस्या के फल से पाचवें स्वर्ग में देव हुआ, वहाँ से चयकर मनुष्य हुआ, फिर स्वर्ग गया, फिर मनुष्य हुआ। इस प्रकार पाँच बार वह स्वर्ग गया और मनुष्य हुआ। तप द्वारा संगृहीत पुण्य समाप्त हो जाने से वह जीव अधोगतियों में गया।

फलेनाधोगतीः सर्वाः प्रविश्य गुरुदुःखभाक् ।
त्रस-स्थावरवर्गेषु संख्यातीता समाश्चिरम् ॥ ८१—पर्व ७४ ॥

मिथ्यात्व के फल से वह जीव अनेक प्रकार की कुगतियों में गया और उसने महान दुःख उठाए। उसने त्रस तथा स्थावर पर्यायों में जन्म धारण कर असंख्यात वर्ष व्यतीत किए।

मिथ्यात्व के उदय से जीव की क्या दुर्दशा होती है, इसका दर्पण मरीचि की जीवन गाथा है। वनस्पति, अग्नि, जल, वायु आदि की विकासहीन पर्यायों में मरीचि का पतन हुआ। कहाँ भरतेश्वर चक्रवर्ती के यहाँ पुत्र रूप में जन्म धारण कर त्रिभुवन के पिता ऋषभनाथ के नाती रूप में गौरवपूर्ण पद की प्राप्ति और कहाँ पशु पर्याय में पड़कर वर्णनातीत व्यथा का भोगना! जीव को अपने द्वारा कमाए कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। उस जीव ने अपार कष्ट भोगे। उनका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

—०—०—

अर्धचक्री त्रिपृष्ठ

वह जीव असंख्यात बार निकृष्ट पर्यायों में उत्पन्न होकर कष्ट पाता रहा। भावों की बड़ी विचित्रता है। अशुभ भावों के फल स्वरूप वह जीवन पतन के तूफान में फँसा हुआ था, किन्तु भावों में शान्ति आने से उसके भविष्य मे परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

अब पुण्योदय से वह त्रिपुष्ट (त्रिपृष्ठ) नामका अर्धचक्री हो गया। इसने प्रतिनारायण अश्वग्रीव को पराजित[1] करने के साथ उसके द्वारा चलाए गए चक्र से उसका ही प्राणान्त कर दिया था।

त्रिपुष्ट तीन खण्ड के अधिपति हो गए, किन्तु विषयों की तीव्र तृष्णा के कारण उस जीव के भावों में महान मलिनता समा गई थी। भोग की लालसा वाला जीव यह नहीं सोचता है, कि इस विषय-वासना के कारण उसका कैसा भविष्य होगा।

आज भी पुद्गल की अंध भक्ति वाला वैभव की मदिरा पीकर मत्त होने वाला धनी या प्रभुता प्राप्त व्यक्ति जो जी में आता है, किया करता है, उसे किसकी परवाह है। वह अपने को भगवान से भी बड़ा अनुभव करता है, किन्तु कुछ समय बाद जीवन का वसन्त अन्त को प्राप्त करता है और विष वृक्ष के बीज बोने वाले को विष के फल प्राप्त होते हैं। कल्पनातीत वैभव, सम्पत्ति, प्रभाव, प्रभुता आदि से शोभायमान अर्धचक्री त्रिपुष्ट का सारे विश्व में यशोगान हो रहा था, कि मृत्यु की घण्टी बज गई, त्रिपुष्ट मृत्यु की गोद में सो गया।

अर्धचक्री का सारा वैभव ही नहीं, उसका चिरपोषित प्रिय शरीर भी यहाँ ही पड़ा रहा, किन्तु वह जीव अपने पाप के साथ महातम प्रभा नामक सातवें नरक में पहुँचा, जहाँ तेतीस सागर पर्यन्त यह जीव अपार दुःख भोगा करता है।

---

(१) यद्यपि तिलोयण्णत्ति आदि से इनका नाम 'त्रिपृष्ठ' रूप में ही ज्ञात है, किन्तु उत्तर पुराण में 'त्रिपुष्ट' नाम आया है।

त्रिपृष्ठ का अधःपात

आयु पूर्ण होने पर अर्धचक्री (त्रिपृष्ठ) पाप के फलस्वरूप नरक में गया गुणभद्र स्वामी ने लिखा है :—

राज्यलक्ष्मी चिरं भुक्त्वा प्यतृप्त्वा भोगकांक्षया ।
मृत्वागात्सप्तमी पृथ्वीं बह्वारंभ-परिग्रहः ॥ १६७ – पर्व ७४ ॥

उसने बहुतकाल पर्यन्त राज्य लक्ष्मी का उपभोग किया, किन्तु फिर भी उसकी भोग-लालसा कम नहीं हुई। बहु आरम्भ तथा बहु परिग्रह के कारण मरण करके वह अर्धचक्री त्रिपुष्ट सातवें नरक गया।

पुण्य के उदय से जो जीव कल तक आश्चर्यप्रद वैभव, प्रभुता का केन्द्र था, वह क्षणभर में पुण्य का भण्डार क्षीण होने पर पाप के उदय हो जाने से दुःखों के समुद्र मे डूब गया। अब वह सातवें नरक का नारकी हो गया। उस नरक की पृथ्वी का नाम है महातमप्रभा। उसे माघवी भी कहते हैं। जब यह विचार मन में आता है, कि जिस जीव को आगामी तीर्थंकर भगवान की अवस्था प्राप्त कर त्रिभुवन पूज्य बनना है, उसका नरक में तेतीस सागर पर्यन्त वाणी के अगोचर पीड़ा को भोगते रहना ठीक नही है। जिन्हें भगवान मानकर पूजते हैं, उनका ऐसा हीन चित्रण उचित नहीं है।

ऐसी शंका मोही मानव के मन में उत्पन्न होती है, किन्तु कर्म का फल भोगना पड़ता है यह नियम अनुल्लंघनीय है। जैन तत्वज्ञान पक्षपात छोड़कर वस्तु का यथार्थ स्वरूप बताता है। बड़े पुरुष पाप करें, तो उसे पाप नहीं मानना, ऐसा अंधेरखाता व्यवस्थित रूप में वस्तु का प्रतिपादन करने वाले सर्वज्ञ के शासन में नहीं है। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम आदि विकारों से जो भी आत्मा अपने

को मलिन बनाती है, वह आगे दुःख पाती है। 'जैसा बोवे वैसा लुनैं', फल काल में वही वस्तु मिलती है, जिसको बोया गया था। गेहूँ बोने पर चना नहीं मिलता, आम का बीज बोने पर फल काल में अनार की प्राप्ति की कौन कल्पना करेगा ? इसी प्रकार जिस जीव ने विषयों का आसक्ति पूर्वक सेवन किया, कलुषित भावों द्वारा आत्मा को मलिन बनाया, वह पशु योनि में या नरक योनि में जाता है, तो उसे कौन रोक सकता है ? यह कर्म तथा कर्मफल का नियम अव्याहत गति से अपना चक्र चलाता है। ऐसी वस्तु व्यवस्था के विपरीत यदि कोई प्रतिपादन करेगा, तो उससे प्राकृतिक नियमों में कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा। अतः यह स्वीकार करने में तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिए कि त्रिपृष्ठ नाम का अर्धचक्रवर्ती नारकी हो गया, जहाँ अंतरंग परिणाम काले थे, शरीर भी श्याम था, समस्त वातावरण भी दुःखमय था। मरुभूमि में जैसे दिग्-दिगन्त में रेत, रेत, रेत ही दिखती है, समुद्र में पानी, पानी ही पाया जाता है, इसी प्रकार नरक में दुःख, दुःख के सिवाय सुख का लेश भी नहीं रहता है।

आचार्य कहते हैं :—

> सुखं निमेषतन्मात्रं नास्ति तत्र कदाचन।
> दुःखमेवानुबद्धं नारकाणा दिवानिशम्॥

नरक मे नारकियों के निमेषमात्र-पलक लगाने खोलने के क्षण-काल पर्यन्त भी सुख नहीं पाया जाता। दिन-रात सदा दुःख ही दुःख प्राप्त होता है। किसी तरह से उस जीव ने तेतीस सागर का लम्बा समय व्यतीत किया। आत्मा अविनाशी है, अकेला है, चैतन्य गुण उसका सदा से साथ देता रहा है तथा देता रहेगा, ऐसा कभी भी समय नहीं आवेगा, जब जीव चैतन्य विरहित हो जायगा। वास्तव में कर्मों के द्वारा प्राप्त अनंत पर्यायों में अनंत वेषों को देखते हुए यह कहना उचित है कि विश्व के रंगमंच पर आकर कर्मरूपी सूत्रधार के आदेशानुसार यह जीव सदा अपना खेल दिखाया करता है।

वह नारकी मरकर गंगा के किनारे सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ तथा जीव वध द्वारा संचित पाप के फलस्वरूप मरकर पुनः नरक पहुँचा। इस बार वह पहले नरक में एक सागर पर्यन्त कष्ट भोगता रहा।

नरक से निकलकर वह जीव जम्बूद्वीप के हिमवान पर्वत के शिखर पर पुनः भीषण सिंह हुआ।



सौभाग्यशाली मृगेन्द्र

अष्टांग निमित्त विद्या के वेत्ता बताते हैं कि यदि स्वप्न में सिंह का दर्शन हो तो वह शुभ का सूचन करता है। भगवज्जिनसेन ने महापुराण में लिखा है कि जब भगवान वृषभनाथ तीर्थंकर माता मरुदेवी के गर्भ में आए थे, तब जननी ने सोलह स्वप्न देखे थे, उनमें तीसरा स्वप्न सिंह का था।

> मृगेन्द्र-मिन्दुसच्छायवपुषं रक्तकंधरम् ।
> ज्योत्स्नया संध्यया चैव घटितांगमिवैक्षत ॥ १२—१०६

चन्द्रमा के समान सुन्दर दीप्ति युक्त, लाल रङ्ग के कन्धों से शोभायमान वह सिंह ऐसा प्रतीत होता था, मानो चांदनी और संध्या के द्वारा ही उसके शरीर की रचना हुई हो। इसका क्या फल होगा, इस पर प्रकाश डालते हुए महाराज नाभिराज ने कहा था "सिंहेन अनंतवीर्योऽसौ"—इस सिंह दर्शन से सूचित होता है कि गर्भस्थ शिशु अनन्तशक्ति धारी होगा।

स्वप्न के सिंह की तो यह कथा है, किन्तु उस त्रिपृष्ठ के जीव वनपति सिंह का साक्षात् दर्शन होने पर मनुष्य की तो बात ही दूसरी, मदोन्मत्त गजेन्द्र तक कांप जाते थे। यह पुरुरवा का जीव सिंहगिरि पर स्वच्छन्द विचरण करने वाला केसरी सिंह क्रूरता तथा भीषणता की साक्षात् मूर्ति था। ऐसा लगता था कि उस जीव का सारा शरीर क्रूरता के परमाणुओं द्वारा ही निर्मित किया गया हो।

वर्धमान चरित्र मे उस सिंह का इन शब्दों मे परिचय दिया गया है :—

> शम-विरहित-मानसो निसर्गति-गतिप्रथमकषाय-कषाय-रंजनेन ।
> यम इव कुपितो विना निमित्त समद-गजानवधीत्क्षुधा-विहीनः ॥२॥ सर्ग ११

उसका अंतःकरण स्वभाव से अनंतानुबंधी क्रोध रूप कषाय से अनुरंजित होने से शान्तिभाव से शून्य था। वह क्षुधा रहित होता हुआ भी विना कारण यमराज के समान क्रोध युक्त होकर मदोन्मत्त हाथियों का वध किया करता था।

> प्रतिरव-परिपूरिताद्रिरंध्रं करिकलभाध्वनितं निशम्य तस्य ।
> विदलित-हृदयाः प्रियैरकाण्डे सममसुभिश्च निराशिरे स्वयूथैः ॥ ३ ॥

उस मृगेन्द्र की प्रतिध्वनि से परिपूर्ण की गई पर्वत की गुफा की ध्वनि को सुनकर हाथियों के बच्चों का हृदय विदीर्ण हो जाता था, वे अपने झुण्ड को छोड़कर भाग जाते थे तथा अपने प्राणों का भी परित्याग कर देते थे।

> मृगकुलमपहाय तं नगेन्द्रं सकलमगादपरं वनं विबाधम् ।
> करिरिपु-नखकोटिलुप्तशेषं व्रजति सदा निरुपद्रवं हि सर्वः ॥ ४ ॥

इस सिंह के नखाग्रों से क्लिष्ट जीवों से बचे हुए शेष जङ्गली जीव उस सिंहगिरि का त्याग कर बाधा रहित अन्य वन में चले गये थे। यह उचित ही है, क्योंकि सब जीव निरुपद्रव स्थान में जाते हैं।

गुणभद्र आचार्य ने उस सिंह का इस प्रकार वर्णन किया है "तीक्ष्ण-दंष्ट्रा-करालाननः"—उसकी दाढ़ें तीक्ष्ण थीं। उसका मुख कराल था। वह बड़ा ही भीषण था। ऐसे क्रूरतम तथा यमराज सदृश सिंह की भीषणता की कौन कल्पना कर सकता है जबकि वह एक हरिण को मारकर भक्षण कर रहा था ?

अद्भुत भाग्य :—भाग्य चक्र भी अद्भुत होता है। चक्रवर्ती भरत के राजभवन में जन्म धारण करने वाले पुरूरवा के जीव मरीचिकुमार को सम्यक् प्रतिबोध नहीं मिला। भगवान वृषभनाथ तीर्थंकर के पौत्र होने के साथ साथ उनका उपदेश भी उस दीर्घसंसारी मानव के मनको मिथ्या श्रद्धा तथा दूषित आचरण से विमुख न बना सका था। इसी से वह जीवन पतन की पराकाष्ठा को भी प्राप्त हुआ था, और

सागरों पर्यन्त कष्ट पाता रहा था, किन्तु इस तिर्यंच पर्याय में काललब्धि समीप आ जाने से उसे श्रेष्ठ तत्व देशना का सुयोग मिल गया।

आशाधरजी ने सागारधर्मामृत में लिखा है :—

आसन्न-भव्यता-कर्महानि-संज्ञित्व-शुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्त-मिथ्यात्वः जीवः सम्यक्त्वमश्नुते॥ ६—अ—१॥

जिस जीव को निकट-भव्यपना प्राप्त हो गया है, जिसके कर्मों की स्थिति उत्कृष्ट न होकर न्यून स्थिति हो गई है, जो संज्ञी जीव हो गया हो, जिसके भावों में निर्मलता उत्पन्न हो गई हो तथा गुरु आदि के उपदेश से जिसका मिथ्यात्व अस्तंगत हो गया हो, वह सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

गुरु का लाभ—उस क्रूर सिंह के समीप अत्यन्त प्रशान्त परिणामी, तपोमूर्ति, महान तेजस्वी दिगम्बर मुनियुगल, जो चारण ऋद्धि समलंकृत थे तथा जिनका नाम अमित कीर्ति तथा अमित प्रभ था, पधारे[1]।

उस पर्वत पर वे महर्षियुगल पधारे। मुनिराज ने उस मृगेन्द्र को प्रतिबुद्ध करते हुए कहा था :—

गतभय! दशमे भवाद्भवेऽस्मात्।
त्वमिह भविष्यसि भारते जिनेन्द्रः॥
इति परिकथितं जिनेशिना नः।
सकलमिदं कमलाधरेण नाम्ना॥ ४८, सर्ग ११॥ वर्धमान चरित्र

हे निर्भय मृगेन्द्र! इस भव से आगे दशमे भव में तू भारतवर्ष में तीर्थंकर (महावीर भगवान) होने वाला है। यह सर्व वृतान्त कमलाधर जिनेन्द्र ने हमें कहा था।

उत्तर पुराण में उनका नाम श्रीधर आया है।

---

(१) वर्धमान चरित्र में उक्त नाम आए हैं, किन्तु उत्तरपुराण में उनके नाम अजितजय तथा अमित गुण बताये गए हैं। (पर्व ७४-१७३)

सर्वमाभावि-तीर्थेशात्मयेदं श्रीधराह्वयात् ॥ २०४—पर्व ७४

श्री तथा कमला दोनों लक्ष्मी के ही पर्यायवाची शब्द हैं, अतः दोनों नामों में कोई अन्तर नहीं है। उत्तर पुराण में श्रीधर भगवान का तीर्थंकर बताया है। वहाँ गुणभद्र स्वामी ने लिखा है, "वे मुनिराज तीर्थंकर के वचनों का स्मरण कर दया पूर्वक आकाश से उतरे और उस सिंह के पास आकर एक शिला पर बैठ गये। वहाँ उन्होंने उच्च स्वर में उसको उपदेश देना प्रारंभ किया था।

तत्व-देशना — उन्होंने उसे संबोधन करते हुए कहा था, "मृगेन्द्र ! विमलधिया हितं आत्मनः शृणु " - हे मृगेन्द्र ! निर्मल बुद्धि होकर अपने कल्याण की बात को सुनो। हे भव्यसिंह ! पहले त्रिपृष्ठ के भव में तूने बहुमूल्य पांचों इंद्रियों के विषयों का अनुभव किया।

त्रिखंड-मंडित-क्षेत्रे जातं सर्वं ममैव तत्।
इत्याभिमानिकं सौख्यं मनसा चिरमन्वभूः ॥१८१–७४ पर्व ॥

तूने इस अभिमान जन्य आनंद को मनमें बहुत दिन पर्यन्त अनुभव किया था, कि तीन खण्ड रूप भरत क्षेत्र में जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह सब कुछ मेरा ही हैं। मैं इन सबका स्वामी हूँ।

एवं वैषयिकं सौख्य मनुभूयाप्यतृप्तवान्।
श्रद्धा-पंच-व्रतापेतः प्रविष्टोसि तमस्तमः ॥ १८२ ॥

इस प्रकार श्रेष्ठ इंद्रिय जनित तथा मानसिक सुखों को भोगते हुए भी तेरी तृप्ति नहीं हुई। तूने न सम्यक् तत्व श्रद्धान किया और न हिंसादि पापों को त्यागकर पंच व्रत धारण किए। इससे अर्धचक्री होते हुए भी मरण करके तू महातम-प्रभा नामक सातवें नरक में पहुँचा। वहां की वेदना अवर्णनीय थी। वर्धमान चरित्र का यह पद्य ध्यान देने योग्य है :—

सुख मिदमिति यत्तदात्मबुध्या।
असुखमवार्य करोति तत्तदाशु ॥

जनयति खलु तस्य भूरि दुःखं।
न हि कश्चिकापि सुखस्य नारकाणाम् ॥ २३-सर्ग ११ ॥

वह दुःखों से पीड़ित नारकी जिसको सुखदायक समझकर अपनाता है, वही पदार्थ तत्काल उसे महान दुःख देता है। वास्तव में बात यह है कि नारकी जीवों के सुख का लेश भी नहीं पाया जाता है। उत्तर पुराण में लिखा है :—

प्रलापाक्रंदरोदादिवाग्नि–रुद्ध-हरिद् वृथा ।
शरणं प्रार्थयन् दैन्याद प्राप्यातीव दु.खितः ॥ १६०–७४ ॥

अरे भव्य! प्रलाप, आक्रन्दन, रोदन आदि के शब्दों से तूने दशों दिशाओं को व्यर्थ ही व्याप्त किया था। बड़ी दीनता पूर्वक शरण की प्रार्थना करता हुआ उसे नहीं प्राप्तकर तू अत्यन्त दुःखी हुआ था।

सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र भगवान के शासन में नरक का स्वरूप समझाया गया है, अतः यद्यपि लौकिक लोग भले ही यह कहें कि नरक, स्वर्ग सर्व कल्पना है, किन्तु मुमुक्षु आत्म–हितैषी इन विषयों में शंका रहित होता है। शंकाशील व्यक्ति तो अपने हीन आचरण द्वारा जब उस स्थान को प्राप्त करेंगे, तब उसे स्वीकार करेंगे, किन्तु विवेकी व्यक्ति उस तत्व को पहले से आगम द्वारा अवगतकर ऐसे कुमार्ग से अपने को बचाता है और सुखदायी मार्ग में प्रवृत्त होता है।

नरक के दुःख—मानसिक निर्मलता का कारण होने से हम महाकवि भूधरदास जी के पारस पुराण में दिए गए नरक से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक पद्य यहाँ देते हैं। कविवर कहते हैं :—

जन्म थान सब नरक में अंध अधोमुख जौन।
घंटाकार घिनावनी दुसह बास दुःख-भौन ॥ १३१ ॥
तिनमैं उपजैं नारकी तल सिर ऊपर पाव।
विषम, वज्र, कंटकमई परै भूमि पर आव ॥ १३२ ॥
जो विषैल बीछू सहस, लगे देह दुख होय।
नरक धरा के परस तैं, सरस वेदना सोय ॥ १३३ ॥

तहां परत परवान अति, हा हा करते एम।
ऊंचे उछलैं नारकी तपे तवा तिल जेम ॥ १३४ ॥
फेर आन भू-पर परैं और कहां उड़ि जाहि।
छिन्न-भिन्न तन अति दुखित लोट-लोट बिललाहि ॥ १३६ ॥
सब दिश देखि अपूर्व थल, चकित-चित भयवान।
मन सोचै मैं कौन हूँ परयो कहां मैं आन ॥ १३७ ॥
कौन भयानक भूमि यह, सब दुख थानक निद।
रुद्र रूप ये कौन हैं, निठुर नारकी वृन्द ॥ १३८ ॥
काले वरन कराल—मुख गुंजा लोचन धार।
हुंडक डील डरावने करैं मार ही मार ॥ १३६ ॥
सुजन न कोई दिठ परै शरन न सेवक कोय।
हां सो कछु सूझै नहीं जासों छिन सुख होय ॥ १४० ॥

उस समय उनको एक दिव्य ज्ञान-विभंग-अवधि प्राप्त होता है, उससे बुरी ही बातों का ज्ञान होता है, अतः उसके द्वारा अतीत की स्मृति को जगाता हुआ वह जीव और अधिक दुःख पाता है। कवि कहते हैं,

होत विभंगा अवधि तब, निज-पर को दुःखकार।
नरक कूप में आपको, परयो जान निरधार ॥ १४१ ॥
पूरव पाप कलाप सब, आप जाव कर लेय।
अब विलाप की ताप तप, पश्चाताप करेय ॥ १४२ ॥

पश्चात्ताप :—

उस पश्चात्ताप का स्वरूप इस प्रकार कहा है :—

मैं मानुष परजाय धरि, तन-जोवन-मदलीन।
अधम काज ऐसे किये, नरक वास जिन दीन ॥ १४३ ॥
सरसों सम सुख हेतु तब, भयो लंपटी जान।
ताही को अब फल लग्यो, यह दुख मेरु समान ॥ १४४ ॥
कंदमूल, मद, मांस, मधु और अभक्ष्य अनेक।
अदन वश भक्षण किए अटक न मानी एक ॥ १४५ ॥

जल, थल, नभचारी विविध, विजवासी बहुजीव ।
मैं पापी अपराध बिन मारे दीन अतीव ॥ १४६ ॥

धन प्राप्ति के नशे में कैसे कैसे पाप किए, यह कहते हैं :—

नगर-दाह कीनो निठुर, ग्राम जलाए जान ।
अटवी में दीनी अगिन, हिंसा कर सुखमान ॥ १४७ ॥
अपने इंद्री लोभ को बोल्यो मृषा मलीन ।
कल्पित ग्रन्थ बनायकै, बहकाये बहुदीन ॥ १४८ ॥
दाव-घात-परपंचसों, पर लछमी हरलीय ।
छलबल, हठबल, दरब बल, परवनिता बशकीय ॥ १४६ ॥
बढ़ी परिग्रह पोट सिर, घटी न घटकी चाह ।
ज्यों ईंधन के जोगसों अगिन करै अति दाह ॥ १५० ॥

वह नारकी पछताता हुआ यह भी सोचता है :—

बिन छान्यो पानी पियो, निशि भंख्यो अविचार ।
देव दरब खायो सही रुद्र-ध्यान उर धार ॥ १५१ ॥
दियो न उत्तम दान मैं, लियो न संजमभार ।
पियो मूढ़ मिथ्यात-मद, कियो न तप जगसार ॥ १५३ ॥
जो धर्मीजन दया करि दीनी सीख, निहोर ।
मैं तिनसों रिस कर अधम भाषे वचन कठोर ॥ १५४ ॥
करी कमाई पर जनम सो आई मुझ तीर ।
हा हा अब कैसे धरु, नरक-धरा में धीर ॥ १५५ ॥
दुर्लभ नरत्व पाय कैं केई पुरुष प्रधान ।
तप करि साधैं स्वर्ग में अभागि यह थान ॥ १५६ ॥
पूरव संतन यों कही, करनी चालै लार ।
सो अब आखिन देखिये, तब न करी निरधार ॥ १५७ ॥
जिस कुटुम्ब के हेत मैं कीने बहुविधि पाप ।
वे सब साथी बीछुड़े परयो नरक में आप ॥ १५८ ॥

मेरी लक्ष्मी खानको सेरी हुते अनेक ।
अब इस विपत विलाप में कोई न दीखे एक ॥ १५६ ॥

इस प्रकार के विविध विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इससे क्या होता है, वह कहते हैं :—

ऐसी चिन्ता करत हू बढ़े वेदना एम ।
घीव तेल के जोग तैं पावक प्रज्वले जेम ॥ १६५ ॥

ऐसी मनो व्यथा के होते हुए बाह्य सामग्री भी अत्यन्त भीषणता पूर्ण होती है।

तीन लोक को नाज सब जो भक्षण कर लेय।
तौभी भूख न उपशमै, कौन एक कन देय ॥ १६२ ॥
सागर के जल सों जहा, पीवत प्यास न जाय।
लहै न पानी बूंदभर, दहै निरन्तर काय ॥ १६३ ॥
वाय-पित्त-कफ जनित जे रोग-जात जावंत।
तिन सबही को नरक में उदय कह्यो भगवंत ॥ १६४ ॥

कवि संक्षेप में कहते हैं :—

कथा अपार कलेश की, कहै कहां लौं कोय।
कोटि जीभ सो बरनिए तऊ न पूरी होय ॥ २०४ ॥

मर्म की बात :—ये शब्द बड़े मार्मिक तथा हितकारी हैं।

जैसी परवश वेदना, सहै जीव बहु भाव।
स्व-वश सहै जो अंश भी, तौ भवजल तिरजाय ॥ २०६ ॥
धिकधिक विषय कषाय मल ये, वैरी जग मांहि।
ये ही मोहित जीव को अवशि नरकि ले जांहि ॥ २३१ ॥

वे चारण मुनिराज नरक के दुःखों का स्मरण कराते हुए उस सिंह से कहते हैं, अरे ! मूढ़ अब भी तेरा क्रूर कार्य समाप्त नहीं हुआ और तू जीव वध के काम में संलग्न है। मुनिराज उस सिंह के हितार्थ उत्तरपुराणकार के शब्दों में इस प्रकार भर्त्सना करते हैं :—

अहो .प्रवृद्ध महानं वर्त्ते यस्य प्रभावतः ।
पापिस्तत्वं न जानासीत्याकर्ण्य तदुदीरितम ॥ १६४–७४ ॥

अरे। पापी! तेरा अज्ञान बहुत ही बढ़ा हुआ है। उसीके प्रभाव से तू तत्वों को नही जानता है। इस प्रकार मुनिराज के शब्द उस मृगेन्द्र ने सुने।

जाति-स्मरण—श्रयो जाति-स्मृति गत्वा घोर-संसार-दुःख-जात-।
भयाञ्चलित—सर्वांगो गलद्बाष्पजलोऽभवत् ॥ १६५ ॥

उन शब्दों को सुनने से उस सिंह को जाति-स्मरण हो गया, इससे पूर्व जन्म की सर्व वार्ता स्मरण गोचर हो गई। संसार के घोर दुःखों के भय से उसका संपूर्ण शरीर कांपने लगा और आखो से अश्रु-धारा बहने लगी।

इस अश्रु प्रवाह के विषय में महाकवि गुणभद्र की यह उत्प्रेक्षा बड़ी मधुर लगती है:—

लोचनाभ्यां हरेर्बाष्प-सलिल व्यगलच्चिरम् ।
सम्यक्त्वाय हृदि स्थानं मिथ्यात्वमिर्वादत्सु तान् ॥ १६६ ॥

उस मृगपति के नेत्रों से बहुत समय पर्यन्त अश्रुधारा बहती रही। उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था, मानो हृदय से सम्यक्त्व के लिए स्थान देने के लिए मिथ्यात्व ही निकल रहा हो।

उस समय उस विवेकी सिंह के अंतःकरण में जो पश्चात्ताप हो रहा था, उसकी कोई सीमा नहीं थी। आचार्य कहते हैं:—

प्रत्यासन्न - विनेयानां स्मृत-प्राग्जन्म - जन्मिनाम् ।
पश्चात्तापेन यः शोकः संसृतौ स न कस्यचित् ॥ १६७ ॥

आसन्न भव्य जीवों को पूर्व जन्म की स्मृति होने पर महान पश्चात्ताप होता है। उससे जो शोक होता है, वह संसार में अन्य किसी को नहीं होता है।

उस समय उस सिंह की मुद्रा को देखकर ऐसा प्रतीत होता था, कि उसका हृदय गुरु वचन रूप रसायन पान की पुनः इच्छा कर रहा

है, इससे अकारण—बंधु उन मुनीश्वर ने उससे कहा "पहले तू पुरुरवा हुआ था, फिर धर्म सेवन द्वारा तूने सौधर्म स्वर्ग में सुर पदवी प्राप्त की थी; वहां से आकर तू "मरीचि रति दुर्मतिः"—अत्यन्त मलिन बुद्धि वाला मरीचि हुआ। उस समय तूने महान अनर्थ किया था।

सन्मार्ग -- दूषयां कृत्वा कुमार्गमभिवर्धयन् ।
वृषभस्वामिनो वाक्यमनादृत्याजवंजवे ॥ २०० ॥

उस पर्याय में तूने पवित्र मार्ग को दूषित बताते हुए मिथ्या-विचारों की अभिवृद्धि की। भगवान वृषभदेव की वाणीका तूने तिरस्कार किया था।

भ्रान्तो जगति-जरा-मृत्युसंचये पापसंचयात् ।
विप्रयोग प्रियैर्योगमप्रियैरानुवंशिचरम् ॥ २०१ ॥

उस पवित्र वाणी की अवहेलना के फलस्वरूप तूने संसार में परिभ्रमण किया, पापों का संचय करने से जन्म, जरा, मरण आदि अनेक कष्टों का संचय किया था तथा इष्ट वियोग एवं अनिष्ट योग के दुःख चिरकाल पर्यन्त भोगे थे।

अद्य-प्रभृति — संसारघोरारण्य — प्रपातनात् ।
धीमन् विरम दुर्मार्गादात्मात्महिते मते ॥ २०५ ॥
क्षेमं चेदात्मनो मिच्छास्ति कामं लोकाग्रधामनि ।
आप्तागम-पदार्थेषु श्रद्धांधत्स्वेति तद्वचः ॥ २०६ ॥

हे बुद्धिमान मृगेन्द्र ! अबतक तू संसार रूपी घोर वन में पड़ा रहा है। अब इस मिथ्या मार्ग को छोड़ तथा आत्मा के हित में लग। यदि आत्मा का कल्याण करने की तेरी इच्छा है और तू लोक के शिखर पर–सिद्धालय में विराजमान होना चाहता है, तो तू सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी आप्त, उनकी वाणी रूप आगम तथा जीवादि नव पदार्थों में श्रद्धा धारण कर।

आप्त—आगमादि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहा गया है। स्वामी कुन्द कुन्द ने नियमसार में कहा है—

अत्ता-गम-तच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥ ५ ॥

आप्त, आगम तथा तत्वों का श्रद्धान करने से सम्यक्त्व होता है।

ववगय-असेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥ ५ ॥ नियमसार

सम्पूर्ण दोषों से विमुक्त तथा सम्पूर्ण गुण रूप आप्त होता है। राग, द्वेष, मोह, क्षुधा, तृषा, जरा, मृत्यु आदि अष्टादश दोष रहित भगवान आप्त हैं।

आगम का स्वरूप कुन्द कुन्द स्वामी इस प्रकार कहते है :—

तस्स मुहग्गय-वयणं पुव्वावर-दोस-विरहियं सुद्धं ।

आगम मिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥ ८ ॥

सर्वज्ञ वीतराग भगवान के मुख से विनिर्गत वाणी, जो पूर्वापर विरोध रूप दोष रहित है, तथा जो पवित्रता से परिपूर्ण है; आगम कही गई है। उनके द्वारा तत्वार्थ कहा गया है।

लोकोत्तर देशना—वर्धमान चरित्र में सिंह को इन शब्दों में मार्मिक देशना दी गई थी : -

व्यपनय मनसः कषायदोषान् प्रशमरतो भव सर्वथा मृगेन्द्र !

जिनपतिविहिते मते कुरुष्व प्रणयमपास्य च कापथानुबंधं ॥२६-११॥

हे मृगेन्द्र, मन से क्रोधादि कषाय रूप दोषों को दूर करके प्रशम भाव को स्वीकार करो। कुमार्ग का सम्बन्ध छोड़कर जिनेश्वर भगवान के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त मे प्रेमभाव धारण करो।

स्वसदृशानवगम्य सर्वसत्वान् जहिहि वधामिरतिस्त्रिगुप्ति-गुप्तः ।

जनयति सकथ परोपताप भुवमवयन्नभिषंगमात्मनो यः ॥ ३० ११ ॥

हे मृगराज ! सम्पूर्ण प्राणियों को अपने समान समझो अर्थात् मेरे समान ही सब जीवों को दुःख अप्रिय है। मन, वचन और काय को अपने वश में करते हुए जीव-वध की तीव्र लालसा का

परित्याग करो। जो प्राणी अपनी आत्मा के दुःख का विचार करता है, निश्चय से वह दूसरे को क्यों कष्ट देगा ?

अनियत-मथ बंधकारणं स्वपरभवं विषमं सदा सबाधं ।
हरिवर ! समवाप्त-मिन्द्रियैर्यत्सुख मवगच्छ तदेव दुःखमुग्रं ॥३१॥

हे सिंह श्रेष्ठ ! इन्द्रियों के द्वारा यह जीव जो सुख प्राप्त करता है, वह वास्तव में उग्र दुःख स्वरूप है, क्योंकि वह अनिश्चित है, बंध का कारण है, स्व तथा अन्य कारणों से उत्पन्न होता है, विषम रूप है तथा वह सर्वदा विविध बाधाओं से परिपूर्ण रहता है।

शिवसुख-मपुनर्भवं विबाधं निरुपममात्मभवं निरवमाप्तुम् ।
यदि तव मतिरस्ति सन्मृगारे ! त्यज खलु बाह्यमथांतरं च संगं ॥३५॥

हे सिंहराज ! यदि तुम्हारी इच्छा बाधा रहित, निरूपम तथा आत्मा से उत्पन्न इंद्रियातीत मोक्ष सुख प्राप्त करने की है, तो बाह्य तथा अन्तरङ्ग परिग्रह का परित्याग करो।

हे मृगेन्द्र ! तुम अभी पर्याय की अपेक्षा सिंह कहे जाते हो। यदि तुम प्रयत्न करो, तो भव्य सिंह की सार्थक पदवी को प्राप्त कर सकते हो। महाकवि के ये शब्द बड़े मार्मिक तथा मधुर लगते हैं।

यदि निवससि संयमोन्नताद्रौ प्रविमल-दृष्टिगुहोदरे परिघ्नन् ।
उपशम-नखरैः कषायनागांस्त्वमसि तदा खलु सिंह ! भव्यसिंहः ॥३८॥

हे सिंह ! संयम रूप उच्च पर्वत पर अत्यन्त विशुद्ध दृष्टि रूप गुफा के मध्य निवास करते हुए कषाय-क्रोधादि विकार रूप हाथियों को प्रशान्त परिणाम रूपी तीक्ष्ण नखों से जब तू विनष्ट करेगा, तब तू भव्यसिंह कहलावेगा अर्थात् तू भव्य जीवों का शिरोमणि बन जायेगा।

जिनवचन-रसायनं दुरापं श्रुतियुगलांजलिना निपीयमानं ।
विषय-विष-तृषामपास्य दूरं कमिह करोत्यजरामरं न भव्यम् ॥४०॥

उस सिंह को जिन वाणी का अमृतरस पान के लिए प्रेरणा करते हुए कवि कहते हैं, जिनेश्वर के वचन रसायन औषधि रूप हैं, ये

महान भाग्य से मिलते हैं। इनको कर्ण युगल रूपी अंजुलियों से पीने वाला कौन भव्य विषय रूप विष की तीव्र प्यास को दूर करके अजर तथा अमर पदवी को नहीं प्राप्त करता है ?

अनुपमसुख-सिद्धि-हेतुभूतं गुरुषु सदा कुरु पञ्चसु प्रणामं ।
भवजलनिधेः सुदुस्तरस्य प्लव इति तं कृतबुद्धयो वदंति ॥४३॥

तू सदा पंचगुरुओं को प्रणाम कर, क्योंकि यह नमस्कार अनुपम सुख की सिद्धि का कारण है। यह अत्यन्त दुस्तर संसार रूपी समुद्र से पार जाने के लिए नौका सदृश है, ऐसा सत्पुरुषों का कथन है।

अपनय नितरां त्रिशल्यदोषान्खलु परिरक्ष सदा व्रतानि पञ्च ।
त्यज वपुषि परां ममत्वबुद्धिं कुरु करुणार्द्र मनारतं स्वचित्तम् ॥४४॥

हे मृगराज ! माया, मिथ्या तथा निदान इन तीन शल्य रूप दोषों को पूर्णतया दूर करते हुए सदा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य रूप पंचव्रतों की रक्षा कर। शरीर में तीव्र ममत्व बुद्धि को दूर कर तथा अपने अन्तःकरण को करुणाभाव से आर्द्र बना।

सिंह का व्रतधारण :—इस प्रकार और भी हितकारी उपदेश को सुनकर उस क्रूर सिंह की मनोवृत्ति में आश्चर्यप्रद परिवर्तन हो गया। गुणभद्राचार्य कहते हैं :—

विधाय हृदि योगीन्द्रयुग्म-भक्तिभराहितः ।
मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रप्रणम्य मृगाधिपः ॥ २०७—७४ ॥
तत्वश्रद्धान मासाद्य सद्य कालादिलब्धित ।
प्रणिधाय मनः श्रावक-व्रतानि समाददे ॥ २०८ ॥

उस सिंह ने हृदय में मुनीन्द्र की वाणी को धारण करते हुए मुनिराज युगल की भक्ति के भार से नम्र होकर प्रदक्षिणा कर उन योगीन्द्रों को प्रणाम किया।

कालादिलब्धियों का सुयोग प्राप्त हो जाने से उसने तत्वों का श्रद्धान रूप सम्यक्त्व धारण किया और मन लगाकर श्रावकों के व्रत स्वीकार किए।

किसी के मन में सन्देह हो सकता है, कि क्रूरतम प्राणी सिंह ने सम्यक्त्व वैसे प्राप्त कर लिया; इस विषय में गुणभद्र स्वामी कहते हैं :—

तमस्तमः प्रभायां च खलु सम्यक्त्वमादिमम्।

निसर्गादेव गृह्णंति तस्मादस्मिन्न विस्मयः॥ २१३॥

जब सातवें नरक के नारकी निसर्गज नामक प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं, तब इस सिंह के विषय में आश्चर्य की कोई बात नहीं है?

उस सिंह के जीवन में त्याग, संयम, पवित्रता की अद्भुत ज्योति जग गई थी। उसका स्वाभाविक आहार मांस होने उस करुणाशील सिंह ने आहार का ही त्याग कर दिया था। तिर्यंच पर्याय में महाव्रत नहीं होते, ऐसी सर्वज्ञ वाणी है, अन्यथा वह सिंह उसी पर्याय से मोक्ष गए बिना न रहता। उसका परिवर्तन प्रत्येक के लिए विस्मयकारी लगता था। वह सिंह अब जीव मात्र का बंधु बन गया था, अतः उसके विषय मे भाषा शास्त्र द्वारा प्रयुक्त 'मृगारि' शब्द ने अन्वर्थता को त्यागकर केवल रूढ़ि रुपता प्राप्त की थी। यही अपूर्व बात उत्तर पुराणकार ने इन व्यक्त की है :—

"स्वार्थे मृगारि-शब्दोऽसौ जह्रौ तस्मिन् दयावति॥" २१७॥

उस शान्त परिणामी सिंह के पास से क्रूरता का विकार सर्वथा दूर हो गया था। वह अहिंसा व्रती सिंह बन गया था।

उस सिंह को धर्मामृत पान कराकर वे चारण मुनियुगल आकाश मार्ग से विहार कर गए। उस समय उस प्रबुद्ध सिंह को अत्यधिक मनो व्यथा हुई। नीतिकार कहते हैं; "जनयति सद्विरहो न कस्य वाधि"—सत्पुरुष का वियोग किसके चित्त में व्यथा उत्पन्न नहीं करता है? (१) उस सिंहने मुनि चरणों से पवित्र की गई शिला पर बैठकर अनशन व्रत धारण किया था।

(१) बंदऊं संत असज्जन चरना। दुःखप्रद उभय बीच कछु बरना।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख दारुन देहीं॥
—रामायण

असग कवि कवि ने लिखा है –

तदमलचरणक्र-पावनायामनशनमास्त मृगाधिपः शिलायां ॥ ५३ ॥

गुरुओं द्वारा प्रदर्शित पथ पर सावधानी पूर्वक चलता हुआ वह मृगराज एक साधु के समान अपना समय व्यतीत कर रहा था।

उस सिंह की तपस्या की वेला में परम शांति को अपनाने के कारण अनेक पशु उसे मृत सदृश समझ अनेक प्रकार से पीड़ा देते थे; किन्तु वह शान्त रहता था। यथार्थ में क्रूरता पूर्ण परिणाम वाला सिंह मर गया प्रतीत होता था, यह तो नवीन कारुण्य मूर्ति सिंहाकृति कोई नया जीव दिखता था। ऐसा लगता था, कि शान्त रस स्वयं सिंह के रूप को धारण कर सजीव रूप हो गया हो।

वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

मृत-मृतगति शंकया मदांधैः करिपतिभिः प्रविलुप्तकेशरोऽपि ।
अकृत स हृदये परां तितिक्षां तदवगतेर्नन्‌ सत्फलं मुमुक्षोः ॥ ५७-११ ॥

मदांध हाथियों ने मद से उन्मत्त होने के कारण उस जीवित सिंह को मरा हुआ समझ लिया, इससे उन्होंने उस सिंह की केशर-(केश राशि) उखाड़ डाली थी, फिर भी उस सिंह ने श्रेष्ठ शांति धारण की थी। वास्तव में मुमुक्षु जीव का क्षमाधारण करना ज्ञान का उत्तम फल है।

उस सिंह ने पूर्व मे क्रूर तथा हिंसक जीवन द्वारा जो पाप का पहाड़ इकट्ठा किया था, उस पापराशि को वह उज्ज्वल भावों द्वारा वेग से छिन्न-भिन्न कर रहा था। जिस प्रकार इस काल में एक वर्ष किया गया तप चतुर्थकाल में हजार वर्ष किए गए तप के बराबर होता है; उसी तर्क और तत्वज्ञान के आधार यह मानना तथा सोचना अनुचित नहीं है कि जिन पर्यायों मे सामान्य सद्विचार की जागृति भी आश्चर्य की वस्तु है, वहां कोई जीव करुणा भाव तथा संयम की रक्षार्थ यदि आहार-पान का जीवन भर के लिए त्याग करता है, तो उसके कर्मों की विपुल राशि का क्षीण हो जाना आश्चर्य

को बात नहीं है। इस प्रकाश में सिंह पर्याय धारी आत्मा का एक माहपर्यन्त आहार-जल का त्याग करके शान्त वृत्ति को अपनाना निश्चय से महान कार्य था, जिस विशुद्धता के फल स्वरूप उस मृगपति के सर्व दोष धुल गए और उसने विशुद्ध भावों सहित परलोक को प्रयाण किया। गुणभद्र स्वामी ने लिखा है कि उस सिंह ने व्रत सहित सन्यास पूर्वक प्राण त्याग करके सौधर्म स्वर्ग में जन्म धारण किया। उस सिंह का जीवन संयम के प्रसाद से धन्य हो गया। संयम की अपार महिमा है।

सिंहकेतु सुरराज

उस मृगबंधु मृगेन्द्र ने सौधर्म स्वर्ग में जन्म धारण किया। उस देव का नाम सिंहकेतु था। अशग कवि ने उस देव का नाम हरिध्वज लिखा है :—

देवो हरिध्वज इति प्रथितो विमाने।
सम्यक्त्व-शुद्धि-रथवा न सुखाय केषाम् ॥ ६४ ॥

हरि शब्द सिंह का पर्यायवाची होने से सिंह-केतु और हरिध्वज नाम समानार्थक हैं। देव पर्याय प्राप्त होने पर वह सिंह का जीव सोचता था, "कोऽहं, किमेतत्"—"मैं कौन हूँ, यह सब वैभव आदि क्या है ?" तत्काल उत्पन्न हुए दिव्य ज्ञान-अवधि ज्ञान से उसे यह ज्ञात हो जाता है कि चारण मुनियुगल की धार्मिक देशना से उस क्रूर जीव—सिंह के हृदय में करुणामयी प्रवृत्ति ने प्रवेश प्राप्त किया था। उसके प्रसाद से उसको यह दिव्य लोक की विभूति प्राप्त हुई है।

कृतज्ञता ज्ञापन—उसके अन्तःकरण में कृतज्ञता का भाव जाग उठा। वह अमित कीर्ति तथा अमित प्रभ नाम के परम उपकारी चारण मुनियुगल के चरणों के समीप पहुँचा। बड़ी भक्ति तथा विनय से उनकी पूजा की। उसने उन साधुओं से निवेदन किया, कि अपने हितोपदेश के द्वारा जिस सिंह के जीव को उन्होंने पाप-मुक्त कराया था, "सोऽहं हरिः सुरवरोस्मि सुरेन्द्रकल्पः"— मैं वही सिंह हूँ। अब सुरेन्द्रतुल्य वैभव युक्त महर्द्धिक देव हूँ। वास्तव में "कम्योन्नतिं न कुरुते भुवि साधुवाक्यं" (६७) जगत् में साधुओं की वाणी किस की उन्नति नहीं करती है ? इस प्रकार उन यतीन्द्रों की पुनः २ पूजा कर वह सिंहकेतु देव अपने स्वर्ग के विमान में आ गया। नरक की अवस्था में यदि पापोदय की पराकाष्ठा है, तो देव पर्याय में पुण्य कर्म का भी अपूर्व विपाक पाया जाता है। देवों को सर्व प्रकार के सुख स्वर्ग में प्राप्त होते हैं।

दिव्य जीवन—उस देव पर्याय पर कविवर भूधरदास जी ने इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

वदन चन्द्र उपमा धरै, विकसित वारिज नैन।
अंग अंग भूषण लसैं, सब बानक सुख दैन ॥ ५८ ॥

सुन्दर तन सुन्दर बदन, सुन्दर स्वर्ग - निवास।
सुन्दर बनिता मण्डली, सुन्दर सुर - गन दास ॥ ५९ ॥

अणिमा महिमा आदि दे, आठ ऋद्धि फल पाय।
सुर सुछंद क्रीड़ा करै, जो मन बरतै आय ॥ ६० ॥

सुनत गीत संगीत धुनि, निरखत निरत रसाल।
सुख सागर में मगन सुर, जात न जानै काल ॥ ६१ ॥

लोकोत्तम सब संपदा, अनुपम इन्द्री भोग।
सुफल फलो तरु - कल्पतरु, मिलो सकल सुख जोग ॥ ६२ ॥

शंका—कोई व्यक्ति मनुष्य पर्याय के क्षुद्र सुखों में तो अत्यन्त गृद्धता धारण करते हैं, विषयों की लोलुपता वश पशुओं को भी नीचा दिखाने वाले आचार तथा हीन विचार धारण करते हैं; धन प्राप्ति के लिए निकृष्ट कार्य-जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि करने में तनिक भी संकोच नहीं करते। कुल धर्म, सदाचार आदि की उन्हें तनिक भी परवाह नहीं रहती है; किन्तु जब स्वर्ग का वर्णन आता है, तब कहने लगते हैं, कि स्वर्ग के सुखों में क्या रखा है। वे तो अत्यन्त तुच्छ हैं। उनसे मानसिक संताप बढ़ता है। देखो न, मरते समय देवों को महान मानसिक वेदना होती है।

समाधान—ऐसे विचार तथा ऐसी धारणा अज्ञान तथा भ्रान्ति मूलक है। पुण्य कर्म के उच्च परिपाक को प्राप्त देव पद में जो इंद्रिय जनित सुख मिलता है, उसकी मनुष्य कल्पना नहीं कर सकता है। एक शरीर को ही देखा जाय, तो ज्ञात होगा कि जहाँ मनुष्य का शरीर मूत्र, पुरीष, रुधिर, मांस आदि का भयंकर भण्डार तथा वीभत्सता का विचित्र पिण्ड है। वहाँ देव पर्याय का वैक्रियिक शरीर सात धातुओं से

रहित होता है। मनुष्य पर्याय में पापी पेट को भरने की फिकर सबको करनी पड़ती है, किन्तु देवों को मनोवांछित पदार्थ कल्पवृक्षों के द्वारा अनायास प्राप्त होते हैं। इसी कारण पूज्यपाद स्वामी सदृश महान अध्यात्म-वेत्ता आचार्य ने स्वर्ग के सुखों को उपमा से अतीत कहा है। उनकी उपमा वे ही हैं।

ऐसे अपूर्व सुखों का उपभोग देव पर्याय में होता है; यह कथन आगम-भक्त मुमुक्षु स्वीकार करता है, किन्तु उसके मनमें यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि स्वर्ग में आत्म-कल्याण का क्या साधन है ? देव पर्याय में अप्रत्याख्यानाव करण कषाय का उदय पाया जाता है, इससे वे तनिक भी संयम नहीं पाल सकते हैं; तब वे अपनी आत्मा की शान्ति के हेतु क्या सामग्री वहां प्राप्त करते हैं ? इस सम्बन्ध में एक उपयोगी बात याद आती है। स्व० आचार्य शान्ति सागर महाराज ने एक बार कहा था, "हम लोगो को व्रती बनाते हैं। उससे वे लोग देव पर्याय में जाकर अपूर्व सुख भोगेगें, तो क्या हमें इसका दोष लगेगा ? हमने कहा था "महाराज ! इस विषय में आपही शंका का समाधान कर सकते हैं।"

उन्होंने समाधान में कहा था—"व्रती बनाने का हमारा यह भाव है कि लोग पाप का परित्याग करके दुःख से बचें, तथा देव पर्याय पाकर तीर्थंकर भगवान के समवशरण में जाकर साक्षात् सर्वज्ञ वाणी सुनकर सम्यक्त्व प्राप्त करें। आत्मा अनात्मा का रहस्य समझें। मिथ्या श्रद्धा का परित्याग करें। नंदीश्वर के जिन बिम्बों का दर्शन करें। इस प्रकार व्रत धारण करने वाला सहज ही सागरों पर्यन्त दुःखों से छूटकर आत्मकल्याण की महान सामग्री प्राप्त कर लेता है। आज ऐसे समर्थ अनुभवी सत्पुरुष नहीं हैं, जो वस्तु के रहस्यों का भली प्रकार प्रतिपादन करते हुए हमारी मोह निद्रा को दूर कर सकें।" इस समाधान के सिवाय आचार्य महाराज ने यह भी कहा था, कि "हमें धन तथा वैभव संपन्न, विद्या आदि से भूषित व्यक्तियों को देखकर एक प्रकार से खेद होता है और उन पर दया आती है, कि ये लोग विषय भोगों में मस्त हो रहे हैं। ये आगामी भव की तनिक भी चिन्ता नहीं करते हैं, किन्तु यहां ही पुण्य की पूंजी समाप्त होने के पश्चात् इनकी आगामी भव में क्या अवस्था होगी ?"

प्रश्न—एक व्यक्ति ने आचार्य महाराज से पूछा था "आप व्रत का उपदेश क्यों देते हैं, बिना व्रत के भी मन्द कषाय के द्वारा अव्रती जीव स्वर्ग जाता है।"

उत्तर—उसके समाधान हेतु गुरुदेव ने कहा था, अव्रती के स्वर्ग जाने का निश्चय नहीं है। असंयम तथा विषय भोग में फंसे हुए जीव का प्रायः कुगति में ही पतन होता है। जब व्रत नियम धारण कर कुलिंगी साधु तक स्वर्ग में जाते हैं, तब सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा को शिरोधार्य करके व्रत पालन करने वाले जीव को क्यों न निश्चय से देव पर्याय प्राप्त होगी? अतः पाप पूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग करने में सदा तत्पर रहना चाहिए। प्रमादी नहीं बनना चाहिये।

देव पर्याय प्राप्त करने पर भव्य जीव में धर्म पर गहरी श्रद्धा उत्पन्न होती है। उसे प्रत्यक्ष ज्ञात हो जाता है कि पुण्य करके अमुक जीव ने किस प्रकार की आनन्द प्रद सामग्री प्राप्त की है और किसने पापी जीवन के फलस्वरूप पतित अवस्था या हीन पर्याय पाई है। अवधि-ज्ञान के द्वारा देव भूत, भविष्य, वर्तमान की अनेक पर्यायें सुस्पष्ट रीति से जानते हैं। सुरलोक में उत्पन्न होते ही अवधि ज्ञान द्वारा सर्व परिस्थिति सुव्यक्त हो जाती है। पारस पुराण में लिखा है :—

अवधि जोड़ सब जान्यो देव, व्रत को फल पूरब भव मेव ॥ ५२ ॥
जिन शासन शंसो बहु भाय, धर्म विषै दिढ़ता मन लाय।
सदा सासते भी जिन धाम, पूजा करी तहां अभिराम ॥ ५३ ॥
महा मेरु, नन्दी-सुर आदि, पूजे तहं जिन-बिम्ब अनादि।
कल्याणक पूजा विस्तरै, पुण्य भण्डार देव यों भरै ॥ ५४ ॥

तिलोय-पण्णत्ति में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि देव जिनेन्द्र देव की पूजा कर्म क्षय के हेतु करते हैं तथा मिथ्या-दृष्टि देव भगवान को कुल देवता मानकर पूजते हैं।

सम्माइट्ठी देवा कुव्वंति जिणवराण सदा।
कम्मक्खवण-णिमित्तं णिब्भरभत्तीए भरिद-मणा ॥ ५८८ ॥

सम्यग्दृष्टि देव कर्म-क्षय के निमित्त सदा मनमें महान भक्ति सहित होकर जिन भगवान की पूजा करते हैं।

मिच्छाइट्ठी देवा णिच्चं अच्चंति जिणवरप्पडिमा।
कुलदेवदाओ इअ किर मण्णंता अण्ण-बोहण-बसेण ॥५८६॥

मिथ्यादृष्टि देव अन्य देवों के सबोधन से ये कुल देवता हैं ऐसा मानकर नित्य जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा करते हैं। यहाँ 'नित्य' शब्द ध्यान देने योग्य हैं, कि उन पुण्यशाली जीव प्रतिदिन भगवान की पूजा करते हैं। वहाँ प्रमादी जीवन नहीं है, जैसा यहाँ देखा जाता है है कि विरले धनिक लोग ही भगवान की आराधना में तत्पर पाए जाते हैं। वैभव के लाड़ले लोग भोग और विषयों की सेवा में ही अपना सारा समय व्यतीत करते हैं। इससे उनको अपनी आत्मा के कल्याण हेतु उद्योग करने को समय ही नहीं मिल पाता है।

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोय-पण्णत्ति में यह लिखा है :—

गब्भावयार-पहुदिसु उत्तर - देहा सुराण गच्छंति।
जम्मट्ठाणेसु सुह मूलसरीराणि चेट्ठंति ॥ ५९५ ॥

गर्भ, जन्म आदि कल्याणकों मे देवो के उत्तर शरीर जाते हैं और उनके मूल शरीर सुख पूर्वक जन्म स्थानों में स्थित रहते हैं।

स्वर्ग में जिनेन्द्र भक्ति द्वारा आत्मा की मलिनता धोने का अपूर्व सुयोग प्राप्त होता है। वे देव अकृत्रिम जिन-चैत्यालयों में जाकर रत्नमयी प्रतिमाओं की अष्ट द्रव्यों से पूजा करते हैं।

गृहस्थ के महान आरंभ मे फसा हुआ व्यक्ति मंदिर में जाकर बिना द्रव्य के खड़ा हो जाता है और कभी-कभी कह बैठता है, द्रव्य पूजा में क्या रखा है? भाव भर चाहिए।

ऐसे भ्रान्त विचार वालों को तिलोय-पण्णत्ति से यह जानना चाहिये कि देव लोग भी बिना द्रव्य के भगवान की पूजा नहीं करते हैं। उनकी पूजा में आठ द्रव्य कही गई हैं। द्रव्य का भाव पर प्रभाव पड़ता है।

जल-गंध-कुसुम-तंदुल-वरचरु-फल-दीव-धूव-पहुदीणं।
थुव्वंते थुणमाणा जिणिंद पडिमाणि देवाणं ॥ ७२—५ ॥

देव जल, सुगंध, पुष्प, तंदुल, श्रेष्ठ नैवेद्य, फल, दीप तथा धूप आदि द्रव्यों द्वारा जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुति पूर्वक पूजा करते हैं। नन्दीश्वर द्वीप की वंदनार्थ जाते हुए देवगण अपने हाथ में मंगलमय द्रव्य लेकर जाते हैं। इस सम्बन्ध में तिलोय पण्णत्ति का यह कथन ध्यान देने योग्य है :—

एरावणमारूढो दिव्वविभूदीए भूसिदो रम्मो।
णालियर-पुण्णहत्थो सोहम्मो एदि भत्तीए ॥ ८४—५ ॥

इस समय दिव्य विभूति से विभूषित रमणीय सौधर्म इन्द्र हाथ मे नारियल को लिए हुए भक्ति से ऐरावत हाथी पर चढ़कर यहाँ आता है।

वरवारणमारूढो वररयणविभूसणेहिं संहंतो।
पूगफलगोच्छहत्थो ईसाणिंदोवि भत्तीए ॥ ८५—५ ॥

उत्तम हाथी पर आरूढ़ और उत्कृष्ट रत्नविभूषणों से सुशोभित ईशान इन्द्र भी हाथ में सुपारी रूप फलों के गुच्छे को लिए हुए भक्ति से यहाँ आता है।

अन्य देव भी इसी प्रकार प्रभु की भक्ति करते हैं।

सनत्कुमार इन्द्र सिंह पर आरूढ़ होकर आम्रफलों के गुच्छों को लाता है। माहेन्द्र घोड़े पर चढ़कर केलों को लिए हुए यहाँ आता है। ब्रह्मेन्द्र हंस पर आरूढ़ हो केतकी पुष्प को हाथ में लेकर आता है (८८-५)। ब्रह्मोत्तर स्वर्ग का इन्द्र कमल को हाथ में लेकर आता है। शुक्रेन्द्र सेवंती पुष्प को लाता है। महाशुक्रेन्द्र अनेक प्रकार के पुष्पों की माला 'वर-विविह-कुसुम दाम-करो'-लेकर आता है। शतारेन्द्र नीलकमल लाता है। सहस्रार इन्द्र अनार के गुच्छे और आनतेन्द्र पनस अर्थात् कटहल फल को—'पणसम-फल' लेकर आता है। प्राणतेन्द्र

तुम्बरू फल के गुच्छों को लाता है। आरणेन्द्र गन्ने को हाँथ में लेकर आता है। अच्युतेन्द्र धवल चमर को हाथ में ले मयूर पर चढ़ वहाँ आता है। भवनत्रिक के देव अनेक फल व पुष्पमालाओं को लेकर नन्दीश्वर द्वीप के दिव्य जिनेन्द्र भवनों मे जाते हैं। ये देवगण अष्टान्हिका पर्व में तन्मय होकर भक्ति के रस में डूब जाते हैं। जिनेन्द्र भगवान की पूजा को स्वामी समंतभद्र ने 'सर्वदुःख-निर्हरणं' – सम्पूर्ण दुःखों को नाश करने वाली कहाँ है।

तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है, कि ये देव अष्टमी से पूर्णिमा पर्यन्त पूर्वाण्ह, अपराण्ह, पूर्वरात्रि और पश्चिम रात्रि में दो दो प्रहर पर्यंत उत्तम भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं। इस सम्बन्ध में ये गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं :—

पुव्वण्हे अवरण्हे पुव्वणिसाए वि पच्छिमणिसाए।
पहराणि दोण्णि दोण्णि वरभत्तीए पसत्तमणा॥ १०२॥
कमसो पदाहिणेणं पुण्णिमयं जाव अट्ठमीदु तदो।
देवा विविहं पूजा जिणिंदपडिमाण कुव्वंति॥ १०३॥

ये देवगण भगवान की पूजा तथा अभिषेक द्वारा पुण्य संचय करते हैं।

तिलोयपण्णत्ति मे यह भी लिखा है, कि वे इन्द्र कुकुम, कर्पूर, चदन, कालागरु और अन्य सुगन्धित द्रव्यों से उन प्रतिमाओं का विलेपन करते हैं :—

कुंकुमकप्पूरेहिं चदणकालागरूहि अण्णेहिं।
ताणं विलेवणाइं ते कुव्वंते सुगंधेहिं॥ १०५॥

वे दाख, अनार, केला, नारंगी, मातुलिंग (बिजौरा नीबू) आम तथा अन्य पके फलों से जिननाथ की पूजा करते हैं। (श्लोक १११ अ. ५)

नन्दीश्वर द्वीप की प्रतिमाओं का सौन्दर्य अपूर्व है। उनकी ऊँचाई ५०० धनुष है। वे प्रतिमाएँ अनादि निधन हैं। राजवार्तिक में

अकलंक स्वामी लिखते हैं : – "वर्णनातीत-विभवाः मूर्ता इव जिन-धर्मा विराजन्ते"-(पृ–१२६)—"उन प्रतिमाओं का वैभव वाणी के अगोचर हैं। वे प्रतिमा मूर्तिमान जैनधर्मरूप प्रतीत होती हैं।" यह अकृत्रिम प्रतिमाओं का कथन नन्दीश्वर की अकृत्रिम मूर्तियों के विषय में भी लागू होता है।

जिनेन्द्र की पूजा, भक्ति तथा साक्षात् जिनेन्द्र देव के कल्याणकों में जाकर उनकी सेवा, आराधना द्वारा अद्भुत निर्मलता प्राप्त होती है। सौधर्मेन्द्र की शची भगवान की आराधना के प्रसाद से एकभव धारण करके मोक्ष जाती है। स्त्री की पर्याय में सम्यक्त्वी का जन्म नहीं होता है। इस आगम की आज्ञा के प्रकाश में यह मानना होगा, कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवी रूप में जन्म धारण नहीं करेगा। अतः इन्द्र की इन्द्राणी बनने वाली आत्मा पहले सम्यक्त्व रहित ही मरण करेगा, ऐसा मानना होगा। जैसे सम्यक्त्वी का जन्म भवनत्रिक के देवों में नहीं होता, उसी प्रकार वह देवी रूप में भी पैदा नहीं होगा। सौधर्मेन्द्र की इन्द्राणी की पर्याय को प्राप्त करने वाला जीव मरते समय नियमतः सम्यक्त्व रहित होगा। ऐसा जीव देवी की पर्याय प्राप्त करने के पश्चात् इतनी विशुद्धता प्राप्त करता है, कि आगामी भव में मनुष्य पर्याय प्राप्त करके वह जीव मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसा नियम कहा गया है। इससे यह स्पष्ट होता है, कि देव पर्याय को प्राप्त करके भी जीव अपनी आत्मा का महान हित कर सकता है। कुछ ऐसे भी देव होते हैं, जो हीन कार्यों में लगे रहते हैं, जैसे अम्बावरीष जाति के असुर कुमार देव। वे महान दुःखी नारकी जीवों को और दुःखी करके आनन्द का अनुभव करते हैं, अतः वे दुष्ट मरण कर नीच पद को पाते हैं। नीच परिणामी देव का पतन एकेन्द्री पर्याय में भी हो सकता है।

यह ज्ञातव्य है कि सिंह की अवस्था में अद्भुत धैर्य सहित संयम को धारण करने वाले उस जीव ने सिंहकेतु नामक सौधर्म स्वर्ग के देव की महिमा अपूर्व थी। उसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन की ज्योति दैदीप्यमान हो चुकी थी, अतः

वह देव विषय-भोगों में अनासक्ति का भाव रखते हुए भगवान की भक्ति, आराधना तथा तत्वचिंतन आदि में अपना विशेष समय देता था। महर्द्धिक देव होते हुए भी वह देव शरीर में विद्यमान अपनी आत्म ज्योति पर सदा दृष्टि रखता था। तत्वज्ञान की अनुपम निधि सम्पन्न होने से वह देव अपूर्व था। वह अंतरात्मा था। उसकी दृष्टि में प्राप्तव्य स्थिति परमात्म-दशा की प्राप्ति थी। वह विवेकी अनुकूल परिणमनों को देखकर रागरूप विकार को नहीं प्राप्त होता था, क्योंकि वह जानता था, कि पुद्गल द्रव्य विविध प्रकार के आकर्षक अथवा अप्रिय परिवर्तनों का केन्द्र है। उस देव ने अनेकबार जिनेन्द्र भगवान के पंच कल्याणकों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त किया था। सर्वज्ञ जिनेन्द्र की अमृततुल्य दिव्यवाणी को सुनने का भी सुयोग उसे अनेकबार प्राप्त हुआ था। जिनवाणी का यह मर्म उस देव के हृदय में अंकित हो चुका था, कि वास्तव में वह आत्मा है, देव पद आदि बाह्य उपाधियाँ हैं। वह पहले पुरूरवा भील था, वह त्रिपृष्ट नारायण हुआ था, वह सिंह भी कहलाता था। वही जीव अब देव हुआ है। वास्तव में पौद्गलिक उपाधियों के कारण ये सब पर्यायें उत्पन्न हुई थीं। यह सब वैभाविक परिणमन है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का स्वाभाविक परिणमन होता है। ऐसी अंतरात्मा के अन्तःकरण में यह शाश्वतिक सत्य प्रतिष्ठित था :—

अहमिक्को खलु सुद्धो दसण-णाणमइयो सदाअरूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥

मैं ज्ञान-दर्शन मय तथा अरूपी शुद्ध आत्मा हूँ। मैं अकेला हूँ, अन्य परमाणु तक भी मेरा कोई नहीं है।

इस लोकोत्तर दृष्टि से समलंकृत रहने के कारण मृत्यु के आगमन की सूचना रूप सामग्री उस देव को व्याकुल तथा व्यामुग्ध न बना सकी। ऐसा आगम में कहा है कि देवों की मृत्यु के छह माह शेष रहने पर आभूषणों की दीप्ति मन्द पड़ जाती है। वक्षस्थल में

विद्यमान माला म्लान हो जाती हैं। शरीर की कान्ति भी मन्द पड़ने लगती है। कान्ति तथा प्रभा रहित उस देव का अन्त समीप देख अन्य देव आकर उसे धैर्य बंधाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं—

भो धीर ! धीरतामेव भावयाद्य शुचं त्यज।
जन्म-मृत्यु-जराऽऽतंकभयानां को न गोचरः ॥ ६—१० ॥ महापुराण

हे धीर ! अपने धैर्य भाव को जागृत कीजिए। शोक का त्याग करो। जन्म, मृत्यु, जरा, रोग तथा भय किसे नहीं प्राप्त होते ?

यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः पुरा।
तथा पातोन्मुखः स्वर्गे जन्तोरभ्युदयो ध्रुवम् ॥ १६ ॥

जिस प्रकार उदित हुए सूर्य का अस्त होना पूर्व से ही निश्चित है, उसी प्रकार स्वर्ग में प्राप्त हुए जीवों के अभ्युदय का भी पतनोन्मुख होना निश्चित है।

धीरे-धीरे सौधर्म स्वर्ग के निवास का सुखमय जीवन प्रायः परिसमाप्ति को प्राप्त हो गया। ऐसी परिस्थिति में भी वह सिंहकेतु देव प्रशान्त था। उसने जिनेन्द्र भक्ति के दीपक को अपने मनोमन्दिर में स्थापित कर लिया था, अतः देव पर्याय त्याग करते समय उत्पन्न होने वाला आर्तध्यान उस आत्मा को आकुल-व्याकुल न बना सका।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय।
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ गीता २२—२ ॥

किसी वस्त्र के पुराने होने पर नवीन वस्त्र धारण करते समय पुराने वस्त्र के परित्याग का शोक धारण करना अज्ञानी का धर्म

है। ज्ञानी जीव उस समय अपूर्व धैर्य धारण करता है। ज्ञानी जीव और अज्ञानी प्राणी में यही तो अन्तर है। बाह्य रूपादि की अपेक्षा समान होते हुए भी अंतरंग दृष्टि के कारण उन दोनों में महान भेद पाया जाता है। दो सागर पर्यन्त उस सिंह के जीव देव ने सुख सुख भोगे, किन्तु अब उस सिंहकेतु ने शान्त भाव से दिव्य देह का परित्याग कर दिया। स्वर्ग का सुख चिरस्थायी नहीं है। निश्चितकाल पूर्ण होने पर उस सुख का भी अन्त हो जाता है। संसार का स्वरूप ऐसा ही है।

———

कनकोज्ज्वल नरेश

गुणभद्राचार्य ने उत्तर पुराण में लिखा है कि सिंहकेतु देव का जीव धातकी खण्ड के पूर्व मन्दराचल के पूर्व विदेह क्षेत्र में मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनक प्रभ-नगर के राजा कनकपुंख्य विद्याधर की रानी कनकमाला से कनकोज्ज्वल नाम का पुत्र हुआ।

वर्धमान चरित्र में लिखा है कि कच्छ देश के हेमपुर नगर में कनकाभ राजा की कनकमाला रानी से वह देव कनकध्वज नाम का राजपुत्र हुआ। असग कवि ने लिखा है।

सौधर्मकल्पादव-तीर्य पुत्रः पित्रोस्तपयोः संमदमादधानः।
अनल्पकांति-द्युति-सत्वयुक्तो हरिध्वजोऽभूत्कनकध्वजाख्यः ॥ १८-सर्ग १२॥

विपुल कांति, प्रभाव तथा पराक्रम युक्त हरिध्वज (सिंहकेतु) देव सौधर्म स्वर्ग से अवतीर्ण होकर कनकाभ राजा तथा कनक-माला रानी को आनन्द प्रदान करने वाला कनकध्वज नाम का पुत्र हुआ।

यह बालक उच्च धार्मिक भावनाओं से परिपूर्ण था, इसका संकेत उस जीव की गर्भावस्था रूप स्थिति से प्राप्त होता था। कवि कहता है .—

अकारयच्चारु-जिनाधिपाना-मनारतं गर्भगतोपि मातुः।
यो दौहृदायास-पदेन पूजां सम्यक्त्वशुद्धिं यमिव स्वां ॥ १९ ॥

जिस समय वह शिशु माता के गर्भ में था, उस समय उसने दोहला[1] की पीड़ा के निमित्त से अपनी माता के द्वारा जिनेश्वर की निरन्तर पूजा करवाई। इससे यह प्रतीत होता था, कि वह सम्यक्त्व की शुद्धि को प्रगट करता था।

---

(१) चारित्र-चक्रवर्ती १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज जब अपनी माता सत्यवती के गर्भ में आये थे, तब उनकी माता को यह विशिष्ट दोहला हुआ था, कि सहस्र दल युक्त १०८ कमलों से वैभव पूर्वक जिनेन्द्र भगवान की अभिषेक और पूजा की जाय। उनके समर्थ संपन्न पिता श्री भीमगौड़ा पाटील ने माता सत्यवती की इच्छा पूर्ण की थी तथा यह कथन आचार्य महाराज के ज्येष्ठ बंधु १०८ महामुनि वर्धमानसागर महाराज से हमें ज्ञात हुई थी—देखो-चारित्र चक्रवर्ती ग्रंथ

वह होनहार शिशु क्रमशः वर्धमान होता हुआ समस्त सद्‌गुणों की निवासभूमि बन गया था।

इनके पिता ने मुनि दीक्षा धारण की थी, अतः ये ही प्रजा के प्रेम तथा ममता के केन्द्र स्थल राजा हो गये। बड़े सुख और शांति से कनकोज्ज्वल महाराज का समय व्यतीत हो रहा था। धर्म परायण राजा की प्रजा को भला क्या कष्ट हो सकता है?

एक समय इन्होंने अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान, महान तेजस्वी एक मुनिराज के दर्शन किए। उनका नाम सुव्रत था। इनके विषय में असग कवि का यह चरित्र चित्रण मार्मिक है:—

कृशं निजाङ्गैरकृशं तपोभिः स्थानं शमस्यैकपतिं क्षमायाः।
परीषहाणामवशं वशाक्षं वासांबुजं चारुचरित्र-लक्ष्म्याः॥ ४०-१२॥

वे मुनि कृश अंग युक्त थे, किन्तु तप की दृष्टि से वे कृश नहीं थे। वे शान्त भाव युक्त थे, तथा क्षमा के अद्वितीय पति थे। वे जितेन्द्रिय थे तथा परीषहों के द्वारा विजित नहीं थे अर्थात् वे परीषह-विजेता थे। वे सुन्दर चरित्र रूपी लक्ष्मी के निवास स्थान कमल के समान थे।

उनका दर्शन कर राजा को अपार आनन्द प्राप्त हुआ।

निधानमासाद्य यथा दरिद्रो जात्यंधको नेत्रयुगस्य लाभात्।
यतिं तमालोक्य मुदा तदंगे निजेष्वमात्याविव सो बभूव॥ ४२॥

उन मुनिराज[1] का दर्शन कर वे नरेन्द्र उसी प्रकार आनन्दित हुए, जिस प्रकार महान द्रव्य के भण्डार को प्राप्त कर दरिद्र को हर्ष होता है अथवा जन्मान्ध को नेत्र युगल को प्राप्त कर प्रसन्नता होती है। वह आनन्द उस राजा के शरीर में नहीं समाता था।

---

(१) उत्तर पुराण में मुनिराज का नाम प्रियमित्र आया है तथा उन्हें अवधिज्ञानी बताया है। उनके उपदेश से राजा ने दीक्षा ली तथा सन्यास सहित मरणकर सातवें स्वर्ग में जन्म लिया। वहां तेरह सागर की आयु थी।

राजा ने उन मुनीन्द्र को प्रणाम किया। गुरुदेव ने शांत दृष्टि डालते हुए अपनी वाणी द्वारा 'कर्म क्षय हो,' ऐसे आशीर्वाद के शब्द कहे। मुमुक्षु होते हुए भी उन यतीन्द्र ने राजा के प्रति अनुग्रह बुद्धि धारण की। 'भव्ये मुमुक्षो नेहि निःस्पृहा धीः'—मुमुक्षु तपस्वी भी भव्य प्राणी को प्राप्त कर निस्पृह बुद्धि नहीं होते अर्थात् उनके वीतराग मन में भव्य जीव के कल्याण की कामना उत्पन्न हो जाती है।

धर्म का स्वरूप :—राजा ने उन गुरुदेव से पूछा—"भगवन ! धर्म का स्वरूप क्या वास्तविक है ? इस सम्बन्ध में प्रकाश डालने की कृपा कीजिए।"

आचार्य गुणभद्र के शब्दों में मुनिराज ने कहा था :—

धर्मो दयामयो धर्मं श्रय धर्मेण नीयसे ।
मुक्तिं धर्मेण कर्माणि हंता धर्माय सन्मतिं ॥ २२५ ॥
देहि माऽपेहि धर्मात् त्वं याहि धर्मस्य भृत्यताम् ।
धर्मे तिष्ठ चिरं धर्म पाहि मामिति चिन्तय ॥ २२६—पर्व ७४ ॥

धर्म दयामय है। धर्म को धारण करो। धर्म से मोक्ष प्राप्त होता है। धर्म से कर्म नष्ट होते हैं। धर्म के लिए सद्बुद्धि दो। धर्म से अपनी आत्मा को कभी भी अलग न करो। धर्म के दास बनो। धर्म में सदा स्थिर रहो। हे धर्म ! मेरी सदा रक्षा कर। इस प्रकार धर्म का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए।

वर्धमान चरित्र में लिखा है, कि उन महर्षि से प्रभावित होकर उन परम धार्मिक नरेन्द्र ने राज्य त्यागकर मुनि दीक्षा ली तथा घोर तपश्चर्या की। वे सदा यह सोचते थे—

समुद्धरिष्यामि कथं निमग्नमात्मान मस्माद्भव-माजवंजवात्-तात् ।
संचिंतयन्नित्यगमत्प्रमादं न कुष्टयोगैः स वशीकृताक्षः ॥ ६७-सर्ग १२॥

जिन्होंने सर्व इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है, ऐसे वे मुनीश्वर इस संसार रूपी कीचड़ में निमग्न अपनी आत्मा को किस

प्रकार निकालूं। ऐसा विचार करते हुए घोर तप करते थे। वे प्रतिमायोग, आतापनयोग आदि तपश्चर्याओं में बिल्कुल भी प्रमाद नहीं करते थे। तप के द्वारा उनका जीवन दिव्य रूपता को प्राप्त हो गया था।

मरणकाल के समीप आने पर उन्होंने शास्त्रोक्त पद्धति के अनुसार सल्लेखना की। शरीर को कृश करने के साथ उन्होंने कषायों को भी अत्यन्त क्षीण बनाया था। उन्होंने शुभ परिणामों के साथ शरीर का त्याग करके तपस्या के फल स्वरूप उन्हों ने स्वर्ग की ओर प्रयाण किया।

दिव्यात्मा देवानन्द

कनकोज्ज्वल मुनिराज ने तपश्चर्या के प्रसाद से देव पद पाया। वर्धमान चरित्र में बताया है कि उन्होंने सुर पदवी पाई थी। उनका जन्म कापिष्ठ स्वर्ग में हुआ था। वहाँ द्वादश सागर प्रमाण आयु प्राप्त हुई थी। वहाँ इनका नाम देवानन्द था। असग कवि ने कहा है :—

देवानन्द निजतनुरुचा सम्पदा साधु तन्वन्।
देवानन्दं दधदनुपमं नाम चान्वर्थमित्थम्॥
चक्रे रागं नयनसुभग स्तत्र दिव्यांगनानाम्।
चक्रेऽरागं जिनमपि हृदि द्वादशाब्धि-प्रमायुः॥ ७१—१२॥

उन्होंने अपने शरीर की कान्ति रूप सम्पत्ति द्वारा देवताओं को महान आनन्द प्रदान किया था। इस प्रकार उनका देवानन्द यह नाम सार्थकता को प्राप्त हुआ। नेत्रों को प्रिय देवानन्द ने देवांगनाओं के अन्तःकरण में अनुराग उत्पन्न किया था। बारह सागर वर्ष प्रमाण आयु वाले उस देव ने अपने हृदय में वीतराग जिनेन्द्र को स्थापित किया था।

जिस महान आत्मा को अब छटवें भव में तीर्थंकर महावीर प्रभु की लोकोत्तर अवस्था मिलनी है, उस जीव की निरन्तर वर्धमान विशुद्धता की कौन कल्पना कर सकता है? पहले यही जीव जब मरीचि कुमार की पर्याय में था तथा दीर्घसंसारी था, तब भी यह कुतप के फल से अनेकबार देव हुआ था, किन्तु उसका आत्मा मिथ्यात्व से मलिन संस्कारों को नहीं छोड़ता था, अतः उसकी बहिर्मुख वृत्ति वृद्धिगत होती जाती थी। इसीसे उसका इतना गहरा अधःपात हुआ था, कि वह वृक्ष आदि की स्थावर पर्याय तक मे चला गया था। वहाँ इसने अपार कष्ट भोगे थे।

जीव के भावों की स्थिति बड़ी अद्भुत है। भगवान ऋषभदेव के पौत्र होते हुए तथा महान धार्मिक परिवार का अङ्ग होते हुए भी उस जीव ने बहिरात्म भावना का परित्याग नहीं किया था, इससे उसको अवर्णनीय दुःख उठाने पड़े; किन्तु संसार परिभ्रमण समाप्त-प्राय होने पर अत्यंतक्रूर तथा हिंसक-सिंह की पर्याय में उस जीव को चारण मुनियुगल के द्वारा अध्यात्मिक प्रकाश मिल गया और तब से यह जीव निरन्तर उन्नति के पथ पर प्रगति कर रहा है। उसे पहले सौधर्म स्वर्ग में दो सागर प्रमाण आयु मिली थी, अब आयु तथा सुख की मात्रा में भी महान वृद्धि हो गई। सम्यक्त्व रत्न से भूषित इस जीव को इन्द्रिय जनित श्रेष्ठ सुख मिलता था, तो आत्मस्वरूप के चिंतन द्वारा यह अतीन्द्रिय आत्मानन्द का भी रसास्वाद लेता था।

महापुराण की यह सूक्ति, "धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वं अधर्मेण पतत्यधः" (११—सर्ग ३०)—धर्म से आत्मा ऊपर जाता है, अधर्म से उसका अधः पतन होता है, यहाँ पूर्णतया चरितार्थ होती है। अब इस जीव ने सच्चे कल्याणकारी धर्म का शरण ग्रहण किया है। सच्चे भगवान जिनेन्द्र को हृदय में स्थान दिया है तथा जिनेन्द्र की वाणी के अनुशासन में जीवन का निर्माण महान कार्य आरम्भ किया है, इससे यह देवानन्द सातिशय पुण्यात्मा बन गया है।

मुनि जीवन में घोर तपश्चर्या द्वारा जिस आत्मा ने मलिनता का त्याग किया था, वही आत्मा शुभोपयोग के कारण शुभ बंध होने से दिव्य पर्याय सम्पन्न हुई है।

पंचास्तिकाय में कुन्द-कुन्द स्वामी ने लिखा है :—

> अरहत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-भत्तो परेण णियमेण।
> जो कुणदि तवो कम्म सो सुरलोग समादियदि ॥ १७१ ॥

जो जीव अरहन्त, सिद्ध, प्रतिमा, तथा प्रवचन की भक्ति धारण करता हुआ तप करता है, वह देवलोक को प्राप्त करता है।

शंका—तपस्या करते हुए भी पुण्य बंध होने का क्या कारण है ? तपस्या के द्वारा निर्वाण का सुख प्राप्त होना था। सम्यक्त्वी होते हुए जब तपस्या की गई, तब मोक्ष नहीं प्राप्त होने में क्या कारण है ?

उत्तर—इसका समाधान यह होगा, कि जीव के भावों में जितनी वीतरागता होगी, उतना वह बन्धन के कुचक्र से बचेगा, किन्तु जितने अंश में रागभाव होगा, उतने अंश में वह कर्मों को बांधेगा। प्रशस्त राग होने पर पाप के स्थान में पुण्य का आस्रव होता है। यदि प्रशस्त राग विशुद्धता प्रचुर है, तो यह जीव लौकान्तिक होता है, सर्वार्थसिद्धि आदि की पदवी पाता है। भावों की न्यूनाधिकता के अनुसार जीव का उत्थान भी न्यून अथवा अधिक होता है। मोक्ष के लिए पूर्ण वीतरागता वांछनीय है।

पंचास्तिकाय में लिखा है :—

> रागो जस्स पसत्थो अणुकंपा–संसिदो य परिणामो।
> चित्ते णत्थि कलुस्स पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥ १३५ ॥

जिस जीव के प्रशस्तराग भाव हैं तथा जिसके परिणाम अनुकम्पा से परिपूर्ण हैं और जिसके चित्त में मलिनता नहीं है, उस जीव के पुण्य कर्म का आस्रव होता है।

प्रशस्त राग का क्या स्वरूप है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है :—

> अरहंत-सिद्ध-साहुसु भत्ती धम्मम्मि जाय खलु चेट्ठा।
> अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥ १३६ ॥

अरहन्त, सिद्ध साधुओं में भक्ति करना, शुभराग रूप धर्म में उद्योग करना तथा गुरुओं के अनुकूल चलना प्रशस्तराग कहा गया है। अशुभ उपयोग का इस जीव के अनादिकाल का अभ्यास है। आर्तध्यान रूप अशुभ उपयोग रूप जीव का परिणमन अनायास हो जाया करता है। महापुराण में लिखा है :—

प्रयत्नेन विनैवैतद् असद्ध्यानद्वयं भवेत्।
अनादि - वासनोद्भूतम् अतस्तद्विसृजेन्मुनिः ॥ ५४–२१ पर्व ॥

अनादि काल की वासना से उत्पन्न आर्त-रौद्र रूप असत ध्यान द्वय बिना प्रयत्न पाए जाते है, अतः मुनि का कर्तव्य है कि वह दुर्ध्यानों का त्याग करे।

आत्म-निरीक्षण करने पर धर्मात्मा सज्जन वह बात सोच सकता है, कि किस प्रकार मलिन ध्यान इस जीव की परणति को अप्रशस्त राग तथा द्वेष के भंवर में फंसा दिया करते हैं। यह तो सर्वज्ञ भगवान की मंगलमय वाणी का प्रसाद है कि उसके द्वारा व्यवस्थित रीति से कर्म शत्रुओं के क्षय का गुरु मंत्र ज्ञात होता है। भगवान ने कहा है, सर्व प्रथम अप्रशस्त राग के त्याग करने का उद्योग करे। राग भाव महान राक्षस से भी भीषण है, उसका त्याग करना सामान्य बात नहीं है। "मैंने राग छोड़ दिया, मैं वीतराग बन गया"—ऐसी शब्द रचना मात्र से मनुष्य वीतराग नहीं बन जाता है। वीतरागता बड़ी कठिन बात है। शुक्लध्यान में शुद्धोपयोग होता है, उस शुक्लध्यान को धारण करके उपशम श्रेणी पर आरुढ़ होने वाले मुनिराज ग्यारहवें गुणस्थान में उपशान्त कषाय होने से राग-द्वेष-मोह के विकार रहित विशुद्ध परणति का रसास्वाद करते हैं, किंतु क्षण भर में उपशान्त हुआ राग रूप विकार उदय को प्राप्त होकर पुनः जीव को नीचे पहुँचा देता है।

भगवान ऋषभनाथ जब वज्रनाभि मुनि की पर्याय में थे, तब उन्होंने अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकर के समीप सोलह कारण भावनाओं का चिंतन किया था तथा तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया था। उनके परिणाम अत्यन्त निर्मल थे। एक बार वे उपशम श्रेणी पर आरुढ़ हुए थे। उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नाम के शुक्ल-ध्यान को प्राप्त किया था। मोहनीय का उपशम हो जाने से उन्हें औपशमिक चरित्र प्राप्त हुआ था। ग्यारहवें गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त ठहर कर वे वहाँ से च्युत होकर स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थान में आ गए। अन्त में वे दूसरी बार उपशान्त मोह गुणस्थान को प्राप्त हुए थे, तत्पश्चात् मरणकर वे सर्वार्थ सिद्धि में अहमिन्द्र हुए थे। (महापुराण पर्व ११)

परिणामों की गति विचित्र है, उनका क्षण-क्षण में अद्भुत परिवर्तन होता रहता है, अतः उनकी रक्षा आवश्यक है। क्षणभर में प्रमाद द्वारा महान योगी महामुनि तक की सर्व तपस्या क्षय को प्राप्त हो सकती है।

इससे सर्वप्रथम अशुभ ध्यान से अपनी रक्षा करनी चाहिए। शुद्ध अवस्था का भजन गाने से, चर्चा करने से तथा अहंकार के नशे में आकर स्वयं को शुद्ध समझने से यह जीव अशुभ ध्यान से अपने को नहीं बचा सकता है। इसके लिए जीवन को पूर्णतया संतुलित सदाचार समलंकृत तथा धर्माचरणपूर्ण बनाने में अधिक से अधिक उद्योग करना चाहिए। जीव के परिणामों में जितना प्रवृत्ति का अंश होता है, उतना वह राग द्वेष की कालिमा युक्त बन जाता है, उससे बंध होता है। उस राग परिणाम के द्वारा जो शुभ बंध होता है, उसका फल देवादि पर्यायों में प्राप्त होता है।

प्रवचनसार में शुभोपयोग के विषय मे लिखा है:—

देवद-जदि-गुरु-पूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओग-प्पगो अप्पा ॥ ६६ ॥

जो जिनेन्द्र देव, साधु और गुरु पूजा में तथा दान, सुशील और उपवासादिक में लीन है, वह आत्मा शुभ उपयोग युक्त है।

भ्रामक धारणा—जो यह सोचते हैं, सम्यक्त्वी के बंध नहीं होता है, अतः सम्यक्त्वी जीव क्यों देव पर्याय में जाकर सोने की बेड़ी पहिनेगा, वह तो लोहे की अथवा सोने की बेड़ियों में भिन्नता नहीं देखता है, वे आगम से विपरीत कल्पना किए हुए हैं।

सम्यक्त्वी के बंध नहीं होता है, यह कथन अयोग केवली की अपेक्षा पूर्ण सत्य है, क्योंकि अयोगी जिन भी सम्यक्त्वी हैं, किन्तु चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती को बंध रहित सोचना आगम की आज्ञा के विपरीत है। बंध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग कहे गए हैं। जितने बंध के कारण शेष हैं, उनके द्वारा बंध अवश्यं

भावी है। यदि बंध के कारण रहते हुए भी बंध रूप कार्य न हो, तो उनके मध्य कार्य कारण भाव का लोप होगा। कारण के रहते हुए कार्य का न होना अद्भुत बात है। षट्खंडागम सूत्र के क्षुद्रक बंध खण्ड में प्रतिपादित सम्यक्त्वी के बंध होता है या नहीं होता है, इस प्रश्न के समाधान रूप यह सूत्र महत्वपूर्ण है :—

सम्यक्त्वी के बंध—"सम्मादिट्ठी बंधावि अत्थि, अबंधावि अत्थि" सम्यक्त्वी के बंध होना अतः वह बंधक है तथा अबंधक भी है।

इसका क्या कारण है ?

धवला टीकाकार कहते हैं, "सासवाऽणा-सवेसु सम्मद्दंसगुवलंभा" आस्रव युक्त चतुर्थ से त्रयोदशगुणस्थान पर्यन्त आस्रव सहित, चौदहवें गुणस्थान सहित आस्रव रहित इन दोनों के सम्यक्त्व पाया जाता है।

इस आगम के स्पष्ट कथन को देखते हुए जो कोई अध्यात्म-शास्त्र का आश्रय ले सम्यक्त्वी को सर्वथा बंध रहित मानता है, वह आगम के विपरीत कथन करता है। यह भी बात सदा स्मरण योग्य है, कि अकेला सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण नहीं कहा गया है। मोक्ष का कारण रत्नत्रय धर्म है।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने रयणसार में लिखा है :—

सम्मत्तगुणाइ सुगइ, मिच्छादो होइ दुग्गइ णियमा।
इदि जाण किमिह बहुणा ज ते रुच्चेइ त कुणहीं॥ ६६॥

सम्यक्त्व रूप गुण से सुगति प्राप्त होती है, मिथ्यात्व के द्वारा नियम से दुर्गति मिलती है, यह बात जानलो। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है ? जो तुम्हें रुचे, वैसा करो।

सम्यक्त्वी जीव के मुनि पदवी स्वीकार करने पर जब पूर्णतया मन गुप्ति, वचन गुप्ति तथा काय गुप्ति रूप संवर का कारण प्राप्त होता है, तब बंध रुक कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त होता है। गुप्ति की प्राप्ति न होने पर सम्यक्त्वी जीव व्रताचरण करते हुए अपने शुभ भावों से पुण्य का बंध करता है।

जो सम्यक्त्व रूपी चिंतामणि रत्न के बदले में कांच के खण्डों को रत्न मानकर अपने अद्भुत सम्यक्त्व के प्रभाव से पापों को करते हुए भी अबंधपना की कल्पना करते हैं, वे सांख्य सिद्धान्त के समान सोचते हैं, क्योंकि सांख्य दर्शन में प्रकृति को ही कर्ता माना है, पुरुष को अकर्ता स्वीकार किया है। ऐसी मिथ्या धारणा के पंक से अपने को निकाल कर विवेकी गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह पाक्षिक, नैष्ठिक तथा साधक रूप सागार धर्म का यथाशक्ति परिपालन करने में तनिक भी प्रमाद न करे; अन्यथा समय चूकने पर कुगति में गिरकर पछताना ही हाथ लगेगा।

तीर्थंकर महावीर बनने वाले सिंह के जीव ने कनकोज्वल राजा का वैभव त्यागकर जो घोर तप किया था, उससे उसे स्वर्ग का महान सुख प्राप्त हुआ था। सुख के सागर में निमग्न रहने से सागरों पर्यन्त समय सहज ही समाप्त हो गया। अब देवानन्द की आयु शीघ्र ही समाप्त होने को है।

जो बुद्धिमान व्यक्ति धर्मरूपी वृक्ष के मधुर फलों का उपभोग करते हुए उस वृक्ष के मूल में श्रद्धा, संयम आदि सद्वृत्ति रूप जल डालता है, उसका पुण्यरूपी भण्डार अक्षय रूपता प्राप्त करता है। मिथ्यात्वी जीव मन्दकषायादि कारणों से सुर-पदवी प्राप्त करता है, किन्तु वहाँ वह अपने पुण्य भण्डार के कोप-क्षय की जरा भी चिन्ता नहीं करता है, फलतः स्वर्ग से चय करते समय वह दुःख की विचित्र मूर्ति बनता हुआ आकार की दृष्टि से देव रहता है, किन्तु अन्तः-करण की अपेक्षा वह नारकी जीव सदृश बन जाता है। मिथ्यात्व ज्वर से संतप्त हो वह पूर्ण अज्ञानी बनकर कहता है—

हा स्वर्ग ! विभ्रमोपेत-दिव्यनारी-जनांचित ।
किं मां नधारयस्यार्त्तं निपतंतं निराश्रयं ॥

हे स्वर्ग ! तू नाना प्रकार के विलास युक्त देवांगनाओं से संयुक्त है। क्या तू यहां से निराश्रय, व्यथित तथा गिरते हुए मुझे धारण नहीं करेगा ?

स्वर्ग में बहुत समय तक निवास करने से अत्यन्त ममता पूर्वक वह मोही देव उस स्वर्ग से ही अपनी मनोव्यथा व्यक्त करता हुआ कहता है :—

शरणं कं प्रपद्येऽहं किं कृत्य का गतिर्मम ।
केनोपायेन वा मृत्युं वंचयिष्यामि तत्वतः ॥

हे स्वर्ग बता तो सही अब मैं किसकी शरण जाऊँ, क्या करूँ, मेरी क्या गति होगी ? यथार्थतः मुझे वह उपाय बता, जिससे मैं मृत्यु को धोखा दे सकूँ ।

सहजेन गतं क्वापि लावण्येनापि देहतः ।
हा हा ! पुण्यक्षये किंवा विश्लेषं नोपगच्छति ॥

हे स्वर्ग ! मेरे शरीर से नैसर्गिक लावण्य भी न जाने कहाँ चला गया है ? हाय हाय, पुण्य के क्षय हो जाने पर किस किस का वियोग नहीं होता है ?

ऐसी स्थिति उन देवों की नहीं होती जो सर्वदा अपने अंतः-करण में जिनेन्द्र भगवान के चरणों की पूजा करते हैं तथा जिनेन्द्र देव के अनुचर सदृश रहते हैं । अकृत्रिम चैत्यालयों का दर्शन, पूजा, वन्दना, तीर्थंकर के पंचकल्याणकों में सम्मिलित होना, शास्त्रों का रहस्य तत्वगोष्ठी में विचारना, आत्म स्वरूप का चिंतन आदि पवित्र कार्यों द्वारा वे आगामी उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करते हैं ।

देवानन्द के भाव :—देवानन्द का हृदय सच्चे सम्यक्त्व से समलंकृत था । तीर्थंकर परमदेव तथा महान मुनीन्द्रों के निकट जाकर उसने अपनी आत्मा को विवेक के पुण्य रस द्वारा अत्यन्त विशुद्ध बनाया था । अतः मृत्यु की वेला समीप होने पर वह सागर की तरह गम्भीर था । मृत्यु को वह शरीर की मृत्यु मानता था । आत्मा की कभी मृत्यु नहीं हुई, न हो सकती है । वह अजर है, अमर है । क्या "मैं" कभी मर सकता हूँ ?

इस शरीर को सदा से धारण करता चला आ रहा हूँ। एक के बाद दूसरा शरीर मिलता ही है। इसकी क्या चिन्ता, क्या व्यथा क्या दुःख? अब तो मेरा भाग्य सूर्य उदय को प्राप्त होगा? देव पर्याय में और तो सब कुछ प्राप्त था, किन्तु संयम को धारण करने की पात्रता मुझमें नहीं थी। अब शीघ्र मृत्यु के द्वारा मैं उस नरजन्म को प्राप्त करूँगा, जहाँ मैं कर्मक्षय के समर्थ कारण संयम की शरण जा सकूँगा। देव पर्याय में अकेला सम्यक्त्व रहता है। उसके साथ सागरों पर्यन्त समय चला जाता है किन्तु वह मोक्ष की दूरी को दूर नहीं कर पाता। उसके साथ संयम का सम्बन्ध आवश्यक है। अब थोड़ा समय बचा है। मैं मनुष्य पर्याय प्राप्त कर दिगम्बर जैन ऋषि की मुद्रा धारण करूँगा तथा कर्म क्षय के उद्योग में त्रियोग से संलग्न होऊँगा। आओ मृत्यु, आओ। तुम्हारा स्वागत है।

अब मृत्यु अत्यन्त समीप आ गई। देवानन्द दिव्यानन्द में मग्न हैं। जिनेन्द्र चन्द्र का मनोमन्दिर में दर्शन कर रहे हैं। धर्मध्यान में निमग्न हैं। तलवार जैसे म्यान से भिन्न है, उसी प्रकार ज्ञानचेतना युक्त आत्मा भी पौद्गलिक शरीर से भिन्न है। आत्म विज्ञान की दिव्य ज्योति से समलंकृत देवानन्द ने शान्त परिणामों के साथ वैक्रियिक शरीर का परित्याग कर दिया।

०———०

हरिषेण नरेश

अब देवानन्द स्वर्ग में नहीं है।

शान्त तथा निर्मल भावों सहित मरणकर वह देवानन्द देव सर्व प्रकार से समृद्ध अवंती देश में विद्यमान[1] उज्जयिनी नगरी में आकर महाराज वज्रसेन की महारानी सुशीला के गर्भ से हरिषेण नामक पुत्र हुआ। वह गम्भीर स्वभाव वाला, बुद्धिमान तथा अतिशय सुन्दर था। उस भाग्यशाली राजकुमार को प्राप्त कर राजा-रानी बहुत हर्षित हुए। ठीक है "प्रतीये भुवि न कस्य सुपुत्रः"– सत्पुत्र लोक में किसे आनन्ददायक नहीं होता?

एकबार महाराज वज्रसेन हरिषेण के साथ श्रुतसागर मुनिराज के समीप गये। उन धर्ममूर्ति मुनीश्वर के मुख से धर्म तत्व का स्वरूप श्रवण कर राजा के चित्त में विषयों से विरक्ति का पवित्र भाव उत्पन्न हुआ। अतः उन्ही मुनिराज के समीप राजा वज्रसेन ने दिगम्बर दीक्षा धारण की। उन्होंने यह उचित ही किया। "संसृते र्भवि विभेति भव्यः"— भव्य जीव संसार से भयभीत होते हैं।

राजकुमार हरिषेण को राज्यपद मिला। हरिषेण महाराज के जन्मान्तर के तथा इस जन्म के भी अत्यन्त उच्च संस्कार थे। इससे उन्होंने भी मुनीन्द्र श्रुतसागर महाराज के समीप श्रावकों के व्रत ग्रहण किए थे।

वर्धमान चरित्र में लिखा है:—

> पूर्वजन्मनि स भावित सम्यग्दर्शनेन विमलीकृत चित्तः।
> श्रावकव्रतमशेषमुवाह श्रीमतामविनयो हि सुरः ॥ २३—१३ ॥

---

[1]उत्तरपुराण में कौशलदेश का साकेतनगर जन्म स्थान कहा गया है।

पूर्व जन्म में भावना किए गए सम्यक्त्व के प्रभाव से महाराज हरिषेण का अन्तःकरण निर्मल हो चुका था, अतः उन्होंने श्रावक के संपूर्ण व्रत स्वीकार किए। गुण रूप लक्ष्मी से जो श्रीमंत होते हैं, उनसे अविनय भाव दूर रहता है।

हरिषेण महाराज राज्य का शासन अहिंसात्मक पद्धति से करते थे। उनका शासन पुण्यवर्धक था, पाप का कारण नहीं था। जो शासक जीव हिंसा, पशुवध, मांसाहार आदि क्रूरप्रवृत्तियों को प्रश्रय प्रदान करता है, वह पाप प्रवृत्तियों का प्रेरक तथा प्रोत्साहन कर्ता होने से कुगति का पात्र होता है। हरिषेण महाराज का शासन न्यायमूलक था।

स्पृश्यते स दुरितेन न राज्ये संस्थितोपि खलु पाप-निमित्ते।
संगमर्जित - शुचिप्रकृतित्वात्तप्रवत्सरसि पक-लवेन ॥ २४-१३ ॥

जिस प्रकार कमल सरोवर में निर्मल रहा आता है, वह कीचड़ के लेश से भी लिप्त नहीं होता है; इसी प्रकार वह राजा भी पाप संचय में निमित्त रूप राज्य मे रहते हुए भी विषयासक्ति रूप परिग्रह रहित होता हुआ निर्मल परिणाम धारण करने से पाप से स्पर्श नहीं किया गया था।

हरिषेण महाराज की मनोवृत्ति बड़ी पवित्र तथा अलौकिक थी। उनके समान शासक अत्यन्त दुर्लभ है।

शासतोपि चतुरंबुधिवेला-मेखलां वसुमतीं मतिरस्य।
चित्रमेतदनुवासरमासीन्निःस्पृहेति विषयेऽपि समस्ते ॥ २५ ॥

चार दिशाओं के समुद्र का तट ही है करधनी जिसकी ऐसी पृथ्वी का शासन करते हुए भी इस राजा की बुद्धि प्रतिदिन विषयों की आकांक्षा से रहित थी, यह महान आश्चर्य की बात है।

तारुण्य को प्राप्त कर भी हरिषेण महाराजा का चित्त विकारभाव विमुक्त था।

बिभ्रतापि नव यौवन-लक्ष्मीं शांतता न खलु तेन निरासे।
स प्रशाम्यति न किं तरुणोपि श्रेयसे जगति यस्य हि बुद्धिः ॥ २६ ॥

हरिषेण महाराज ने नव-यौवन लक्ष्मी को धारण करते हुए भी शांत भाव का परित्याग नहीं किया था। वास्तव में बात यह है कि जिसकी बुद्धि इस जगत में कल्याण के मार्ग में लगी है, वह तरुण होने पर क्या प्रशान्त नहीं रहता है? जहां सामान्य धन, संपत्ति पाकर मनुष्य उन्मत्त बन पुण्य के जनक धर्म को भूल जाता है, वहां हरिषेण नरेश का धर्म प्रेम आश्चर्य जनक था। असग कवि कहते हैं :—

स त्रिकालमभिपूज्य जिनेन्द्रं गंध-माल्य-बलि धूप-वितानैः।
भक्ति-शुद्ध-हृदयेन ववंदे तत्फलं हि गृहवास-रतानाम् ॥ २६ ॥

वह राजा प्रभात, मध्याह्न तथा संध्या के समय गध, पुष्पमाला, नैवेद्य तथा धूप के समूह द्वारा भक्ति से निर्मल अन्तःकरण पूर्वक जिनेन्द्र भगवान की पूजा तथा वंदना करता था। गृहस्थों के गृहवास का यही फल है। कुंद-कुंद स्वामी का रयणसार में निरुपित यह कथन महत्वपूर्ण है :—

जिणपूजा मुणिदाणं करेइ जो देइ-सत्तिरूवेण।
सम्माइट्ठी सावयधम्मी सो होइ मोक्ख-मग्ग-रओ ॥ १३ ॥

जो जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है तथा अपनी शक्ति के अनुसार मुनि-दान भी करता है, वह सम्यक्त्वी है। वह श्रावक धर्म युक्त है, वह मोक्ष-मार्ग में अनुरक्त है।

जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला अनन्त आनन्द को शीघ्र प्राप्त करता है। भगवान की पूजा के रहस्य को न समझ कोई अविवेकी उसे मोक्ष के लिए बाधक सोचते हैं। ऐसों के भ्रम को दूर करते हुए महर्षि कुन्द-कुन्द कहते हैं वह "मोक्ख-मग्गरओ"— मोक्ष मार्ग में अनुरक्त है। उसे मोक्षमार्ग से विमुख मानना जिनेन्द्र भगवान की देशना के पूर्णतया प्रतिकूल है। ऐसी विपरीत धारणाएँ मिथ्यात्वांधकार वश सहज ही उद्भूत हुआ करती हैं। भगवान की पूजा के सम्बन्ध में कुन्द-कुन्द स्वामी के ये शब्द चिरस्मरणीय हैं :—

पूयाफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥ १४ ॥

शुद्ध मन से भगवान की पूजा के फल स्वरूप तीन लोक में सुर-पूज्य होता है। दान के फल से तीन लोक में निश्चय से श्रेष्ठ सुखों को भोगता है। हरिषेण राजाने वैभवपूर्ण जिनभवनों का भी निर्माण कराया था। इस संबंध में कवि लिखते हैं—

अावभौ नभसि लग्नपताका चारुवर्णसुधया तु विलिप्ता।
तेन कारितजिनालयपंक्तिः पुण्यसंपदिव तस्य समूर्तिः ॥ ३० ॥

उनके द्वारा बनवाए गए जिनमंदिर सुन्दर रंग तथा चूना के लेप से ऐसे लगते थे मानो उनकी पुण्य रूप संपत्ति ही मूर्तिमान हो। इन मंदिरों में लगी हुई ध्वजा आकाश में बड़ी सुन्दर लगती थी।

राज्य शासन करते हुए सहज ही शत्रुओं का समुदाय बाधक तत्व के रूप में सम्मुख उपस्थित होता है किंतु हरिषेण महाराज अद्भुत आत्मा थे, जिन्हें आगे महावीर भगवान बनना है। इनकी कार्य प्रणाली ऐसी अपूर्व थी जो सर्व प्रिय थी। अतः शत्रु के भय का नितान्त अभाव हो गया था।

सन्नियम्य धनमात्म-गुणौघै र्विद्विषोऽपि नयवित्सह मित्रैः।
राज्य-मित्थमकरोच्चिरकालं सर्वदा प्रशमभूषित-चेताः ॥ ३१ ॥

जिसने प्रशम भाव से अपने चित्त को सर्वदा अलंकृत किया है, ऐसे नीति वेत्ता हरिषेण महाराज ने अपने मित्रों के साथ शत्रुओं को भी अपने गुणों के समुदाय रूपी डोरी से दृढ़ रूप से नियन्त्रित करके बहुत समय पर्यन्त उत्तम रीति से राज्य किया।

उन्होंने बहुत समय पर्यन्त सानन्द शासन किया। उनका चरित्र स्फटिक पाषाण के समान स्वच्छ था—"स्फटिकाश्मनिर्मलस्य"।

एक समय सुप्रतिष्ठ नाम के मुनीन्द्र प्रमदवन में पधारे। राजा उनके दर्शन हेतु वन में पहुँचे। मुनिराज का दर्शन कर उनका अंतःकरण बहुत प्रभावित हुआ।

मुनिपति मवलोक्य सुप्रतिष्ठं प्रमदवने स्थित मन्यदा नरेन्द्रः ।
समजनि स तपोधन स्तपश्च प्रशमरति श्चिरकाल माचचार ॥ ८२ ॥

एक समय नरेन्द्र ने प्रमदवन में विराजमान सुप्रतिष्ठ नाम के महामुनि का दर्शन किया तथा उन्होंने मुनिदीक्षा ले तपोधन की पदवी प्राप्त की। उन्होंने प्रशान्त वृत्ति को स्वीकार करके चिरकाल पर्यन्त तपश्चर्या की।

उनका मन विषयों से पूर्णतया विरक्त था। अन्तःकरण में भेद विज्ञान का प्रदीप प्रकाश प्रदान करता था, अतः कठोर से कठोर तप के द्वारा उनकी आत्मा खेद के स्थान में आनन्द को प्राप्त करती थी। इस तपोग्नि द्वारा वे आत्मा के विकारों को भस्म कर रहे थे।

शीघ्र ही जीवन के अवसान की वेला समीप आ गई। मृत्यु के समय साधुगण अपनी आत्मनिधि की रक्षा करते हुए परलोक यात्रा के लिए तैयारी करने में संलग्न हो जाते हैं। इस स्थिति में हरिषेण यतीश्वर ने क्या किया, इस पर वर्धमान चरित्र में इस प्रकार प्रकाश डाला गया है :—

स जीवितांते विधिवद्विधिज्ञः सल्लेखनामेकधिया विधाय ।
अलंचकार क्षितिमात्मकीर्त्या मूर्त्या महाशुक्रमपिप्रतीतः ॥ ८३ ॥

आयु की परिसमाप्ति होने पर सल्लेखना की विधि के ज्ञाता हरिषेण मुनि ने एकचित्त होकर विधिपूर्वक सल्लेखना की। उन्होंने अपने शरीर को त्याग कर महाशुक्र नाम दशमें स्वर्ग को अलंकृत किया तथा अपनी कीर्ति द्वारा इस पृथ्वी को शोभायमान किया।

प्रीतिंकर

हरिषेण महाराज ने घोर तपश्चर्या की थी; इससे उनका दशम स्वर्ग में प्रीतिंकर देव होकर अवर्णनीय इंद्रियजनित सुख की सामग्री प्राप्त करना पूर्णतया स्वाभाविक बात थी।

मोक्ष का सुख दूसरे प्रकार का होता है। निर्वाण में कर्मक्षय जनित स्वाभाविक सुख पाया जाता है, उससे इस इंद्रियजन्य सुख की तुलना नहीं हो सकती है। निर्वाण का सुख आत्मोत्थ है। यह बाह्य पदार्थों पर आश्रित नहीं है। दोनों की जातियां जुदी हैं।

तत्वार्थसार में लिखा है :—

> लोके चतुर्ष्विहार्थेषु सुख-शब्दः प्रयुज्यते।
> विषये वेदनाभावे विपाके मोक्ष एव च ॥ ४७ ॥

लोक में सुख शब्द का प्रयोग विषय, वेदना का अभाव, विपाक तथा निर्वाण इन चार अर्थों में किया जाता है।

> सुख वह्निः सुखो वायुर्विषयेष्विह कथ्यते।
> दुःखाभावे च पुरुषः सुखितोस्मीति भाषते ॥ ४८ ॥

विषयों में सुख का प्रयोग इस प्रकार होता है, अग्नि आनन्ददायी लगती है। पवन सुखप्रद है। कोई दुःखी है, उसके अभाव में पुरुष कहता है, मैं सुखी हूँ। जैसे कोई व्यक्ति दंश-मशकादि के कारण ठीक नींद न मिलने से अपने को दुःखी कहता था, किन्तु मच्छरदानी आदि के प्रयोग से वह वेदना दूर हो जाने से वह अपने को सुखी कहता है। यहाँ वेदना का अभाव होने से सुख शब्द का व्यवहार किया जाता है।

> पुण्यकर्म-विपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्।
> कर्म-क्लेश-विमोहाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥ ४९ ॥

पुण्य कर्म का जब उदय काल आता है, उस समय इंद्रियों तथा उनके विषयों से सुख मिलता है। कर्मजन्य क्लेश का क्षय हो जाने से मोक्ष में अनुपम सुख प्राप्त होता है।

ऐसी स्थिति में कर्मोदय जन्य वैभाविक सुख की कर्म क्षय से प्राप्त स्वाधीन अक्षय अव्याबाध सुख से तुलना नहीं हो सकती है। संसारी प्राणी निरन्तर इंद्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में दास नहीं, दासानुदास बना फिरता है। मनुष्य पर्याय में भी इंद्रिय विजेता तथा मनोबली मुनीश्वर की पदवी प्राप्त करने वालों के सिवाय शेष लोग कनक, कामिनी तथा कामनाओं के अधीन दिखाई पड़ते हैं। सुख के साधन धन आदि की उपलब्धि हेतु छोटे बड़े सभी संलग्न दिखाई पड़ते हैं। मनुष्यों को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अथवा बढ़ी हुई लालसा की पूर्ति के लिए क्या-क्या उपाय नहीं करने पड़ते, क्या २ जाल नही रचने पड़ते? अर्थादि के लाभ के लिए अत्यन्त निंद्य कार्यों को करता है। ऐसे मनुष्य पर्याय के कष्ट-साध्य सुखों पर दृष्टि डाली जाय, तो उसकी अपेक्षा देव पर्याय का सुख अतुलनीय कहा जायगा। धन वैभव प्राप्त करने वालों को उसका संरक्षण, संवर्धन आदि कार्य सुख की नींद भी नही लेने देता। शारीरिक तथा कौटुम्बिक व्यथा एवं असंख्य प्रकार की आकुलताओं की ज्वाला में उसका हृदय दग्ध होता है।

ऐसी दशा देव पर्याय मे नही रहती। वहाँ अत्यन्त नीरोग शरीर प्राप्त होता है। कल्प वृक्षों द्वारा सर्व प्रकार की सामग्री स्वयं उपलब्ध होती है, अतः रोटी आदि के प्रश्न वहाँ नही रहते। पांचों इंद्रियों को सुखप्रद ऐसी सामग्री मिलती है, जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता है। वरांगचरित्र मे आचार्य जटासिंहनंदी ने लिखा है :—

सुरेन्द्रलोकस्य विभूतिमंता को ना वदेद्वर्ष-सहस्रतोऽपि ॥ २५—६ ॥

सुरेन्द्रलोक की विभूति का वर्णन कौन मनुष्य सहस्र वर्ष में भी कर सकेगा?

अपनी हीन परिस्थिति के अनुसार मनुष्य पर्याय के तुच्छ सुखों के पीछे जो गृहस्थ देवदर्शन को समय नहीं दे सकते, कोई भी सत्कार्य करने के योग्य समय नहीं प्राप्त कर पाते, वे हतभाग्य जब बैठकर गोष्ठी में धर्मरूपी वृक्ष के देव पर्याय में उपलभ्यमान फलों की बुराई करते हुए उन्हें अति तुच्छ कहते हैं, तब प्रतीत होता है कि वे उस भीलनी का अनुकरण करते हैं, जो गजमुक्ता को फेंकती हुई अपनी गुंजा की माला को अपने काले कण्ठ का आभूषण बनाती हुई फूली नहीं समाती। "जैसा बोवे; तैसा लुने" यह नियम विश्व विदित है, तब जो व्यक्ति पवित्रता तथा सदाचरण द्वारा आगामी जीवन के लिए पवित्र बीजों को बोता है, वह बुरी फसल क्यों प्राप्त करेगा? अच्छे बीज से उत्पन्न फलों को बुरा बताना न्याय संगत बात नहीं है।

विषय लोलुपी मानव को धर्मोन्मुख बनाने के लिए आचार्य स्वर्ग के सुखों का वर्णन करते हैं। धर्म का रस आने पर अनेक महाभाग इंद्रिय जनित सुखों के स्थान में अतीन्द्रिय आनन्द के रसिक बनकर श्रेष्ठ पुरुषार्थ द्वारा निर्वाण के शाश्वतिक सुख के स्वामी हो जाते हैं। अन्य लोग भी धर्म में संलग्न होकर कुगति के के दुःखों से बचते हैं।

पुण्य जीवन रूपी बीज बोने वाले सुरेन्द्र पदवी रूपी पर्याय में सुमधुर सुखप्रद फल को प्राप्त करते हैं। तर्कशील मनुष्य सोच सकता है कि वन्दनीय तथा आदर्श जीवन व्यतीत करने वाला जीव क्यों निकृष्ट फलों को पाएगा? देव कौन बनते हैं, इस विषय में वरांग चरित्र में लिखा है :—

> दयापरा ये गुरुदेवभक्ताः सत्यव्रताः स्तेयनिवृत्तशीलाः।
> स्वदारतुष्टाः परदारभीताः संतोषरक्तास्त्रिदिवं प्रयान्ति ॥ २६–६ ॥

जो मनुष्य दयाशील होते हैं तथा जो देव और गुरु की भक्ति करते हैं, सत्यव्रती होते हैं, चोरी से विमुख होते हैं, स्वस्त्री सन्तोषी

होते हैं, परस्त्रियों से विमुख हैं तथा सन्तोष भाव धारण करते हैं, वे स्वर्ग जाते हैं।

धर्म का फल सांसारिक सुख भी होता है, यह जो नहीं मानते हैं, उन्हें आगम के प्रकाश में अपने विचारों की शुद्धि करना चाहिए। महापुराण में धर्म के विषय में ये महत्वपूर्ण पद्य पाए जाते हैं—

धर्मः प्राति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययम्।
धर्मो नैःश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवम्॥ १०७॥

यह धर्म दुःखों से रक्षा करता है, सुख को वृद्धिंगत करता है तथा यही धर्म कर्मों के क्षय से उत्पन्न मोक्ष के सुख को देता है।

धर्मादेव सुरेन्द्रत्वम् नरेन्द्रत्वम् गणेन्द्रता।
धर्मात्तीर्थकरत्वंच परमानंत्यमेव च॥ १०८—१०॥

इस जिनेन्द्र सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म के द्वारा सुरेन्द्र, नरेन्द्र अर्थात् चक्रवर्ती, गणधर की पदवी प्राप्त होती है। इस धर्म के द्वारा तीर्थंकर का पद तथा सर्वोत्कृष्ट सुख मिलता है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अमृतचन्द्र स्वामी ने एक सुन्दर प्रश्न की चर्चा कर उसका सम्यक् प्रकार समाधान किया है। प्रश्न यह है कि मुनीश्वरों ने सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग किया और सांसारिक प्रपंच से अपने को दूर रखा, वे स्वर्ग के सुख तथा भोगों की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते, तब फिर स्वर्ग का सुख उनका क्यों पीछा करता है? उन्हें न देवायु चाहिए, न देवेन्द्र की पदवी वे तो इन व्याधियों से विमुक्त हो अव्याबाध अतीन्द्रिय सुख चाहते हैं।

आचार्य के शब्द इस प्रकार हैं:—

ननु कथमेवं सिद्धयतु देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजन-सुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्॥ २१६॥ पु सि.

रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनीन्द्रों के देवायु आदि पुण्य-प्रकृतियों का बंध सम्पूर्ण जगत में सुप्रसिद्ध है। यह बात किस प्रकार सङ्गत है? इसका समाधान इस प्रकार है।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥ २२० ॥

वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है, अन्य का नहीं। मुनियों के जो पुण्यकर्म का आस्रव होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है।

इस विषय का सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर यह बात विदित होगी, कि जीव के परिणामों में जितना प्रशस्त रागभाव है, उतना पुण्य प्रकृतियों का आस्रव होता है। जितने अंश में वीतरागता है, उतने अंशों में कर्मों का संवर होते हुए पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती है। ऐसा यदि न माना जावे तो इस वस्तुस्थिति का सम्यक् समाधान नहीं हो पाएगा, कि मुनीन्द्रों के प्रमत्तादि गुण स्थानों में विशुद्धता के कारण शुभ प्रकृतियों में क्यों तीव्र अनुभागबंध होता है तथा कर्मों की निर्जरा भी होती है। वास्तव में मुनीश्वरों के अप्रमत्त अवस्था में मिथ्यात्व, अविरति तथा प्रमाद के द्वारा बंध का अभाव है, किन्तु संज्वलन कषाय तथा योगों के द्वारा होनेवाला कर्मों का बंध कैसे रुक सकता है? जब बंध के कारण मौजूद हैं, तब कार्य की उत्पत्ति कैसे रुक सकती है?

इस विचारधारा के मध्य में इस सुरराज के पूर्वकालीन हरिषेण महामुनि के जीवन पर जब दृष्टिपात करते हैं, तो यह पता चलता है कि उन्होंने घोर तपश्चर्या द्वारा जो विपुल पुण्यराशि एकत्रित की थी, उसका फलानुभवन करने के लिए हरिषेण मुनि के शरीर में विद्यमान चैतन्य-मूर्ति, ज्ञानदर्शन-स्वभाव वाली आत्मा ने महाशुक्र स्वर्ग की ओर प्रयाण किया।

जिस प्रकार पाप प्रवृत्तियों द्वारा संचित किए गए कर्मों का फल पशु पर्याय तथा नरक में भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता, उसी प्रकार पाप कर्मों से विपरीत स्वभाव वाले पुण्यकर्म का जब प्रबल उदय आता है

तब जीव को इच्छा न करते हुए भी आनन्दप्रद विपुल सामग्री अनायास मिलती है।

वरांग चरित्र में लिखा है कि :—

ऋजुस्वभावा रति-रागहीनास्ते स्वर्गलोकं मुनयो व्रजन्ति ॥ ३३—६ ॥

सरल स्वभाव वाले तथा विषय-सुख के अनुराग रहित मुनिजन स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। वहां वे—"तपः फलं तेऽनुभवन्ति हृष्टाः—" वे हर्षित होकर तप के फल का अनुभव करते हैं।

तपस्या की अद्भुत सामर्थ्य है। पाप प्रवृत्तियों पर नियंत्रण लगाकर शान्तभाव धारण करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव भी देव पर्याय को प्राप्त करता है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है :—

अणुवद - महव्वदेहि य बालतवा - कामणिज्जराए।

देवाउग णिबंधइ सम्माइट्ठी य जो जीवो ॥ ८०७ ॥

जो जीव सम्यग्दृष्टि है, वह केवल सम्यक्त्व के द्वारा देवायु को बांधता है। जिन्होंने अणुव्रत अथवा महाव्रत स्वीकार किए हैं, वे भी देवायु का बंध करते हैं। जो मिथ्यादृष्टि जीव है, वह उपचार रूप अणुव्रत तथा महाव्रत, बालतप तथा अकाम निर्जरा द्वारा देवायु का बंध करता है।[1]

सम्यक्त्वी जीव इंद्र, सामानिक आदि उच्च पदवी धारक देव होता है। मिथ्यात्वी ऐसा देव नहीं होता है।

हरिषेण मुनीश्वर ने समाधि मरण करके महाशुक्र स्वर्ग में जन्म लिया था, क्योंकि इन्होंने मरण समय जघन्य शुक्ललेश्या सहित अथवा उत्कृष्ट पद्मलेश्या सहित भाव धारण किए थे। अकलंकस्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है "जघन्य शुक्ललेश्यांशक-परिणामात् शुक्र-

(१) यः सम्यग्दृष्टिर्जीवः स केवल सम्यक्त्वेन साक्षादणुव्रतै महाव्रतैर्वा देवायुर्बध्नाति। यो मिथ्यादृष्टिर्जीवः स उपचाराणुव्रत - महाव्रतैर्बालतपसा अकामनिर्जरया च देवायुर्बध्नाति॥ संस्कृत टीका पृष्ठ ९८३ गो॰ कर्मकांड

महाशुक्र-शतार-सहस्रारान् यांति । उत्कृष्ट-पद्मलेश्यांशक परिणामात् सहस्रारमुपगच्छंति" (पृ० १७१) देव पर्याय धारण करने के उपरान्त महाशुक्र स्वर्ग में कौनसी अतरंग लेश्या होती है ? इस विषय में राजवार्तिक में कहा है, कि शुक्र महाशुक्र, शतार तथा सहस्रार स्वर्ग में पद्म तथा शुक्ल लेश्या पाई जाती हैं।

"शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेषु पद्म-शुक्ललेश्याः" (१७२)

इनके विमान का रंग पीला तथा शुक्ल इन दो वर्ण युक्त कहा है।

"शुक्र-महाशुक्र - शतार - सहस्रार-आनत-प्राणतारणाच्युतेषु
द्विवर्णानि विमानानि हारिद्र-शुक्लवर्णानि" (त रा पृ १६८)

दिव्य जीवन की झलक—हरिषेण मुनीश्वर अब पुण्यमूर्ति प्रीतिंकर देव हो गए हैं। उनके आंतरिक जीवन को कौन जान सकता है ? सर्वज्ञ जिनेन्द्र की वाणी के द्वारा ही उनकी अनेक महत्वपूर्ण बातों का परिचय मिल सकता है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है—

जायते सुरलोए उववादपुरे महारिहे सयणे।
जादा य मुहुत्तेणं छप्पजत्तीओ पावंति ॥ ५६७-८ ॥

ये देव सुरलोक में उपपादपुर के भीतर महार्घ-बहुमूल्य शय्या (उपपाद शय्या) पर उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होने के पश्चात् एक मुहूर्त में ही छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर लेते हैं।

मानव शरीर जहां मल, मूत्र, हड्डी, खून आदि अत्यन्त वीभत्स सामग्री का भण्डार है, वहां प्रीतिंकर देव की देह-स्थिति अत्यन्त भिन्न थी।

तिलोयपण्णत्ति से निम्नांकित वृत्तान्त ज्ञात होता है :- "देवों के शरीर में न नख, केश और रोम होते हैं, न चमड़ा और मांस होते है, न रुधिर और चर्बी होती हैं, न हड्डियां होती हैं, न मल और मूत्र होते हैं और न नसें ही होती हैं।"

"संचित कर्म के प्रभाव से अतिशयित वैक्रियिक रूप दिव्य बंध होने के कारण देवों के शरीर में वर्ण, रस, गंध, और स्पर्श बाधा रूप नहीं होते।"

"देव-विमान में उत्पन्न होने पर पूर्व में अनुद्‌घाटित-बिना खोले-कपाट युगल खुलते हैं। और फिर उसी समय आनन्द भेरी की ध्वनि फैलती है। "पसरदि आणंदभेरिरव"

"भेरी के शब्द को सुनकर अनुराग युक्त हृदयवाले परिवार के देव और देवियाँ जय जय, नन्द इस प्रकार के विविध शब्दों के साथ आते हैं।"

"देव और देवियों के समूह को देखकर उस देव को कौतुक होता है। उस समय किसी को विभंग ज्ञान और किसी को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।"

"अपने पुण्य के फल से यह देवलोक प्राप्त हुआ है, इस प्रकार जानकर कोई मिथ्यादृष्टि देव विशुद्ध सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं।"

प्रीतिंकर देव पहले से ही प्रगाढ़ सम्यक्त्व युक्त थे। इसके पश्चात् देव लोक में इस प्रकार की क्रिया की जाती हैं :

"द्रह में स्नान करके दिव्य अभिषेक मण्डप में प्रविष्ट हो सिंहासन पर आरुढ़ हुए इस देव का अन्य देवगण अभिषेक करते हैं।"

"भूषण शाला में प्रवेशकर और दिव्य उत्तम रत्न भूषणों को लेकर उत्कृष्ट हर्ष से परिपूर्ण हो वेषभूषा करते हैं।" (५७८ गाथा)

इसके पश्चात् अभिषेक और दिव्य पूजा के योग्य सामग्री को लेकर वह देव परिवार से संयुक्त हो जिनेन्द्र भवन में जाता है।

"देवियों से सहित वे देव उत्तम मंगल-वादित्रों के शब्द से मुखरित जिनेन्द्रपुर को देखकर नम्र हो प्रदक्षिणा करते हैं" (५८१)

"पुनः वे देव तीन छत्र, सिंहासन, भामंडल और चामरादि से सुन्दर जिन प्रतिमाओं के आगे जय जय शब्द को करते हैं" (५८२)

"उक्त देव भक्तियुक्त मन से सहित होकर सैकड़ों स्तुतियों के द्वारा जिनेन्द्र प्रतिमाओं की स्तुति करके पश्चात् उनका अभिषेक करते हैं" (५८१)

"उक्त देव क्षीर समुद्र के जल से पूर्ण एक हजार आठ सुवर्ण कलशों के द्वारा महाविभूति के साथ जिनाभिषेक करते हैं"

खीरद्धि-सलिल-परिद-कंचण-कलसेहिं अड-सहस्सेहिं ।

देवा जिणाभिसेयं महाविभूदीए कुव्वंति ॥ १८४-८ ॥

"इस प्रकार पूजा करके अपने प्रासादों में जाकर वे देवेन्द्र सिंहासन पर आरुढ़ होकर देवों द्वारा सेवित किए जाते हैं" (५६०)

इसके पश्चात् वे दिव्य लोक में प्राप्त पंचेन्द्रियों को प्रिय विविध प्रकार के भोगों का रसा-स्वादन करते है।

सामान्य मनुष्य के मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उन देवों के खान-पान की क्या व्यवस्था रहती है ? इस सम्बन्ध में आचार्य यतिवृषभ कहते हैं:—

उवहि-उवमाण जीवी वरिस-सहस्सेण दिव्व अमयमयं ।

भुंजदि मणसाहारं णिरुवमयं तुट्ठि - पुट्ठिकरं ॥ ५५१-८ ॥

एक सागरोपम काल तक जीवित रहनेवाला देव एक हजार वर्ष में दिव्य, अमृतमय, अनुपम, तुष्टि और पुष्टि कारक मानसिक आहार करता है।

प्रीतिंकर देव का वैक्रियिक शरीर चार अरत्नि प्रमाण उन्नत था। महाशुक्र स्वर्ग में सम्यक्त्वी देवों के सिवाय गृहीत मिथ्यात्वी जीव भी उत्पन्न होते हैं। "आजीवकानां आ सहस्रारात्" (त. रा. पृ. १६६)—आजीवक संप्रदाय के साधु सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त जाते हैं अतः उनकी दशमें स्वर्ग में उत्पत्ति स्वयंसिद्ध है। सम्यक्त्वी प्रीतिंकर देव की आत्म निर्मलता विलक्षण थी। उसका हृदय सच्चे वैराग्य रस से परिपूर्ण हो चुका था। तत्वज्ञानी होने के कारण वह देव अनासक्ति पूर्वक दिव्यजीवन को व्यतीत कर रहा था।

मनुष्य लोक में थोड़े से धन, वैभव, प्रभुता आदि को देखकर लोग उस व्यक्ति को धन्य कहते हुए महाभाग्यशाली मानते हैं, तब उस प्रकार के दिव्य सुखों को विशुद्ध तपश्चर्या द्वारा प्राप्त करने वाले उससम्यग्दृष्टि देव को कौन न महान भाग्य शाली मानेगा ?

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि निर्मल रत्नत्रय से भूषित आत्माएं विचित्र पुण्य के विपाकवश अपूर्व दिव्य सुखों को भोगती हैं। ग्रंथकार के शब्दों का भाव इस प्रकार है : -

"जो अतिशय उज्ज्वल एवं संसार को नष्ट करने वाली सम्यग्दर्शन की शुद्धि तथा अनन्त दुःखों को हरने वाले सम्यग्ज्ञान का निरन्तर आचरण करते हैं और जो विशिष्ट शील सहित होकर सम्यक्चारित्र का निर्वाह करते हैं, वे विचित्र पुण्य से उत्पन्न हुए स्वर्ग में सौख्यामृत को भोगते हैं।" (७०२-८२, भाग २)

शान्त तथा पवित्र मनोवृत्ति वाला व्यक्ति मानव हो, देव हो, पशु हो, अथवा नारकी हो, वह आन्तरिक आनन्द का अनुभव करता ही है। महाशुक्र विमानवासी देव के पद्म तथा शुक्ल ये शुभ लेश्या कही गई हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में उनका स्वरुप इस प्रकार बताया गया है।

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगपि।

साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१६ ॥

पद्म लेश्या वाले के लक्षण इस प्रकार हैं। वह त्याग भाव युक्त, भद्र परिणामी, चोखा-सच्चा, उज्ज्वल कर्म करने वाला, अधिक क्षमाशील, साधु तथा गुरुओं की पूजा मे अनुरक्त रहता है।

शुक्ल लेश्या वाले का स्वरूप इस प्रकार है :—

ण य कुणइ पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं।

णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स ॥ ५१७ ॥

शुक्ल लेश्या वाला किसी प्रकार का पक्षपात नहीं करता है। वह आगामी भोगों की आकांक्षा रूप निदान नहीं करता है, सब

जीवों पर साम्य दृष्टि रखता है, किसी से प्रेम तथा किसी से द्वेष नहीं करता है। इस प्रकार की पवित्र मनोवृत्ति महाशुक्र स्वर्ग के देवों की कही गई है। उनका शरीर का वर्ण भी पद्म सदृश अथवा धवल कहा गया है। जीवकांड गोम्मटसार में लिखा है "णिरया किण्हा कप्पा भावाणु-गया"—(४९६) नारकी जीव काले रंग के ही होते हैं, किन्तु कल्पवासी देवों को द्रव्य लेश्या भाव लेश्या के अनुसार होती है।

विचारशील गृहस्थ सोच सकता है, कि जिस सदाचार के द्वारा सर्व प्रकार के सुख प्राप्त होने के साथ उपरोक्त उच्च मनोवृत्ति हो, उसे किस प्रकार तुच्छ तथा हेय कहा जायगा? धर्म की देशना पात्र तथा अपात्र के विवेक पूर्वक होती है। आचार्य संघस्थ मुनियों को मोक्ष प्राप्ति के लिए पुण्य-पाप विमुक्त बनने का उपदेश देते हैं तथा वैसी स्वयं भावना करते हैं। उनकी दृष्टि में पाप त्याज्य है, पुण्य भी त्याज्य है।

गृहस्थ परिग्रह का दास है। अव्रती गृहस्थ की आत्मा कितनी परिग्रहादि के पंक में निमग्न है, यह ईमानदारी से अपनी आत्मा को भीतर से टटोलने का यदि प्रयत्न करे, तो वह अनुभव करेगा कि उसके हृदय पर पुद्‌गल का भार कितना लदा है? ऐसे गृहस्थ के लिए सद्‌गुरु कहते हैं "पापं परिहर"—पाप का परित्याग करो, 'पुण्यं कुरुष्व' - पुण्य करो।

प्रीतिकर देव के जीवन में पुण्य का वैभव दिखाई पड़ता था। वह सुखों को भोगते हुए भी सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में मोक्ष की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्नशील रहता था। भगवान के समवशरण में जाकर उनकी दिव्यवाणी द्वारा अद्‌भुत शान्ति लाभ करता था तथा अपनी आत्मा को भगवान के कथनानुसार विचारते हुए विकार भावों से दूर रखने का प्रयत्न करता था। वह अपना उपयोग निर्मल बनाते हुए अपना समय व्यतीत करता था। सुख का लम्बा

काल सहज ही बीत जाता है और दुःख की एक घटिका भी कष्ट से बीतती है। इस सूक्ति के अनुसार प्रीतिंकर देव की आयु के सोलह सागर समाप्त होने को हैं।

बाह्य चिन्हों से प्रीतिकर को यह निश्चय हो गया, कि अब उसके स्वर्ग परित्याग का समय आ रहा है। मिथ्यादृष्टि देव मृत्यु के समीप आने पर स्वर्ग के देव होते हुए भी नारकी सदृश मनोव्यथा को आमंत्रण देते हैं। जिस जीव का अन्तःकरण तत्वज्ञान के दीपक से प्रकाशित नहीं है, उस हृदय में अज्ञान मूलक दुर्विचार घुसकर उसे दुःख की मूर्ति बनाते हैं। आचार्य कहते हैं :—

आजन्मनो यदेतेन निर्विष्टं सुखमामरम्।
तत्तदा पिण्डितं सर्वं दुःखभूयमिवागमत् ॥ ७–६ ॥ पर्व महापुराण ॥

उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि इस जीव ने देव पर्याय प्राप्त कर जो दिव्य आनन्द का उपभोग किया था, वह सब पिण्ड रूप धारण कर दुःख स्वरूप बनकर आ गया हो।

प्रीतिंकर देव तत्वज्ञ था। मृत्यु को समीप आया जानकर प्रीतिंकर के चित्त में मृत्यु के प्रति प्रीति उत्पन्न हुई, क्योंकि वह सदा 'समाहिमरणं'—समाधिमरण की भावना करता हुआ सोचता था, कि वह दिन धन्य होगा, जब इस सुर-पर्याय रूपी पिंजरे से निकलकर मैं मनुष्य शरीर को प्राप्त करूँगा तथा वहाँ संयम को अंगीकार करके कर्म शत्रु के क्षय हेतु उद्योग में संलग्न हो जाऊँगा। विवेकशील देवताओं के मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ करता है :—

कदा नु खलु मानुष्यं प्राप्स्यामि स्थितिसंक्षये ॥४५, पर्व ११४॥ पद्मपुराण

अपनी देवायु के क्षीण होने पर मैं कब मनुष्य पर्याय को धारण करूँगा ?

वह यह भी चिन्तवन करता है :—

विषयारिं परित्यज्य स्थापयित्वा वशे मनः।
नीत्वा कर्म प्रयास्यामि तपसा गतिमार्हतीम् ॥ ४६, पर्व ११४ ॥

कब मैं मनुष्य होकर विषयरूपी शत्रुओं का परित्याग करके मन को अपने वश में करूँगा तथा कर्मों को तप के द्वारा क्षय करके अर्हन्त भगवान की गति को प्राप्त करूँगा ?

प्रीतिंकर सामान्य देव नहीं है। प्रीतिंकर देवाधिदेव महावीर तीर्थंकर होने वाला है, अतः प्रीतिकर की सर्व प्रवृत्तियाँ सन्मार्ग की ओर उन्मुख थीं।

मृत्यु का समय बिल्कुल निकट आ गया। प्रीतिंकर सावधानी के साथ आत्मध्यान में लीन हैं।

अब प्रीतिंकर के जीव ने महाशुक्र स्वर्ग के प्रीतिवर्धन विमान का परित्याग कर दिया। जहाँ सोलह सागर पर्यन्त इस जीव ने निवास किया था, वहाँ आयु क्षय होने पर क्षण भर भी अधिक रहने को स्थान न था। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है; किन्तु मोह के कारण यह जीव असली मार्ग को भूल जाता है।

—o—o—

प्रियमित्र चक्रवर्ती

दयामय धर्म का शरण ग्रहण करने वाला प्राणी सर्वदा सुखी रहता हुआ उन्नति के शिखर पर चढ़ता जाता है। प्रीतिंकर देव ने स्वर्ग में अवर्णनीय आनन्द का अनुभव किया था। अब संचित पुण्य तथा जिनेन्द्र भक्ति के प्रभाव से वह जीव मानव लोक में अवतरित हुआ है। वह चक्रवर्ती के पद की प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा।

वर्धमान चरित्र में लिखा है, कि पूर्व विदेह में कच्छ नामका अत्यन्त समुन्नत देश है। वह अत्यन्त रमणीय भी है।

"यस्य भूरि शोभां पश्यतः क्षणममराश्च विस्मयते" (२ – सर्ग १४)

जिसके महान सौन्दर्य का दर्शन कर क्षणभर देवगण भी विस्मय में डूब जाते हैं। वहाँ क्षेमद्युति नाम का नगर है, जो "तिलकनिभ वसुधरायाः" इस पृथ्वी के तिलक सदृश था। + वहाँ के शासक थे महाराजा धनंजय। उनकी महारानी प्रभावती थी। यह राजदंपति सम्पूर्ण गुणों तथा नाना कलाओं का केन्द्र था। कवि कहता है—

सत्स्वप्नै निगदित-चक्रवर्तिलक्ष्मीः प्राग्देवः सुरनिलयात्ततोऽवतीर्य।
पुत्रोऽभूद्भुवि स तयोर्यशो महीयो मूर्तं वा प्रिय-पद-पूर्वमित्रनाम ॥६–१४ सर्ग ॥

शुभ स्वप्नों के द्वारा चक्रवर्ती की लक्ष्मी की जिसने सूचना दी है ऐसा प्रीतिंकर देव स्वर्गलोक से अवतरित होकर उन दोनों के मूर्तिमान महान यश के समान प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ

उस पुण्यात्मा ने सहज ही अनेक प्रकार की विद्याओं में निपुणता प्राप्त की। श्रेष्ठ संस्कार तथा पूर्वार्जित पुण्योदय से वह राजपुत्र अनेक गुणों का भण्डार था।

+ उत्तरपुराण में प्रियमित्र के पिता का नाम सुमित्र तथा माता का नाम महारानी सुव्रता आया है। राजकुमार की जन्मभूमि पुंडरीकिणी नगरी थी, जो पुष्कलावती देश में थी।

सर्वेषाभजनि स भाजनं गुणानां रत्नाननामिव जलधिः सुनिर्मलानाम।
लावण्यं दधदपि भूरि तद्धि चित्रं माधुर्यं दिशि दिशि यत्ततान लोके ॥८-१४ सर्ग

जिस प्रकार समुद्र अत्यन्त निर्मल रत्नों का पात्र होता है, उसी प्रकार वह राजकुमार समस्त गुणों का भाजन था। यह आश्चर्य की बात है कि समुद्र में खारा पानी रहने से सर्वत्र लवण्य-लवणता (खारापन) का सद्भाव पाया जाता है, किन्तु इस राजकुमार में महान लावण्य होते हुए सर्वत्र माधुर्य का प्रसार हुआ था, यह आश्चर्य है। समुद्र में लावण्य क्षारता का द्योतक है, अतः समुद्र में माधुर्य-मधुरता का सद्भाव नहीं है। राजकुमार में लावण्य सौन्दर्य का सूचक है, अतः इस लावण्य का सौन्दर्य से कोई भी विरोध नहीं है।

एक समय की बात है, महाराज धनंजय को क्षेमंकर जिनेन्द्र के दर्शन का महान सौभाग्य प्राप्त हुआ। तपोमूर्ति साधुराज से धर्म की देशना सुनकर धनंजय नरेश का मन विषयों से विरक्त हुआ। वास्तव में इन दिगम्बर ऋषीश्वरों ने जीवों का सदा से महान कल्याण किया है। बड़े २ भोगमूर्ति परिग्रह पिशाच द्वारा छले गए राजा महाराजा आदि उन मुनियों के अल्पकालीन सम्पर्क को पाकर आत्म कल्याण के लिए दिव्य प्रेरणा प्राप्त करते हैं किन्तु पापी प्राणी इन सत्पुरुषों का मूल्य नहीं समझ पाता है। वह इनका शत्रु बन जाता है।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने लिखा है :—

चम्मट्ठि-मंसलव-लुद्धो सुणहो गज्जए मुणिदिट्ठा।
जह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठा ॥ १११ ॥ रयणसार ॥

जैसे कोई कुत्ता चर्म, हड्डी तथा मांस के खण्ड की प्राप्ति की लालसा से मुनिराज को देखकर भौंकता है, उसी प्रकार पापी पुरुष भी धर्मात्मा साधुओं को देखकर दुष्ट भाव धारण करते हैं।

सज्जन मनुष्य तो साधुओं को आत्मा का वैद्य अनुभव करते हुए अपने मोहज्वर की औषधि के लिए उनके पुण्य चरणों का शरण ग्रहण करते हैं। यहाँ क्षेमंकर मुनि महाराज के चरण सान्निध्य में धनंजय नरेन्द्र

का हृदय बदल गया। उन्होंने विवेक के प्रकाश में अपने प्रिय राज्य को आत्मा के लिए विपत्ति की वस्तु समझा।

विन्यस्य श्रियमथ तत्र पुत्र-मुख्ये तन्मूले सपदि स दीक्षितो विरेजे।
संसार-व्यसन-निरासिनी मुमुक्षोः शोभायै भवति न कस्य वा तपस्या ॥ ११॥

उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियमित्र को राज्य लक्ष्मी का स्वामी बनाया तथा उन क्षेमंकर जिनेश्वर के समीप दीक्षा लेकर वे धनंजय मुनि शोभायमान हुए। संसार के दुःखों को दूर करने वाली यह मुनिदीक्षा किस मोक्षाभिलाषी व्यक्ति के लिए शोभा का हेतु नहीं बनती?

पुरातन युग की यह विशेषता थी, कि वैभवशाली तथा समृद्ध पुरुष योग्य समय पर दिगम्बर दीक्षा लेते थे, तथा उनकी सन्तान भी विकार के केन्द्र यौवन के समय में ही हृदय को निर्विकार बनाने वाले व्रत लेती थी।

अब राजकुमार प्रियमित्र राजा हो गए। उन्होंने अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाने के लिए यथायोग्य व्रतों को भी धारण किया—

दुःप्रापां सकल-नृपाधिराज-लक्ष्मीं प्राप्यापि प्रमदमसौ तथा न भेजे।
विश्राणः सकलमणुव्रतं यथावत्सम्यक्त्वं सहज मथोज्ज्वलं च राजा ॥ १२ ॥

महाराज प्रियमित्र को कठिनता से प्राप्तियोग्य सकल नरेन्द्र-मण्डल के शिरोमणिपने रूप राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर उतना आनन्द नहीं मिला, जितना उन मुनीश्वर के द्वारा प्रदत्त परिपूर्ण अणुव्रतों तथा नैसर्गिक सम्यक्त्व की उज्ज्वलता को प्राप्त कर आनन्द हुआ था।

महाराज प्रियमित्र का व्यक्तित्व आकर्षक तथा महान था। उनके चरित्र का सभी लोग आदर करते थे। उन्होंने अपने पराक्रम के सिवाय अपने उच्च नैतिक जीवन के द्वारा जन-मानस पर अपना अमिट प्रभाव डाला था। कवि कहता है:—

तस्येयुः परमरयोपि सच्चरित्रे राकृष्टाः स्वयमुपगम्य किंकरत्वम्।
शीतांशोरिव किरणाः सतां गुणौघाः विश्वासं विदधति कस्य वा न शुभ्राः ॥१४॥

उन नरेन्द्र के सच्चरित्र से आकर्षित होकर शत्रुगण भी स्वयं आकर किंकर बनते थे। जैसे चन्द्रमा की धवल किरणें सबको आनन्द

प्रदान करती हैं, उसी प्रकार सत्पुरुषों के उज्ज्वल गुणवृन्द किनके अन्तः-करण में विश्वास उत्पन्न नहीं करते ?

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रियमित्र इस नाम में ही विशेष आकर्षण था, क्योंकि वे राजा सबके लिए प्रिय तथा मित्र सदृश हितैषी थे ।

आनन्द के साथ जीवन के मधुर क्षण व्यतीत हो रहे थे। पुण्य का सुधाकर अपनी अमृत किरणों द्वारा सर्व प्रकार के सन्ताप को दूर करता था। उस समय अद्भुत बात हो गई। एक व्यक्ति अपार हर्ष में निमग्न हो राजा प्रियमित्र के समीप पहुँचकर बोला :—

शालायाममल-रुचां वरायुधानामुत्पन्नं विनतनरेन्द्रचक्र ! चक्रम् ।
दुःप्रेक्ष्यं दिनकर-कोटिबिंब-कल्पं यक्षाणामधिपगणेन रक्ष्यमाणं ॥ १६ ॥

समस्त राजाओं के समुदाय को विनत करने वाले हे नरेन्द्र ! निर्मल दीप्तियुक्त श्रेष्ठ आयुधशाला-शस्त्रास्त्र शाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है, जो कोटि सूर्य-बिम्ब सदृश होने से कठिनता से देखने में आता है तथा जो यक्षेन्द्रों के समुदाय द्वारा रक्षित है।

इस चक्ररत्न की उत्पत्ति से यह स्पष्ट हो गया कि प्रियमित्र महाराज षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती होंगे। इस चक्ररत्न के कारण ही चक्रवर्ती यह नाम प्राप्त होता है। चक्रवर्ती के सात अचेतन और सात चेतन इस प्रकार चौदह रत्न कहे गये हैं। 'रत्न' शब्द श्रेष्ठ का पर्यायवाची है। कहा भी है, "जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत्तत्रत्नमिहोच्यते"—अपनी २ जाति में जो श्रेष्ठ वस्तु है, उसे उस जाति में रत्न कहा जाता है।

छत्र, असि, दण्ड, काकिणी, चिंतामणि, चर्म तथा चक्र ये सात अचेतन रत्न हैं तथा पवनंजय नामका अश्व, विजयगिरि नामका हाथी, भद्रमुख नामका गृहपति, कामवृष्टि नामका स्थपति, अयोध्य सेनापति, सुभद्रा पट्टरानी और बुद्धिसागर पुरोहित ये सात सचेतन रत्न हैं (तिलोयपण्णत्ति भाग १, पृ. ३२४, अध्याय ४)

अश्व, हाथी तथा पट्टरानी रूप रत्न विजयार्ध पर्वत के यहां प्राप्त होते हैं और शेष चार सचेतन रत्न अपने अपने नगरों में ही उत्पन्न होते हैं।

चक्रवर्तियों पर चामरों को बत्तीस यक्ष दुराया करते हैं। कालि, महाकाल, पाण्डु, मानव, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल तथा नाना रत्न ये नौ निधियाँ श्रीपुर में उत्पन्न हुआ करती हैं। ये निधियाँ क्रम से ऋतु के योग्य द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुध, वादित्र, वस्त्र, हर्म्य, आभरण और रत्न-समूहों को दिया करती हैं। चक्रवर्ती का वैभव अपार होता है।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है, कि चक्रवर्ती के यहाँ तीन करोड़ गाय, चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रथ, अठारह करोड़ घोड़े तथा चौरासी करोड़ सैनिक होते हैं। "चक्र की उत्पत्ति से अतिशय हर्ष को प्राप्त हुए वे चक्रवर्ती जिनेन्द्रों की पूजा करके पश्चात् विजय के निमित्त पूर्व दिशा में प्रयाण करते हैं" —

चक्कुप्पत्ति - पहट्ठा पूजं कादूण जिणवरिंदाण।
पच्छा विजय - पयाणं ते पुव्वदिसाए कुव्वंति॥ ४-१३०४॥

धवला टीका में (भाग १) चक्रवर्ती के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली यह गाथा उद्धृत की गई है :—

षट्खण्ड-भरतनाथं द्वात्रिंशद्धरणिपति-सहस्राणाम्।
दिव्य मनुष्य विदुरिह भोगागारं सुचक्रधरम्॥ ४३॥ पृष्ट ५८॥

षट्खण्ड युक्त भरत क्षेत्र के स्वामी, बत्तीस हजार राजाओं से सेवित नव निधि आदि से प्राप्त महान भोगों के स्वामी तथा दिव्य मनुष्य रूप चक्र रत्न को धारण करने वाले चक्रवर्ती होते हैं।

द्विविध सुख :—धवलाटीका में दो प्रकार के सुख कहे हैं। अतीन्द्रिय सुख अरहन्त और सिद्धों के कहा है। उसे 'नैःश्रेयस्' सुख कहते हैं।

'तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रिय-सुखम्।'

दूसरे सुख को अभ्युदय सुख कहा है, जो सातावेदनीय आदि प्रशस्त कर्म प्रकृतियों के तीव्र अनुभाग के उदय से उत्पन्न होता है। वह अभ्युदय सुख इन्द्र चक्रवर्ती आदि के पाया जाता है। कहा भी है; "तत्राभ्युदय-सुखं नाम सातादि-प्रशस्त - कर्म-तीव्रानुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक - त्रायस्त्रिंशदादिदेव - चक्रवर्ति - बलदेव-नारायणार्ध मंडलीक – मंडलीक–महामंडलीक – राजाधिराज – महाराजाधिराज – परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम्" (धवलाटीका पृ० ५६, भाग १)। इस धर्म के द्वारा अभ्युदयसुख तथा निःश्रेयस सुख प्राप्त होते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है कि जिनेन्द्र की भक्ति के प्रसाद से चक्रवर्ती अभ्युदय को प्राप्त होता है :—

नवनिधि-सप्तद्वय-रत्नाधीशाः सर्वभूमि-पतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवंति स्पष्टदृशः क्षत्र-मौलि-शेखर-चरणाः ॥ ३८ ॥

सम्यक्त्वी नवनिधि, चौदह रत्नों के स्वामी, समस्त भरतखण्ड के अधिपति, क्षत्रिय नरेशों के मस्तक पर स्थित मुकुटों के द्वारा वंदनीय चरण युक्त तथा चक्र रत्न की प्रवर्तन करने में समर्थ होते हैं।

इस चक्र रत्न के द्वारा चक्रवर्ती अपनी दिग्विजय में सफल होते हैं। चक्रवर्ती तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ के स्तवन में समंतभद्र-स्वामी ने चक्र के महत्व का उल्लेख किया है :—

चक्रेण यः शत्रुभयंकरेण जित्वा नृप.सर्वनरेन्द्रचक्रम्।
समाधि-चक्रेण पुनर्जिगाय महोदयो दुर्जय-मोहचक्रम् ॥ ७७ ॥

वे शान्तिनाथ भगवान शत्रुओं के हृदय में भय उत्पन्न करने वाले चक्र के द्वारा संपूर्ण नरेन्द्र मण्डल को जीतकर चक्रवर्ती बने थे। उन्होंने मुनि पद धारण करके धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान रूपी समाधि के चक्र द्वारा महान उदय को प्राप्त करते हुए अजेय ऐसे मोहनीय कर्म के चक्र को जीता था।

इस प्रकार प्रियमित्र महाराज को पूर्वोक्त अपूर्व वैभव का लाभ हुआ तथा वे चक्रवर्ती बन गए। इसका कारण असग कवि इन शब्दों में बताते हैं—

प्राग्जन्म-प्रजनित-भूरि-पुण्य-शक्तिः।
किं कासां न भवति संपदा सवित्री॥ २०–सर्ग १४॥

पूर्व जन्म में उत्पन्न की गई महान पुण्य की शक्ति कौन कौन संपत्ति को उत्पन्न नहीं करती है?

दुःसाध्यं न हि भुवि भूरि पुण्य-भाजाम्॥ २३॥

महान पुण्य शाली व्यक्तियों को पृथ्वी में कोई कार्य कष्ट साध्य नहीं होता है।

प्रियमित्र चक्रवर्ती में यह लोकोत्तर बात थी, कि अहंकार ने उनके हृदय पर अधिकार नहीं जमाया था :—

औद्धत्यं नव-निधिभिः प्रदीयमानै र्नद्रव्यैरपरिमितैः स संप्रपेदे।
तोयौघैरिव जलधिर्नदोपनीतै र्धीराणां नहि विभवो विकारहेतुः॥ ३६॥

जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियों के द्वारा लाई गई जल राशि से समुद्र में विकृति नहीं उत्पन्न होती है, उसी प्रकार नव निधियों द्वारा प्रदत्त अपरिमित संपत्ति के द्वारा चक्रवर्ती अहंकार रूप विकार युक्त नहीं बने। धीर पुरुषों का वैभव विकार का हेतु नहीं होता है।

सर्वगुण संपन्न, विकार-विमुक्त तथा व्रत-नियमादि समलंकृत चक्रवर्ती का समय बड़े सुख से व्यतीत हो रहा था, तथा उनके आधीन रहने वाली प्रजा भी अपने को कृतार्थ मानती थी। ईति, भीति आदि की स्वप्न में भी बाधा नहीं थी।

एक दिन वे धर्मज्ञ चक्रवर्ती दर्पण में अपना मुख देखकर गंभीर विचारसागर में निमग्न हो गए बात बहुत सामान्य थी, किन्तु विचारक एवं विवेकी प्रियमित्र चक्रवर्ती के हृदय पर उसका अद्भुत असर पड़ा। अपने मस्तक के सुन्दर केशों के मध्य एक सफेद केश पर उनकी दृष्टि चली गई थी।

तं दृष्ट्वा मणिमुकुरं विहाय सद्यो राजेन्द्रश्चिरमिति चिंतयां बभूव ।
विश्वस्यादहमिव कोऽपरः सचेताः संसारे विषयविषैर्वशीकृतात्मा ॥ ४१ ॥

अपने मस्तक के सफेद केश को देखकर चक्रवर्ती ने मणिमय दर्पण को वहां ही छोड़ दिया और बहुत समय पर्यन्त इस प्रकार चिन्ता में निमग्न हो गए। वे सोचने लगे, अरे! इस जगत में मेरे सिवाय और कौन सहृदय मानव होगा, जो इस संसार पर विश्वास करेगा?

चक्रवर्ती के ये विचार गंभीर अनुभव से परिपूर्ण हैं :—

भोगार्थैः सुर-नृप-खेचरोपनीतैः साम्राज्ये न खलु ममापि जातु रम्ये ।
संतृप्तिः प्रकृतनरेषु कैव वार्ता दुःपूरो भवति तथापि लोभगर्तः ॥ ४२ ॥

देव, राजा तथा विद्याधरों के द्वारा लाए गए भोग्य पदार्थों के द्वारा इस रमणीय साम्राज्य में मेरी कभी भी तृप्ति नहीं हुई, तब सामान्य मानव समाज की क्या कथा? वास्तव में बात यह है कि सर्व सामग्री प्राप्त होते हुए भी लोभ रूपी गड्ढे को पूरा भरना संभव नहीं है।

सारा संसार मोह के कारण अंधा हो रहा है, इस कारण उसे सच्चा मार्ग नहीं सूझता है :—

आकृष्टो विषयसुखैर्बुधोपि नूनं संसारान्न परिबिभेति भूरिदुःखात् ।
आत्मानं बत कुरुते दुराशयार्तं मोहांधो ननु सकलोपि जीवलोकः ॥ ४३ ॥

विषय सुखों से खींचा गया विद्वान् मनुष्य भी दुःखों से परिपूर्ण संसार से डरता नहीं है। खेद है कि वह अपने को दुष्ट विचारों द्वारा दुःखी बनाता है। वास्तविक बात यह है, कि समस्त जगत् के जीव मोह के कारण अन्धे हो गए हैं।

प्रियमित्र चक्रवर्ती का विरक्त अन्तःकरण उन सत्पुरुषों को अपना साधुवाद अर्पित करता है, जो भोगों की लालसा से विमुक्त हो गए हैं।

ते धन्या जगति विदां त एव मुख्याः पर्याप्तं सुकृतफलं च भूरि तेषाम् ।
यै स्तृष्ण-विषलतिका समूल-मूलं प्रोन्मूल्य प्रतिदिशमुज्झिता सुदूरं ॥४४॥

इस जगत् में वे व्यक्ति धन्य हैं, ज्ञानवानों में वे शिरोमणि हैं तथा उनके पुण्य का फल अत्यन्त विपुल है, जिन्होंने तृष्णारूपी विष की लता को जड़ मूल से उखाड़ सभी दिशाओं में अत्यन्त दूर फेंक दिया है।

चक्रवर्ती के अन्तःकरण के ये विचार कितने सत्य हैं :—

नो भार्या न च तनयो न बंधुवर्गः संत्रातुं व्यसन-मुखादलं हि कश्चित् ।
तेष्वास्था शिथिलयितुं तथापि नेच्छेत् धिङ् मूढ़ा प्रकृतिमिमां शरीरभाजाम् ॥४५॥

इस जीव को विपत्ति तथा मृत्यु के मुख से बचाने में न स्त्री, न पुत्र और न बन्धु वर्ग ही समर्थ होते हैं, फिर भी यह प्राणी इनके प्रति अपने प्रेमभाव को शिथिल करने की तनिक भी इच्छा नहीं करता है। प्राणियों की इस मूढ़ता को धिक्कार हो।

अपार वैभव और समृद्धि के सिन्धु में निमग्न षट्खंडाधिपति चक्रवर्ती का यह व्यक्तिगत अनुभव बहुमूल्य है :—

संतृप्तिर्न च विषयै निषेव्यमाणै-रक्षाणां भवति पुनस्तृषैव घोरा ।
तृष्णार्तो हितमहितं न वेत्ति किंचित्संसारो व्यसनमयो ह्यनात्मनीनः ॥४६॥

विषयों का उपभोग करने से तनिक भी तृप्ति नहीं मिलती, प्रत्युत इंद्रियों की तीव्र लालसा उत्पन्न होती है। तृष्णा से पीड़ित व्यक्ति हित तथा अहित का विचार नहीं करता है। यह संसार दुःखमय है तथा आत्मा के लिए अकल्याणकारक है।

चक्रवर्ती आश्चर्य चकित हो सोचते हैं :—

जानाति स्वयमपि वीक्षते शृणोति प्रत्यक्षं जनन-जरा मृति-स्वभावम् ।
संसारं कुशलविवर्जितं तथा भ्रान्त्या प्रशमरतो न जातु जीवः ॥ ४७ ॥

यह जीव जन्म, जरा, मरण के स्वरूप को जानता है। इन्हें स्वयं देखता है, इनके विषय में दूसरों के मुख से सुनता है, कि यह

संसार कल्याण से शून्य है, फिर भी आश्चर्य है कि भ्रमवश होने से जीव तनिक भी शांतभाव की ओर उन्मुख नहीं बनता है।

चक्रवर्ती प्रियमित्र महाराज के हृदय में एक श्वेत केश ने धवल विचारों की पवित्र गंगा बहा दी। वास्तव में सत्पुरुषों का देखना, सोचना आदि कार्य जनसाधारण की अपेक्षा विलक्षण रहता है।

भगवान विमलनाथ तीर्थंकर भी एक सामान्य घटना से अत्यन्त प्रभावित हुए थे और उन्होंने तपोवन की ओर प्रस्थान करने का क्रान्तिकारी कदम उठाया था। बात बहुत सामान्य थी। एक दिन उन्होंने बरफ की पटलों से ढके हुए और सब प्रकार के वृक्षों से अलंकृत एक पर्वत को देखा। उस हेमन्त ऋतु में उन्होंने यह भी देखा कि प्रकृति का वह सौन्दर्य, जो अत्यन्त मनोमुग्धकारी था, क्षण भर में विनष्ट हो गया। इस घटना ने उनकी आत्मदृष्टि और तत्व विचार की पद्धति को असाधारण बल प्रदान किया। वे सोचते थे :—

चारित्रस्य न गन्धोऽपि प्रत्याख्यानोदयो यतः।
बन्धश्चचतुर्विधोप्यस्ति बहुमोहपरिग्रहः॥ ३५-५६ ॥

मेरे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से चारित्र का लेश भी नहीं है। मेरे चारों प्रकार का बध हो रहा है। मेरे मोह का परिग्रह विपुल मात्रा में है।

प्रमादाः सन्ति सर्वेपि निर्जराप्यल्पिकैव सा।
अहो मोहस्य माहात्म्यं माद्याम्यहमिहैव हि॥ ३६ ॥

मेरे संपूर्ण प्रमाद विद्यमान हैं। अल्प प्रमाण में कर्मों की निर्जरा होती है। आश्चर्य है कि तीर्थंकर होते हुए भी मैं प्रमाद के बधन में फंसा हुआ हूँ। यह सब मोह की महिमा है।

इस प्रसंग में अकलंक स्वामी के मुमुक्षु के लिए उद्बोधक ये शब्द हृदयग्राही हैं :—

कषायै रंजितं चेतस्तत्वं नैवावगाहते ।
नीलीरक्तेऽम्बरे रागो, दुराधेयो हि कौंकुमः ॥ १७ ॥ स्वरूप संबोधन ॥

क्रोधादि कषायों से रंजित मनुष्य का अंतःकरण पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता है, जैसे नीले कपड़े पर केशरिया रंग नहीं चढ़ सकता ।

इसलिए आचार्य कहते हैं :—

ततस्त्वं दोषनिर्मुक्त्यै, निर्मोहो भव सर्वतः ।
उदासीनत्वमाश्रित्य तत्त्वचिंतापरो भव ॥ १८ ॥

हे भाई ! जब तक दोषों का पूर्णतया परित्याग कर तू मोह-रहित नहीं बनता है, तब तक संसार, शरीर व भोगों से उदासीन वृत्ति को अंगीकार करके तत्व विचार करने में तत्परता धारण कर ।

अब चक्रवर्ती के अंतःकरण में उज्ज्वल आध्यात्मिक ज्योति भासमान हो रही है । उसके प्रकाश मे पुद्गल का मोहक माया जाल विष से भी भीषण लग रहा है, कारण राज्य, वैभव आदि में सच्चा आनन्द नहीं है । सच्चा आनन्द त्यागवृत्ति में है ।

प्रश्नोत्तर रत्नमालिका मे लिखा है :—

"किं सौख्यं ?"—आनन्द क्या है ? "सर्व-संग-विरतिः"—संपूर्ण परिग्रह का त्याग (आनन्द है) ।

ऐसे निर्मल आध्यात्मिक प्रकाश में मोह का अंधकार दूर हो गया । अब चक्रवर्ती राज्य वैभव को कारावास रूप में देखने लगे । सिंह पिंजरे को तोड़कर वन की ओर उछलता हुआ जाता है । उस सिंह को कौन रोक सकता है ? ऐसी ही स्थिति चक्रवर्ती की हो गई । अब प्रियमित्र महाराज ने तपोवनवासी तपस्वी बनने का निश्चय कर लिया ।

उन्होंने राजकुमार अरिंजय को अपना उत्तराधिकारी बना भगवान क्षेमंकर जिनेश्वर के पाद-पद्मों में सोलह हजार राजाओं के साथ जिनदीक्षा ली । अनेक प्रकार से लालित-पालित और पोषित शरीर से उन्होंने अपना मन पूर्णतया मोड़ लिया । अब उनका कोई

नहीं है, और न वे किसी के कुछ हैं। वे आत्मदेव हैं। वास्तव में वे श्रेष्ठ नरसिंह हैं, जो कर्मरूपी मदोन्मत्त गजों को विदीर्ण करने में संलग्न है। धीरे-धीरे सारे विश्व में उनके उज्ज्वल तथा दैदीप्यमान तपोमय जीवन की कीर्ति दिग्दिगंत-व्यापिनी हो गई।

महाकवि असग ने लिखा है :—

मनसि प्रशमं निधाय शुद्धं विधिना साधु तपश्चचार घोरं।
भुवि भव्यजनस्य वत्सलत्वात्प्रियमित्रः प्रियमित्रतां प्रयातः ॥ १६४ ॥

प्रियमित्र यतीश्वर ने अपने मन में श्रेष्ठ शांति धारण की तथा आगमोक्त विधि के अनुसार निर्दोष तथा घोर तपश्चरण किया। जगत में भव्य जीवों पर वात्सल्य भाव धारण करने से प्रियमित्र ने वास्तव में प्रियमित्रपना प्राप्त किया था।

आत्मशुद्धि के उद्योग में वे वीतराग तपस्वी पूर्णतया संलग्न थे। इतने में जीवन समाप्त होने की वेला आ गई। शरीर के प्रति तनिक भी ममत्व न था, कारण शरीर उनका नहीं था, और न वे शरीर के थे। मृत्यु का आगमन उनके मन में तनिक भी आकुलता का कारण नहीं बना। मृत्यु-महोत्सव में लिखा है :—

संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सापि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥ १७ ॥

जिन लोगों का चित्त संसार में आसक्त है, उनको मृत्यु भयप्रद होती है। जो ज्ञान तथा वैराग्य में निवास करते हैं, ऐसे सत्पुरुष मृत्यु के आने पर आनंदित होते हैं।

क्षण भर में मुनिराज का शरीर प्राणशून्य हो गया। राजहंस उड़कर चला गया। समाधि सहित मृत्यु को प्राप्तकर श्रमणराज प्रियमित्र का नर जन्म कृतार्थ हो गया। यथार्थ में वे सातिशय पुण्यशाली महापुरुष थे।

—०—०—

सुरराज सूर्यप्रभ

जो पहले प्रियमित्र चक्रवर्ती थे, और जिन्होंने विशाल साम्राज्य का परित्याग करके प्रशान्त, निस्पृह, वीतराग तथा स्वात्मनिष्ठ योगीन्द्र की दैगम्बरी दीक्षाली थी, अब पुण्य कर्म के प्रभाव से प्रियमित्र साधुराज सहस्रार स्वर्ग के सुरराज हो गए।

जिस वैभव तथा बिभूति का उन्होंने जीर्ण तृणवत् त्याग किया था, वह समस्त सामग्री सीमातीत वृद्धि को प्राप्त होकर स्वर्ग में समुपस्थित हो गई। यह सब क्या तमाशा है? यथार्थ में यह मोहनीय कर्म रूपी मदारी का खेल है। जब तक वह जीवित है, तब तक इस जीव को अनेक प्रकार के नाच नचाता रहता है।

जिनेन्द्र की स्तुति में भक्त कहता है "भगवन! ये कर्म शत्रु बड़े अद्भुत हैं। कभी निगोद में मुझे पटकते हैं, कभी स्वर्ग का सौन्दर्य बताते हुए मुझे देव पदवी देते हैं। कभी पशु की पर्याय प्रदान करते हैं, कभी नरकों में गिराकर अवर्णनीय व्यथा देते हैं।"

गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण मे लिखा है :—

एवं कर्मवशाज्जंतुः ससारे परिवर्तने ।
पिता पुत्रः, सुतो माता, माता भ्राता सच स्वसा ॥ २६१ ॥
स्वसा नप्ता भवेत् का वा बंधु-संबंध-सस्थितिः ।
कस्य को नापकर्तात्र नोपकर्ता च कस्य कः ॥ २६३–पर्व ५६ ॥

इस प्रकार कर्म के वश होकर यह जीव संसार में विविध प्रकार के परिवर्तन करता है; पिता का जीव पुत्र-रूप पर्याय को प्राप्त करता है। वह पुत्र कभी माता बनता है तथा माता भाई बनती है। भाई बहिन बनता है। बहिन नाती होती है। इस प्रकार इस संसार में

में बंधु-संबंध की एक रूपता कैसे रह सकती है ? इस संसार में कौन किसका बुरा करने वाला शत्रु अथवा उपकार करने वाला मित्र नहीं है ?

यही परिवर्तन का चक्र हमें आगामी तीर्थंकर महावीर बनने वाले जीव की जीवनी में घूमता हुआ दिखता है। जो प्रियमित्र मुनीन्द्र पिच्छी कमण्डलु धारी अकिंचन थे, अब वह जीव दिव्य देहधारी कल्पनातीत वैभव का पुंज सूर्य प्रभ देव राज के रूप में विद्यमान है। ऐसा पदार्थ का परिणमन हुआ करता है। उसके क्रम को अन्यथा करने करने की क्षमता किसमें है ? जब तक कर्म का जड़मूल से क्षय नहीं होता, तब तक ऐसा ही भला बुरा खेल शुभ अशुभ कर्मों के आश्रय से होता रहेगा।

जब सूर्यप्रभ देव ने रुचक विमान में जन्म धारण किया, तब इनके पुण्य से आकर्षित होकर अनेक देव देवियां इनके समीप आकर स्तुति करने लगीं।

उस समय इसके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि सब क्या है ? उस काल में उत्पन्न हुए भव प्रत्यय अवधिज्ञान द्वारा वस्तु-स्थिति का सम्यक् अवबोध होता है।

भाव संग्रह ग्रंथ में आचार्य देवसेन का स्वर्गीय जीवन की प्रारंभिक अवस्था पर प्रकाश डालने वाला यह कथन ध्यान देने योग्य है :-

'जिस सम्यग्दृष्टी पुरुष के शुभ परिणाम हैं, शुभ लेश्याएँ हैं तथा जो सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण करता है, ऐसा पुरुष यदि निदान नहीं करता है तो वह व्यक्ति मरकर स्वर्गलोक में ही उत्पन्न होता है।' इस संबंध में ग्रन्थकार के ये शब्द स्मरण योग्य हैं :-

अकइय-णियाण-सम्मो पुण्णं काऊण णाण-चरणट्ठो।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥ ४०१ ॥

दिव्य देह :—देवों के शरीर में चर्म, रुधिर, माँस, मेदा, हड्डी, चर्बी, शुक्र, कफ, पित्त, आँतें, मल, मूत्र, रोम, नख, दाँत, शिरा, नारू, लार, पसीना, नेत्रों की टिमकार, आलस्य, निद्रा, तन्द्रा और बुढ़ापा

नहीं होते। उनका शरीर पुण्य कर्म के उदय से अत्यंत पवित्र, निर्मल तथा सुन्दर होता है। उनके शरीर का स्पर्श, गंध अत्यन्त शुभ होता है। ऊगते सूर्य के समान उनका तेज होता है। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर तथा सदा तारुण्य समलंकृत होता है। उनमें अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामरूप ये आठ गुण पाए जाते हैं। शरीर को छोटा बनाने की शक्ति अणिमा, मेरु से भी बड़ा आकार बनाने की शक्ति महिमा है वायु से भी हल्का शरीर निर्माण की शक्ति लघिमा है। पृथ्वी पर ठहर कर भी अपनी अँगुली के अग्रभाग से मेरुपर्वत के शिखर को स्पर्श करने की शक्ति होना प्राप्ति है, जल में भूमि के समान गमन की शक्ति होना तथा भूमि में जल के समान क्रीड़ा आदि की शक्ति प्राकाम्य है। तीनों लोकों की प्रभुता प्राप्त कर लेने की शक्ति ईशित्व है, समस्त जीवों को वश करने की शक्ति वशित्व है। एक साथ अनेक रूप धारण करने की शक्ति कामरूपत्व है।

उनका शरीर उत्तम पुद्गल परमाणुओं से निर्मित होता है। पुण्य कर्म के उदय से वह स्वाभाविक आभूषणों से शोभायमान अत्यन्त रमणीय होता है।

अपने पुण्य कर्म के उदय से वह जीव अपने शरीर की कान्ति से सुशोभित होने वाले सुवर्णमय भवन में उत्पन्न होता है। वहाँ पर सुवर्ण की दीप्ति से समलंकृत रत्नमय भवनों को देखता है। उस समय तुम्बुर जाति के देवों के द्वारा वीणा पर गाये गए गीतों को सुनता है। वह चिन्तवन करता है कि मैं कौन हूँ? यहाँ क्यों आ गया? मैंने कौन सा उग्र तपश्चरण अथवा संयम पालन किया था, जिससे मैं यहाँ आकर उत्पन्न हुआ हूँ।

इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ वह अपने भवप्रत्यय अवधि ज्ञान का उपयोग करता हुआ अपने पूर्वभव को जान लेता है। तथा उसमें कौनसी धर्म प्रभावना की थी, यह भी जान लेता है।

पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो।
वंदेइ जिणवराणं णंदिसर पहुइ सव्वाइं ॥ ४१६ ॥

तदनन्तर वह सम्यग्दृष्टी देव हृदय से जिनेन्द्र के धर्म पर श्रद्धान करता है और नंदीश्वर द्वीप आदि की जिन प्रतिमाओं की वन्दना करता है।

वह देव भगवान जिनेन्द्र देव के समवशरण में पहुँचकर अवर्णनीय आनन्द प्राप्त करता है। वह पंच विदेहों में जाता है।

वहाँ क्या देखता है ? "किं पश्यतीति चेत्—तदिदं समवसरणं ते एते वीतरागसर्वज्ञाः, ते एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते ते इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढ धर्म-मतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनो भावनामपरित्यजन् भोगानु-भवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थंकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्ट भेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिज परमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति।" (पृ. १५६, वृहद् द्रव्यसंग्रह):—

वह देखता है कि यह समवशरण है, ये वीतराग सर्वज्ञ भगवान हैं, ये भेद अभेद रत्नत्रय के आराधक गणधर देव आदि हैं, जो पहिले सुने थे, वे आज प्रत्यक्ष नयनगोचर हुए। ऐसा मानकर वह धर्म में अपनी बुद्धि को सुदृढ़ करता है और चतुर्थगुणस्थान के योग्य आत्मभावना को न छोड़ता हुआ भोगों का अनुभव करते हुए भी धर्मध्यान पूर्वक स्वर्ग के काल को पूर्णकर वहां से आकर तीर्थंकर आदि के पद को प्राप्त होता है, तो भी पूर्व जन्म में भावना किए गए विशिष्ट भेदविज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता है। पश्चात् दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करके पुण्य तथा पाप से रहित निज परमात्मा के ध्यान द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है।"

वह सुरराज सूर्यप्रभ पुण्य कर्म के विपाकवश सुख भोगता हुआ आत्म कल्याण भी संपन्न करता।

पुण्य-पाप परामर्श :—इस प्रसंग में वृहद द्रव्यसंग्रह में निरूपित पुण्य कर्म की उपादेयता तथा अनुपादेयता के रहस्य को स्पष्ट करने वाला निम्नलिखित विवेचन उपयोगी प्रतीत होता है, उसमें बताया है कि बहिरात्मा, मिथ्या दृष्टि, आस्रव बंध तथा पाप इन तीन पदार्थों का करने वाला होता। वह कभी कभी—"पापानुबन्धि-पुण्य-पदार्थ-स्यापि कर्त्ता भवति।"— पापानुबंधी पुण्यपदार्थ का भी कर्त्ता होता है। सम्यग्दृष्टी जीव पुण्य पदार्थ का भी कर्त्ता कहा गया है।

इस संबंध में श्री ब्रह्मदेव के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं :— "यस्तु पूर्वोक्तबहिरात्मनो विलक्षणः सम्यग्दृष्टिः ससंवरनिर्जरामोक्ष-पदार्थत्रयस्य कर्ता भवति। रागादिविभावरहित परमसामायिके यदा स्थातुं समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवंचनार्थं संसार-स्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुबंधितीर्थंकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थ-स्यापि कर्ता भवति।" (पृ० ८२)

जो पूर्वोक्त बहिरात्मा से भिन्न लक्षण वाला सम्यग्दृष्टी है, वह संवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता कहा गया है। जब वह रागादिविभाव रहित परम सामायिक में स्थित नहीं रह सकता उस समय विषय कषायों से उत्पन्न होने वाले आर्त्त और रौद्र नामक दुर्ध्यानों से बचने के लिए संसार की स्थिति का नाश करता हुआ पुण्यानुबंधी तीर्थंकर नामक प्रकृति आदि रूप विशिष्ट पुण्य पदार्थ का कर्त्ता होता है।

अध्यात्मशास्त्र में पुण्य और पाप को शुद्ध निश्चयनय से समान माना है। अतः पुण्य को भी पाप के समान समझने का उपदेश आगम में मिलता है।

परमात्म प्रकाश में योगीन्द्रदेव ने लिखा है :—

जो णवि मण्णइ जीउ समु, पुण्णुवि पाउवि दोइ।
सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय, मोहिं हिंडइ लोइ ॥ १८२ ॥

जो जीव पुण्य तथा पाप को समान नहीं मानता है, वह जीव मोह से मोहित हुआ बहुत काल तक दुःख सहता हुआ संसार में भ्रमण करता है।

इस संबंध में टीकाकार लिखते हैं, "प्रभाकर भट्ट बोला, यदि पुण्य और पाप को अन्य लोग समान कहते हैं तो तुम उन्हें क्यों दोष देते हो ?"

योगीन्द्रदेव कहते हैं, "जब शुद्धात्मानुभूति स्वरूप त्रिगुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए पुण्य-पाप को समान जानते हैं तब तो ऐसा जानना हमें अभीष्ट है, किन्तु जिन्होंने वीतराग निर्विकल्प परम समाधि को नहीं पाकर गृहस्थ अवस्था में रहकर भी दान पूजा आदि शुभ क्रियाओं को छोड़ दिया है तथा मुनि अवस्था में षट् आवश्यक आदिकों को भी छोड़ दिया है, वे दोनों भ्रष्ट होते हैं, इसलिए वे दूषण के योग्य ही हैं।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो निर्विकल्प वीतराग परम समाधि को नहीं प्राप्त हुए हैं, उनके लिए पाप सर्वथा हेय है, पुण्य उपादेय है अतः पुण्य के साधन देवपूजा आदि शुभ कार्य आश्रय योग्य हैं। इसमें प्रमाद करने वाले स्वच्छंद जीव की दुर्ध्यान द्वारा दुर्गति को कोई नहीं बचा सकता है। +

परमात्म प्रकाश का यह दोहा महत्वपूर्ण है :—

दाणु ण दिण्णउ मुणिवर हं, णवि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु, किमु हो सइ सिव-लाहु ॥ २६६ ॥

+ अत्राह प्रभाकरभट्टः तर्हि ये केचन पुण्य-पापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठंति, तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति।

भगवानाह :—यह शुद्धात्मानुभूति-लक्षणं त्रिगुप्ति-गुप्त वीतराग-निर्विकल्पपरम-समाधि लब्ध्वा तिष्ठंति तदा सम्मतमेव। यदि पुनस्तथाविधाम-वस्थामलभमाना अपि संतो गृहस्थावस्थायां दान-पूजादिकं त्यजंति, तपोधनावस्थायां षडावश्यादिकं च त्यक्त्वोभय-भ्रष्टाः संतः तिष्ठंति तदा दूषणमेवेति तात्पर्य— परमात्म प्रकाश पृ— १६७

जिस गृहस्थ ने मुनीश्वरों को दान नहीं दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा नहीं की तथा पंच परमेष्ठियों की वंदना नहीं की उसे मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

शंका :—कुछ लोग ध्यान की अर्धनिमीलित मुद्रा को धारण कर सोचते हैं कि हमने ध्यान कर लिया।

समाधान :—वे भ्रम में हैं। ध्यान नाटक का अभिनय नहीं है, वह पवन से भी चंचल चित्त वृत्ति से एकाग्र करने का अत्यंत कठिन कार्य है, जिसे संपन्न करने में बड़े-बड़े योगी भी असफल हो जाते हैं। आर्तध्यान और रौद्रध्यान के बाहुपाश में जकड़ा गया गृहस्थ भला उस स्थिति को कैसे प्राप्त करेगा ?

परमात्म प्रकाश मे कहा है :—

अद्ध-म्मीलि य-लोय णिहि जोउ कि झंपिय एहि।
एमुइ लम्भइ परम गइ, णिच्चिंति ठिय एहिं॥ ३००॥

आधे उघड़े हुए नेत्रों से अथवा बन्द हुए नेत्रों से क्या योग अथवा ध्यान की सिद्धि होती है ? कभी नहीं। जो चिंता रहित एकाग्र में स्थित है, उनको इसी तरह परम गति अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति होती है।

मार्ग दर्शन—इस विषय में आचार्य देवसेन ने भाव संग्रह में सुन्दर तथा स्पष्ट रूप में मार्ग प्रदर्शन किया है :—

जाम ण छंडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंतय पावं।
पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ॥ ३९३॥

जब तक गृहस्थ ने गृहवास त्यागकर मुनि पद स्वीकार नहीं किया है, तब तक गृहस्थ से पाप नहीं छूट सकते। जो गृहस्थ पापों के परित्याग करने मे असमर्थ है, उसे पुण्य के कारण का त्याग नहीं करना चाहिए।

चेतावनी :—आचार्य के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

मा मुक्क पुण्णहेउं पावस्सासवं अपरिहरंतो य।
बज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊणं ॥ ३६४ ॥

जो गृहस्थ पाप के आस्रवों का त्याग करने में असमर्थ है, उसे पुण्य के कारणों को नहीं छोड़ना चाहिए। जो निरंतर पाप को बांधता रहता है, वह मरकर पशु योनि या नरक पर्याय रूप कुगति को प्राप्त करता है।

सूर्यप्रभ देव के पूर्व भवों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जबसे सिंह पर्यायधारी जीव ने सम्यक्त्व प्राप्त किया है, तबसे वह जीव आध्यात्मिक क्षेत्र में वर्धमान होता हुआ अभ्युदयों की प्राप्ति में भी प्रगतिगामी है। इसे ही तो सातिशय पुण्य कहते हैं।

सूर्यप्रभ का वैभव—वर्धमान चरित्र में सूर्यप्रभ देव के वैभव को अचिन्त्य कहा है–"अचिन्त्य वैभवम्"। वह वैभव "बहुविधम्"—अनेक प्रकार का था। सहस्रार स्वर्गवासी तीर्थंकर होने वाले सम्यग्दृष्टि का बाह्य तथा अन्तरंग वैभव वास्तव में बड़े-बड़े पुण्यात्माओं को विस्मय में डाल देता है।

सूर्यप्रभ सुरेन्द्र का विमान पीत तथा शुक्ल इन दो वर्णों युक्त था" द्विवर्णानि विमानानि हारिद्र-शुक्ल वर्णानि" (त. रा. पृ. १६८)। उस स्वर्ग में मनोभाव-(लेश्या) जघन्य शुक्ल लेश्या अथवा उत्कृष्ट पद्म लेश्या रूप थे। मनोभाव के अनुसार दिव्य लेश्या भी थी। वहाँ आयु अठारह सागरोपम कही गई है।

पहले सूर्यप्रभ देव दशम स्वर्ग में प्रीतिंकर देव थे। वहाँ की अपेक्षा यहाँ उसका प्रभाव, सुख, द्युति, इन्द्रियों के द्वारा होने वाला ज्ञान अधिक था। शरीर की ऊंचाई चार अरलि प्रमाण थी। मूर्छा परिणाम रूप परिग्रह तथा अहंकार के भाव पहले की अपेक्षा न्यून थे।

विरक्त परिणाम—सूर्यप्रभ का मन विषयों से अत्यन्त विरक्त रहता था। उसकी विरक्ति स्वाभाविक तथा आंतरिक थी। वीतराग

भगवान तथा वीतराग-वाणी के निमित्त से वह आत्म-सूर्य की प्रभा को प्रवर्धमान बनाता जा रहा था।

उसके जीवन में यह पद्य पूर्णतया चरितार्थ होता था। सावय-धम्मु दोहा में लिखा है :—

धम्मे सुहु, पावेण दुहु एहुपसिद्धउ लोइ।
तम्हा धम्मुसमायराहि जे इच्छिउ फलु होई ॥ १०१ ॥

यह बात जगत् में प्रसिद्ध है कि धर्म से सुख तथा पाप से दुःख प्राप्त होता है अतः हे जीव! तू धर्म का आचरण कर, जिससे तुझे इच्छित फल प्राप्त हो। सूर्यप्रभ देव के जीव ने जब पाप कार्यों को अपनाया था, तब वह नरक में तथा तिर्यंच योनि में दुःखी रहा, किन्तु जब चारण मुनि युगल के उपदेश से उस आत्मा को सम्यक् ज्योति मिली, तबसे उस जीव का अद्भुत विकास होना प्रारम्भ हो गया। सूर्यप्रभ देव विषयों से विरक्त था, अतः उसका सम्पर्क उसके ही समान शीघ्र मोक्षगामी पवित्र विचार तथा भावना वाले देवों के साथ रहता था। धर्मसाधन तथा आत्मकल्याण के योग्य जितनी सामग्री मिलती थी, उसका सूर्यप्रभ बड़े प्रेम से उपयोग करता था। उसका हृदय सर्वदा समाधिकरण के काल की प्रतीक्षा करता था, जब वह उस दिव्य देह का परित्याग करके मनुष्य जन्म धारण करे और सकल संयम का शरण ग्रहण कर शीघ्र ही अपने घर—निर्वाण में पहुँचे।

'देव पर्याय में बहुत आनन्द मिल रहा है। स्वर्ग छोड़ने पर ऐसा सुख नहीं मिलेगा। यह देव पर्याय सदा बनी रहे', ऐसा भाव मिथ्या दृष्टि विषय लोलुपी देवों का होता है। इसी से मरणकाल उनके लिए अवर्णनीय आर्तध्यान की व्यथा का उत्पादक होता है। सूर्यप्रभ देव की आत्मा में सम्यक्ज्ञान का सूर्य अपनी दिव्यप्रभा से मोह अंधकार को दूर कर रहा था। उसे आत्मचिंतन, सत्संग, जिनेन्द्र भगवान के दर्शन, पूजन, तीर्थवंदना आदि में जो आनन्द प्राप्त होता था, वह दिव्य भोगों में नहीं मिलता था।

सम्यग्दृष्टि सूर्यप्रभदेव अपने स्वरूप का विचार करते समय यह सोचने लगता था, मेरा शरीर वैक्रियिक परमाणुओं से निर्मित है, यथार्थ में यह जड़ शरीर मेरा नहीं है। ज्ञान-दर्शनमय आत्मा ही मेरा है। वह आत्मा अविनाशी है।

पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है :—

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः॥ ६६॥

वस्त्र क नष्ट हो जाने पर कोई भी अपने आपको नष्ट नहीं मानना है इसी प्रकार बुद्धिमान जीव शरीर के नष्ट होने पर अपनी आत्मा का नाश नहीं मानता है।

समयसार-कलश मे अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है :—

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं, प्राणाः किलास्यात्मनो।
ज्ञान सत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्॥
अस्यातो मरणं न किंचिद् भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो।
निशंक सततं स्वयं सहजं ज्ञानं सदा विंदति॥

प्राणों के नाश को मरण कहते हैं। इस आत्मा के प्राण ज्ञान है। वह ज्ञान सत्स्वरूप होने से कभी भी नष्ट नहीं होता है। अतः इस आत्मा का कभी भी मरण नहीं है, तब फिर ज्ञानी जीव को मरण का भय क्यों होगा ? वह शंका विमुक्त होकर निरन्तर स्वाभाविक ज्ञान को सदा प्राप्त करता है।

परलोक प्रमाण वेला—सूर्यप्रभदेव की लोकोत्तर प्रमाण की वेला जब समीप आ गई, तब वह सम्यग्ज्ञानी यह चिन्तन करने लगा :—

एगो मे सासदो आदा णाणादंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

ज्ञान-दर्शन लक्षण वाली मेरी आत्मा एक है, अविनाशी है। जो शेष बाहरी पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं। वे सब संयोग स्वभाव वाले हैं।

ऐसा विचार करते हुए उस महान आत्मा ने पंचपरमेष्ठियों को तन्मय होकर प्रणाम किया। सूर्यप्रभ ध्यान में निमग्न हैं। दूसरे क्षण स्वर्ग में सूर्यप्रभ नहीं है। शरीर चैतन्य शून्य विद्यमान है। वह ज्योति अब यहाँ प्रकाश नहीं देती है। तत्वज्ञ सूर्यप्रभ ने समता सहित शरीर का त्याग कर दिया है।

न्यायशील नन्द नरेश

स्वर्ग के अवर्णनीय सुखों का उपभोग करते हुए भी आध्यात्मिक दिव्य दृष्टि संपन्न सूर्यप्रभ देव ने समाधि मरण के द्वारा महान पुण्यशाली नन्दन नामक राजपुत्र के रूप में जन्म धारण किया। इनके पिता प्रजावत्सल नरेश नंदिवर्धन थे और माता महारानी वीरवती थी। भाग्यशाली नन्द का जन्म स्थान जंबूद्वीप स्थित छत्रपुर नगर था। नन्द जैसे असाधारण पुण्यशाली राजपुत्र को प्राप्त कर राजा तथा प्रजा दोनों अपने को धन्य मानते थे। पूर्व जन्म के उच्च संस्कारों से नन्द की आत्मा प्रभावित थी। नन्द का सर्वांगीण विकास आश्चर्य प्रद था।

जब महाराज नन्दिवर्धन के शासन तंत्र को राजकुमार नन्द ने सम्हाला तब राज्य-व्यवस्था में अद्भुत उन्नति हुई। गुणभद्र आचार्य के ये शब्द यहां पूर्णतया चरितार्थ होते थे :--

पाति तस्मिन् महीं नासीद् ध्वनिरन्याय इत्ययम्।
प्रवर्तने प्रजः स्वेषु स्वेषु मार्गे स्वनर्गलाः॥

जब उन्होंने शासन सूत्र अपने हाथ में लिया, तबसे 'अन्याय' इस शब्द की ध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ती थी। प्रजा बिना बाधा के अपने-अपने इष्ट मार्गों में चल रही थी।

कीर्तिर्गुणमयी वाचि मूर्तिः पुण्यमयीक्षणे।
वृत्तिर्धर्ममयी चित्ते सर्वेषामस्य भू भुजः॥

उसकी गुणमयी कीर्ति सबके वचनों में थी। उसकी पुण्यमयी मूर्ति सबके नेत्रों में थी। उसका धर्ममय जीवन सबके हृदय में प्रतिष्ठित था।

उत्तरपुराण में नन्दन के स्थान में नन्द नाम आया है "नन्दाख्यस्तनूजअजनि"—सर्ग ७४, २४३

सामवाचि दयाचित्ते धाम देहे नयो मनौ ।
धनं दाने जिने भक्तिः प्रतापस्तस्य शत्रुषु ॥

उसकी वाणी में शांति थी, चित्त में करुणा थी, शरीर में तेज था, बुद्धि में नीतिमत्ता थी, धन दान में व्यय होता था, भक्ति जिनेन्द्र में थी, तथा प्रताप शत्रुओं में था।

पाति तस्मिन् भुवं भूपे न्यायमार्गानुवर्तिनि ।
वृद्धिमेव प्रजाः प्रापुर्मुनौ समितयो यथा ॥

उस न्यायशील राजा के पृथ्वी का पालन करते समय प्रजा की वृद्धि हो रही थी, जैसे मुनियों में समितियां वृद्धिगत होती हैं।

नन्द राज्य-वैभव के मध्य रहते हुए भी अपनी चैतन्य ज्योति को नहीं भूले थे। जब देव पर्याय धारण करते हुए भी वे तत्वतः अपने को वैभाविक देव पर्याय का स्वामी नहीं मानते हैं, तब इस मनुष्य शरीर संयुक्त होते हुए भला वे अपनी आत्मा को क्यों नरेश की उपाधि समन्वित सोचते? ये सब विशेषताएं आत्मा की नहीं हैं। वे राज्य विस्तार के प्रेमी नहीं थे। पहले चक्रवर्ती होकर उन्होंने देख लिया था, कि असाधारण विस्तार युक्त साम्राज्य पद आत्म शान्ति तथा अन्तःकरण में सुख का रस प्रवाहित नहीं करता है। राज्य-वैभव तो चिन्ता का कारण बनता है। उनके हृदय में रहकर यही इच्छा उत्पन्न होती थी कि मैं समरस का आनन्द लेने वाले आध्यात्मिक योगियों की श्रेणी में अपने को कब सम्मिलित करूंगा। आशाधर जी ने लिखा है आदर्श गृहस्थ हृदय में यह सोचता है :—

मोक्षोन्मुख-क्रिया काण्ड - विस्मापित-बहिर्जनः ।
कदा लप्स्ये समरस-स्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥ ४२-६ ॥

भगवन्! ऐसा सौभाग्य कब मिलेगा, जब मैं मोक्ष के उन्मुख क्रियाकाण्ड के द्वारा बहिरत्माओं को विस्मय में डालता हुआ आत्म-दर्शी बनकर साम्य रस का आस्वादन करने वालों की पंक्ति को प्राप्त करूंगा?

जिनका संसार-परिभ्रमण समाप्त होने के समीप है, वे यह नहीं सोचते कि मैं कब चक्रवर्ती बनूंगा। कब इंद्र की पदवी प्राप्त करूंगा, कब श्रेष्ठ भोगों को प्राप्त करूंगा। उन सत्पुरुषों के हृदय में वैराग्य की बेलि प्रतिक्षण वर्धमान होती रहती है। वे सोचते हैं :—

शून्य-ध्यानैकतानस्य स्थाणुबुध्याऽनडुन्मृगैः।
उद्घृष्यमाणस्य कदा यास्यन्ति दिवसा मम ॥ ६-४१ ॥

प्रभो! वे दिन मुझे कब मिलेंगे, जब मैं निर्विकल्पसमाधि में निमग्न होऊंगा और हरिण आदि पशुगण मुझे वृक्ष की ठूंठ सी समझते हुए अपनी खाज मेरे शरीर से खुजलावेंगे। उस निमग्नता में मुझे इस बात का जरा भी पता न चलेगा (सागारधर्मामृत)।

नन्द महाराज का मन साधु सदृश था। कदाचित् बाह्य परिग्रह धारण करते हुए मोक्ष की उपलब्धि संभव होती, तो उन्हें मोक्ष जाते देर नहीं लगती। प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय सकल संयमी बनने में बाधक हो रहा था। अब वह समय समीप आ रहा था, जबकि वे साधुत्व को प्राप्त कर अपनी आत्म-पिपासा को शान्त कर सकेंगे। अन्तरंग तैयारी होने पर बाह्य साधारण सी सामग्री आत्मकल्याण का साधन बन जाती है। विरक्त मानस राग-रंग की पोषक वस्तुओं द्वारा व्यामुग्ध नहीं बनता है और उस विपरीत से प्रतीत होने वाले वातावरण में वह अपने लिए कल्याणप्रद पदार्थ को प्राप्त कर लेता है। महापुराण में एक उद्बोधक कथा आई है।

महाविभवशाली चक्रवर्ती वज्रदन्त महाराज राज्यासन पर सुख से बैठे थे। वनपाल ने एक सुन्दर, सुगंधित, सुविकसित सरोज उनको भेट किया। उसे प्राप्तकर राजा प्रसन्न हुए। उसका सौरभ पान करने के लिए उन्होंने उसे सूंघा। उस समय क्या हुआ, इस पर भगवज्जिनसेन स्वामी इन शब्दों में प्रकाश डालते हैं :—

तद्गन्ध-लोलुपं तत्र रुद्धं लोकान्तराश्रितम्।
दृष्ट्वालिं विषयासंगाद् विरराम सुधीरसौ ॥ ६४-८ ॥

उस समय वज्रदन्त महाराजने देखा कि उस कमल के भीतर उसकी सुगंध का लोलुपी एक भ्रमर बैठा था, जिसके प्राणों ने परलोक को प्रयाण कर दिया था। उस गतप्राण मधुप को देखकर उन ज्ञानवान महाराज का मन विषयों से विरक्त हो गया। वे सोचने लगे :—

अहोमदालिरेषोऽत्र गन्धाकृष्ट्या रसं पिबन्।
दिनापाये निरुद्धोऽभूद् व्यसुर्धिग्विषयैषिताम् ॥६५-८॥

अहो! यह बेचारा मदोन्मत्त भ्रमर इसकी गंध से आकर्षित होकर यहां आकर इस कमल का रसपान करता रहा तथा दिन के अस्तंगत होने पर उसके भीतर निरुद्ध होकर मर गया। विषयों की लालसा को धिक्कार हो।

मरे हुए भ्रमर का देखना बहुत साधारण सी बात थी, किन्तु विवेकी चक्रवर्ती के आत्मोद्धार की पावन बेला समीप आने से वह घटना जीवन में संक्रान्ति की जननी बन गई। उनकी वीतराग दृष्टि जाग गई। वे सोचने लगे: -

प्राणिना सुखमल्पीयो भूयिष्ठं दुःखमेव तु।
ससृतौ तदिहाश्वासः कस्क कीतस्कुतोऽथवा ॥ ७४ ॥

इस संसार में प्राणियों के सुख तो अत्यन्त अल्प है तथा दुःख विपुल प्रमाण है। ऐसी स्थिति में इसमें क्या संतोष है अथवा कैसे हो सकता है?

परमात्मप्रकाश का यह कथन हृदय को ज्योति प्रदान करता है : —

जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि ण दिट्ठ।
तें कारणिं वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥ २६२ ॥

हे वत्स! सूर्योदय के समय जिन्हे देखा था, वे सायंकाल की बेला में दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः धन, यौवन की क्या तृष्णा करता है? तू धर्म का पालन कर।

चक्रवर्ती ने अपने पुत्र अमिततेज पर साम्राज्य भार रखकर मुनि दीक्षा ली थी।

मुनीन्द्र की देशना : -नन्द महाराज के जीवन में वैराग्य का उषःकाल आया। वे प्रौष्ठिल नाम के महान मुनिराज के समीप पहुँचे। उन साधुराज के श्रेष्ठ व्यक्तित्व वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन मुनीश्वर ने अपनी प्रबोधक मार्मिक वाणी में कहा "देव लोक में नाना प्रकार के सुख तुमने भोगे, अचिन्त्य वैभव भी तुमने प्राप्त किया था। अब तुम स्वर्ग से चलकर यहाँ "प्रकृति - सौम्य - नदनः" सौम्य स्वभाव वाले राजा हुए हो। महावीर चरित्र में (सर्ग १६) लिखा है :—

वपुरादधद्विविधमाशु विजहदपि कर्मपाकतः ।
मेघ इव वियति वायुवशात्परिबभ्रमीति पुरुषो भवोदधौ ॥२॥

हे राजन ! इस जगत् में आत्मा कर्मोदय वश नाना देहों को धारण करता है तथा छोड़ता है, जिस प्रकार पवन के प्रहार से मेघ यहाँ वहाँ मारा-मारा फिरता है, उसी प्रकार यह जीव संसार समुद्र मे परिभ्रमण करता है। इस जगत में किस का जन्म सफल है, यह कहते हैं :—

सफलं च जन्म खलु तस्य जगति स विदां पुरः सरः ।
गुप्ति-पिहित-दुरितागमनं भववीतये भवति यस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

इस जगत् में उसी का जन्म सफल है तथा वही ज्ञानियों में प्रमुख है, जिसकी मन, वचन तथा कायगुप्ति के द्वारा रोके गए पाप का आगमन स्वरुप चेष्टाएं संसार क्षय के लिए होती हैं।

मोहनीय कर्म विनाशार्थ प्रशम-भाव रुप संपत्ति आवश्यक है :—

घनरूढ़ मूलमपि नाम तरुमिव महामतंगजः ।
मोहमखिलमचिराय पुमान्स भनक्ति यः प्रशमसंपदायुतः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार महान गजराज अत्यन्त सुदृढ़ जड़वाले वृक्ष को उखाड़ डालता है, इसी प्रकार प्रशान्त भावरूप संपत्ति समन्वित पुरुष समस्त मोहको तत्काल नष्ट कर देता है।

अवबोध-वारि-शमकारि मनसि शुचि यस्य विद्यते ।
कोल-जगदपि न तं दहति हृदमध्यमग्निरिव मन्मथानलः ॥ ६ ॥

जिसके हृदय में पवित्र ज्ञान रूपी जल है, जो शान्ति प्रदाता है उसको कामरूपी अग्नि नहीं जला पाती, जिस प्रकार सरोवर के मध्य में गए व्यक्ति को संपूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाली अग्नि नहीं जलाती है।

सुवशी - कृताक्ष - हृदयस्य शम - निहत - मोह - सपद ।
दैन्य - रहित - चरित्रस्य सतः किमिहैव मुक्तिरपरा न विद्यते ॥ ६ ॥

जिसने अपनी इंद्रिय तथा मन को सम्यक् प्रकार जीत लिया है तथा जिसका चरित्र दीनता से विमुक्त है, ऐसी शान्ति के द्वारा मोह की सम्पत्ति का नाश करने वाले सत्पुरुष के क्या यहाँ ही अपरा मुक्ति नहीं प्राप्त हुई है ?

विषयों की विरक्ति के बिना महान शास्त्रज्ञान भी अकार्यकारी है :—

श्रुतमिद्धमप्य फलमेव विषय-निरतस्य चेष्टिते ।
शस्त्रमिव निशित माजि-मुखे भय विह्वलस्य समवेहि केवलं ॥ ११ ॥

उच्च शास्त्रज्ञान भी उस व्यक्ति का निष्फल है, जिसकी चारित्र स्वीकार करते हुए भी विषयों में आसक्ति है जिस प्रकार युद्ध के समक्ष भय से घबड़ाए हुए व्यक्ति के हाथ में रखा हुआ तीक्ष्ण शस्त्र निष्फल है।

बुद्धिमान भव्य जीव मुनिराज की कल्याणकारी देशना से अपना जीवन स्वच्छ बनाता है :—

मुनिवाक्य-मद्भुत-मचिन्त्य-बहुविध-गुणं सुदुर्लभम् ।
रत्नमिव भजति भव्यजनः श्रवणे निधाय भुवने कृतार्थताम् ॥ १२ ॥

मुनिराज की वाणी अद्भुत तथा अचिन्त्य फलदात्री है। उसके अनेक प्रकार हैं, वह अत्यन्त दुर्लभ है। वह रत्न के तुल्य है. जो भव्यात्मा उसे अपने कर्णों में धारण करता है, वह इस जगत में कृतार्थ होता है।

प्रौष्ठिल मुनिराज अवधिज्ञान सम्पन्न थे। उन्होंने नंदराजा की आत्मा को विषम-पंक से निकालने की पुण्यभावना वश उनके पूर्व भवों का भी वर्णन किया। उसे सुनकर राजा के नेत्रों में आनन्दाश्रु भर आए, जिस प्रकार चन्द्र की किरणों का स्पर्श होने से चन्द्रकान्त मणि द्रवित हो जाता है।

मुनीश्वर की मार्मिक देशना को सुनकर राजा ने कहा :—

विरलाः कियन्त इह सन्ति लसदवधि बोध लोचनाः।
रत्न-किरण-परिभिन्न-जलस्थल-संपदः प्रविरला जलाशयाः ॥ १७ ॥

हे देव ! अवधिज्ञान रूप नेत्र को धारण करने वाले मुनिराज जगत् में कितने हैं ? अत्यन्त अल्प हैं। जगत् में ऐसे सरोवर विरले हैं, जिनका जल तथा किनारा रत्नों की किरणों से व्याप्त हो।

भक्तः करिष्यति वचोत्र मम सफलमीश जीवितम्।
अस्तु नियतमियदेव परै. किमुदीरितैर्विफलमप्रियैस्तव ॥ १८ ॥

प्रभो ! आज आपकी वाणी मेरा जीवन सफल करेगी। यह आपकी हितकारी देशना उचित है। दूसरों के लिए अप्रिय तथा व्यर्थ वचनालाप से आपका क्या प्रयोजन है ?

मुनि दीक्षा - अवधिज्ञानी महान ऋषिराज की वाणी ने अन्तरंग को पूर्णतया प्रकाश प्रदान किया। जन्मान्तर का वर्णन करने से वैराग्य के भाव अत्यन्त पुष्ट हो गए। 'शुभस्य शीघ्रम्'—शुभ कार्य करने में शीघ्रता धारण करे, इस सूक्ति के अनुसार राजा ने दस हजार नरेशों के साथ मुनि दीक्षा ले ली। वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

सहनंदन श्रियमपास्य दश-शत-दश क्षितीश्वरैः।
प्रौष्ठिल मुनि नु जगत्प्रथितं तमभिप्रणम्य समुपाददे तपः ॥ २० ॥

नन्दन नरेश की यह मुनिदीक्षा विश्व के धार्मिक इतिहास की बड़ी पवित्र निधि रूप है। अब इसी मुनि जीवन में ये महापुरुष तीर्थंकर महावीर बनने योग्य तीर्थंकर नाम कर्म का संग्रह करने का पवित्रतम उद्योग करेंगे।

आत्म शुद्धि सम्पादन में परम सहायक जान इन्होंने बाह्य तपों का बड़े उत्साह के साथ आचरण करना प्रारम्भ कर दिया था। अनशनादि तप स्वयं साध्य नहीं है, वे साधन हैं; साध्य है आत्मा की निर्मलता।

कुछ लोग प्रमादमूर्ति बन शरीर के प्रति विशेष ममता रहने से अपनी दुष्ट ज्ञान शक्ति का उपयोग ऐसा समझने तथा प्रचार करने मे लगाते हैं, कि बाह्य तपस्या में कुछ सार नही है। अन्तरङ्ग सामग्री मात्र मोक्ष के लिए आवश्यक है।

मन की मलिनता का धुलना बातें बनाने सरीखा सुखद और सरल कार्य नही है। जिस वस्त्र में कीटादि-मलिनता लगी है, उसे स्वच्छ करने के लिए क्षार द्रव्यों में उसे डालते हैं, पश्चात् उसको धोबी लोग जोर से पछाड़ते हैं, तब वह वस्त्र स्वच्छता को प्राप्त करता है। स्वर्णकार मलिन स्वर्ण पाषाण को अग्नि में अनेकबार डालता है; अत्यन्त तीक्ष्ण पदार्थों में उस स्वर्ण के विकार को नष्ट करता है, तब कठिनता से उस स्वर्ण से विकारी तत्व दूर होता है; इसी प्रकार आत्मा मे राग, द्वेष, मोह तथा हिंसादि के दूषित भावों से चिरकालीन मलिनता संचित हो गई है; उसको दूर करके स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना महान पौरुष का कार्य है। स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि भगवान कुंथुनाथ तीर्थंकर ने घोर, दुर्धर तप किए थे :—

बाह्य तपः परम-दुश्चरमाऽऽचरस्त्वम्।
आध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्॥
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्।
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने॥ ८४॥

भगवन्! आपने आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिए परम दुर्धर बाह्यतप किया और आर्त-रौद्र इन दो मलिन ध्यानों का निराकरण करके धर्म तथा शुक्ल नामके अतिशय सम्पन्न दो ध्यानों में प्रवृत्त हुए।

आगामी तीर्थंकर महावीर बनने वाले इन मुनीन्द्र ने लम्बे-लम्बे उपवास धारण करना प्रारम्भ कर दिया था। ये एकान्त स्थान में निवास करते थे। कोलाहल मय वातावरण मानसिक शान्ति में बाधक बनता है। प्रचण्ड पवन के प्रसार होने पर सरोवर में लहरों की उद्भूति को कौन रोक सकता है ?

उपदेश रत्नमाला में श्री सकलभूषण ने लिखा है :—

जन-कोलाहल-व्याप्त-स्थाने यः श्रावकोत्तमः।
आसनं शयनं नित्यं कुर्यात्तस्य न सन्मनः॥

जो उत्तम श्रावक जन-कोलाहल युक्त स्थान में आसन, शयनादि सदा करता है, उसका मन सम्यक् नहीं रहता है।

इसी कारण साधु के लिए विविक्त-शय्यासन—एकान्त स्थान में आसन तथा शय्या का उल्लेख आगम में किया गया है।

ये महामुनि जो अनशनादि तप करते थे, उसका ध्येय इस प्रकार था :—

जहदात्म-दृष्ट फल-लौल्य-मनभिमतरागशान्तये।
ध्यान-पठन मुखसिद्धिकरं प्रयतोऽकरोदनशनं सुनिश्चितम्॥ २३॥

आदर-सत्कार आदि लौकिक फल की इच्छा न कर, संयम के बाधक राग, द्वेष की शांति के लिए तथा ध्यान, स्वाध्याय की सुख पूर्वक सिद्धि कराने वाले सुनिश्चित अनशन तपको वे मुनिराज करते थे।

श्रेष्ठ तपः साधना :—वास्तव में वे मुनि सिंह थे, अतः उनकी प्रवृत्ति श्रेष्ठ तप की ओर स्वयमेव झुकती थी।

कनकावलीं परिसमाप्य विधिवदपि रत्नमालिकां।
सिंह विलसितमुपावसदप्युरुमुक्तये तदनु मौक्तिकावलीम्॥ ४६—१६॥

वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

इन्होंने विधि पूर्वक कनकावली रूप तप को पूर्ण कर रत्नमालिका व्रत किया तथा सिंह निष्क्रीडित तप किया। तदनंतर उत्कृष्ट मुक्ति सुख प्राप्ति के लिए उन्होंने मौक्तिकावली तपश्चरण किया।

कनकावली व्रत में ४३४ उपवास व ८८ पारणा होते हैं। यह व्रत एक वर्ष पांच मास द्वादश दिवस में समाप्त होता है। रत्नमालिका व्रत में तीन सौ चौरासी उपवास व अठ्यासी पारणा होते हैं। सिंह निष्क्रीड़ित व्रत में ४९६ उपवास ६१ पारणा होते हैं। यह व्रत ५५७ दिवसों में पूर्ण होता है। मुक्तावली व्रत में २५ उपवास तथा ९ पारणा होते हैं। इसमें ३४ दिन लगते हैं।

उन्होंने क्रोधादि विकारों पर भी विजय प्राप्त की थी। कवि कहते है :—

निज विग्रहेपि हृदि यस्य तनुरपि न विद्यते स्पृहा।
तेन विजित इति लोभरिपुः किमु वात्र विस्मयपदं मनीषिणां ॥५२-१६॥

उनका अपने शरीर पर जरा भी प्रेम नही था, इससे उन्होंने लोभ शत्रु को जीत लिया था, यह स्वतः सिद्ध होता है, इस विषय में विद्वानों को किस बात का आश्चर्य होगा।

वे तप द्वारा कर्मक्षय करते थे, किन्तु स्वयं संतप्त नही होते थे :—

तपसा दहन्नपि स कर्ममलमखिलमात्मनि स्थितम्।
तापसमभजत मनागपि न स्वयमेतदद्भुतमहो न चापरम्॥ ५५॥

आत्मा में स्थित कर्ममल पुंज को तप के द्वारा दग्ध करते हुए वे साधुराज तनिक भी संताप को नही प्राप्त होते थे। यह अद्भुत बात है, इसके सिवाय और कोई आश्चर्य की बात नही है।

उनका अन्तःकरण साम्य-भाव समलकृत था :—

न तुतोष भक्तिविनतस्य नत्र परिचुकोप विद्विषे।
स्वानुगत-यतिजनेष्वभवन्न रतः सतां हि समतैव भाव्यते॥ ५६॥

वे भक्ति से नम्र पुरुष पर संतुष्ट नहीं होते है और न विद्वेष करने वाले पर कोप ही धारण करते थे। अपने अनुयायी यतिजनों पर भी उनका मोह नही था। वास्तव में सत्पुरुष समता की ही भावना करते हैं।

उन साधुराज का मन विविध परीषहों को धैर्य पूर्वक सहन करता था।

> अतिदुःसहादपि चचाल न स निजधृतेः परीषहात्।
> भीम मरुदभिहतोपि नटीं समतीत्य यति किमु यादसांपतिः॥ ५८॥

अत्यन्त भीषण परिषहों के मध्य भी वे अपने धैर्य से विचलित नहीं होते थे। सो उचित ही है; प्रचण्ड पवन के प्रहार युक्त भी समुद्र क्या अपने तट की मर्यादा को लांघता है?

ऋद्धियों की प्राप्ति :—तपश्चर्या के प्रभाव से ये ऋषीश्वर अनेक ऋद्धि संपन्न हो गए थे :—

> जनना - हिताय तमिनाश्च शमनिधिमनेकलब्धयः।
> शीनरुचिमिव शरत्समये शिशिराः सुधारस-परिच्युतो रुचः॥ ५६॥

जीवों के लिए कल्याणकारी अनेक ऋद्धियां उन शांति के भण्डार मुनीश्वर को प्राप्त हो गई थी; शरद ऋतु में अमृत रस को प्रदान करने वाले शीतल चन्द्रमा का आश्रय जैसे किरणें ग्रहण करती हैं।

महान तपश्चर्या तथा श्रुताराधना के प्रसाद से वे एकादश अंगों के पारगामी हो गए। उत्तर पुराण मे उनको "स्वीकृतैकादशांगकः" लिखा है। सम्यक्चारित्र की अपार महिमा है। उसके द्वारा यह जीव उन्नति के शिखर पर चढ़ता है।

चारित्र की पूजा मे लिखा है :—

> चरणं स्वर्गतेर्मूलं चरणं मुक्तिसाधनम्।
> चरणं धर्मसर्वस्वं चरणं मंगल परम्॥

स्वर्ग गमन का मूलकारण चारित्र है। मोक्ष का कारण चारित्र है। धर्म का सर्वस्व चारित्र है। यह चारित्र श्रेष्ठ मंगल है।

> अनन्त सुख-संपन्नो येनात्मायं क्षणादपि।
> नमस्तस्मै पवित्राय चरित्राय पुनः पुन॥

जिसके आश्रय से यह आत्मा क्षण भर में अनन्त सुख संपन्न होता है, उस पवित्र चारित्र को बारंबार प्रणाम है।

तीर्थंकर प्रकृति की लोकोत्तरता—

जो आत्मा रत्नत्रय से समलंकृत है, वह लोक की श्रेष्ठ विभूतियों का अधिपति होता हुआ तीर्थंकर परमदेव का लोकोत्तर पद प्राप्त करता है तथा स्व-पर का सच्चा उद्धारक बनता है। कर्म प्रकृतियों में कर्मत्व सामान्य की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है, किन्तु विशेष दृष्टि से कहना पड़ता है कि उसमें लोकोत्तरता तथा श्रेष्ठता तीर्थंकर प्रकृति में है। अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है, "इद तीर्थंकरनाम-कर्म-अनंतानुपम-प्रभाव-मचिन्त्य-विभूति-विशेषकारणं त्रैलोक्य-विजयकरं" (अ० ६ सूत्र २४ पृष्ठ २६५)—यह तीर्थंकर नामका नाम कर्म अनन्त और अनुपम प्रभाव का कारण होते हुए अचिन्त्य विभूति विशेष का कारण है। यह त्रिलोक को विजय करने वाला कर्म है।

इस तीर्थंकर प्रकृति की लोकोत्तरता इससे ही स्पष्ट होती है कि बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण एक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप कल्प काल में केवल दो चौबीसी प्रमाण ही तीर्थंकर इस भरत क्षेत्र में होते हैं।

इस तीर्थंकर प्रकृति का उदय काल केवलज्ञान होने पर आता है, किन्तु उसके पूर्व ही गर्भ, जन्म तथा तप कल्याणकों के रूप में भी त्रिभुवन के महान प्राणी भी उस कर्म की महत्ता से प्रभावित तथा उपकृत होते हैं। इस कर्म के उदय काल को सोच सामान्य बुद्धि मानव अनेक वास्तविक विशेषताओं को अतिशयोक्ति रूप कहने लगता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

यह कौन नहीं जानता कि कूप मण्डूक अपने दिल और दिमाग का पूर्ण उपयोग करके भी विशाल समुद्र की कल्पना नहीं कर सकता है, अतः उसके लिए समुद्र का सद्भाव ही असंभव होता है, किन्तु क्या उसके कह देने से उस अपार जलराशि रूप सागर का अभाव हो जाता है या हो सकता है? कदापि नहीं; ऐसी ही स्थिति इस तीर्थंकर

प्रकृति के विपाक काल के बारे में सोचनी चाहिए। हां! यदि सूक्ष्म रीति से वस्तु स्वरूप के विषय में चिंतन पटु पुरुष तीर्थंकर प्रकृति का कौन, कब, किस परिस्थिति में बंध करता है आदि बातों को हृदयंगम करे, तो उसका मन विस्मय के सिंधु में नहीं डूबेगा और वह तीर्थंकर प्रकृति के उदय काल में उपलब्ध वैभव को कल्पना की वस्तु सोचने की अज्ञ चेष्टा नहीं करेगा।

निमित्त कारण—तीर्थंकर प्रकृति के बंध के विषय में यह विशेषता है कि सम्यग्दृष्टि जीव ही उसका बंध करता है। तत्वदृष्टि विहीन मिथ्या दृष्टि के उसका बंध नहीं होता है। उस प्रकृति के बंध में केवली अथवा श्रुतकेवली की समीपता भी आवश्यक निमित्त कारण कही गई है। अनेकान्त शासन कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण तथा उपादान कारण युगल को हेतु रूप मानना है। एकान्तमत में एक कारण से ही कार्य की उत्पति मानी जाती है।

महर्षि गुणभद्र ने उत्तरपुराण में लिखा है:—

कारण द्वय-सानिध्यात्सर्वकार्य-समुद्भव: ॥ ५३–पर्व ७३ ॥

बाह्य तथा अन्तरंग अथवा निमित्त तथा उपादान रूप कारण द्वय के सानिध्य होने पर संपूर्ण कार्य उत्पन्न होते हैं।

समंतभद्र स्वामी ने वासुपूज्य भगवान के स्तवन में बाह्य तथा अन्तरंग अथवा निमित्त और उपादान कारण की पूर्णता को कार्य की निष्पत्ति में प्रयोजनीक माना है।

बाह्येतरोपाधि–समग्रतेयं ।
कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ॥
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां ।
तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥ ६० ॥

हे जिनेन्द्र! बाह्य और अंतरंग अर्थात् सहकारी और उपादान इन दोनों कारणों की पूर्णता आपके शासन में द्रव्यगत स्वभाव है। इस

सहकारी-उपादान की पूर्णता के अभाव में मोक्ष की विधि पुरुष के नहीं बनती है। इस मार्मिक तत्वदेशना के कारण, हे वासुपूज्य भगवान ! आप गणधरादिज्ञानियों के द्वारा पूज्य हो।

शङ्का—बाह्य अन्तरंग कारण की पूर्णता का मोक्ष मार्ग से क्या संबंध है ?

समाधान—ऐसी शंका उत्पन्न होने पर यह बात ज्ञातव्य है कि अन्तरंग निर्मलता में निमित्त कारण बाह्य सामग्री आवश्यक है।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने भावपाहुड़ में लिखा है :—

भावविसुद्धि-णिमित्त बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिर-चाओ विहलो अब्भंतर - गंथ-जुत्तस्स ॥ ३ ॥

भावों की विशुद्धता के लिए वस्त्रादि बाह्य परिग्रह का परित्याग किया जाता है। जिसके अन्तरंग परिग्रह-रागादि विकार विद्यमान हैं, उसके बाह्य त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा आदि का धारण करना विफल है। अर्थात् अन्तरग त्याग के विना बाह्य त्याग इष्ट साधक नही है।

यह धारणा भ्रमपूर्ण है कि बाह्य परिग्रहादि को धारण करते हुए भी अन्तरंग में यदि निर्मलता है, तो मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अनेकान्त शासन की दृष्टि कुन्द-कुन्द स्वामी इन शब्दों द्वारा स्पष्ट करते है :—

भावेण होइ णग्गो बाहिर लिंगेण कि च णग्गेण।
कम्मपयडीण - णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

भाव से वास्तव मे नग्नता होनी चाहिए। बाह्य दिगम्बरत्व मात्र से क्या होगा ? कर्म प्रकृतियों का समुदाय द्रव्य तथा भाव के द्वारा नष्ट होता है। आजकल इस भरत क्षेत्र में तीर्थंकर प्रकृति का बंध नही होता, क्योंकि केवली, श्रुतकेवली के सानिध्य रूप निमित्त कारण का अभाव है। जैसे योग्य वृक्ष तथा फल की उपलब्धि के लिए

अच्छा बीज, अच्छी भूमि, अच्छी मिट्टी, योग्य समय में बीज का बोया जाना आदि आवश्यक है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति के उदयरूप महान वृक्ष के लिए षोडशकारण भावना रूप बीज के साथ अन्य सामग्री का भी संयोग आवश्यक है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है :—

पढमुवसमिये मम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगन्ते ॥ ६३ ॥

तीर्थंकर प्रकृति का बंध प्रथमोपशम सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व व क्षायिक सम्यक्त्व में चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्वी मनुष्य केवली व श्रुतकेवली के समीप प्रारंभ करता है, इसका निष्ठापन तिर्यंच को छोड़ शेष गतियों मे होता है। किन्ही आचार्य का अभिप्राय है कि प्रथमोपशम सम्यक्त्व का अल्पकाल होने से उसमें तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में यह बात चिन्तनीय है, कि सम्यक्त्व प्रकृति के उदय युक्त क्षयोपशम सम्यक्त्वी जब तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है, तब उसके दर्शन विशुद्धि भावना कैसे बनेगी?

इस विषय में यह बात ध्यान देने की है, तीर्थंकर प्रकृति का बंध करने वाला परम शुभ-भावना करता हुआ जगत् के उद्धार के विषय में चिन्तनशील बनता है। वह विचारता है "श्रेयोमार्गानभिज्ञान् जाज्वलद् दुःख-दाव-स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणान् वराकान् उद्धरेयं"—मोक्षमार्ग से अपरिचित, दुःख रूप दावानल में दग्ध होने के भय से इधर उधर भ्रमण करने वाले इन दीन जीवों का मैं उद्धार करूँ।"

यह भावना अपाय विचय धर्मध्यान सदृश लगती है। इस परम कारुणिक चित्त वृत्ति की प्रबल रूपसे जागृति तीर्थंकर परमदेव के दर्शन द्वारा उनके समक्ष में होती है। वहाँ विश्व के उद्धार की भावना को विशेष बल प्राप्त होता है, कारण भावना करने वाला व्यक्ति भावना

के मूल स्रोत साधन को समीप पाता है। उससे प्रबल प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है।

भगवान पार्श्वनाथ तीर्थंकर की निर्वाण भूमि सम्मेदशिखर की स्वर्णभद्रकूट पर पहुँचने पर विचारवान जिनेन्द्र भक्त अपने भावों के विषय में सोच सकता है, कि वहाँ अन्तःकरण को कितना विमल-प्रकाश प्राप्त होता है। इसी प्रकार केवली के पादमूल में विश्व-कल्याण की भावना को अपूर्व सप्राणता प्राप्त होती है। जिनागम में बाह्य सामग्री का भी उचित महत्त्व स्वीकार किया गया है।

तीर्थंकर की भावना सम्यग्दृष्टि का पावन कर्तव्य है। द्वादशांग रूप जिनागम में त्रेपन क्रियाओं का वर्णन आया है। उनका महापुराण के ३८ वें पर्व में उल्लेख किया गया है। उनमें २२ वीं गृहत्याग क्रिया के पश्चात् दीक्षाद्य, फिर जिनरूपता, पश्चात् मौनाध्ययन वृत्तत्व के बाद में तीर्थकृत् भावना कही है। इसके बाद गुरु स्थानाभ्युपगम, गणोपग्रह आदि का उल्लेख आया है।

मौनाध्ययन-वृत्तत्व तीर्थकृत्वस्य भावना ।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहण तथा ॥ ५८—पर्व ३८ ॥

तीर्थकृत्व भावना का जिनसेन स्वामी ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :—

ततोऽधीताखिलाचार शास्त्राविश्रुत-विस्तर ।
विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्वस्य भावनाम् ॥ १६४ ॥

तदनन्तर जिसने समस्त आचार शास्त्र का अध्ययन किया है तथा जिसके भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अभ्यास द्वारा श्रुतज्ञान विस्तृत हो चुका है एवं जिसका आचरण विशुद्ध है, ऐसा व्यक्ति तीर्थंकृत भावना का अभ्यास करे। यह षोडश प्रकार की भावना रूप है।

सा तु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी ।
सम्यग्दर्शन-शुध्द्यादि लक्षणा प्राक् प्रपंचिता ॥ १६५ ॥

सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखना आदि लक्षण युक्त यह षोडश प्रकार की भावना महान अभ्युदय को प्रदान करती है। इसका पहले विस्तार से वर्णन हो चुका है।

सोलहकारण भावना यद्यपि अव्रत सम्यक्त्वी के भी पाई जाती हैं, फिर भी मुख्यता से मुनिजन इनका अभ्यास करते हैं। अपभ्रंश भाषा की गुरु पूजा की जयमाल में लिखा है:—

भवियह भवतारण सोलहकारण अज्जवि तित्थयरत्तणहं।
तव-कम्म असंगइ दय-धम्मंगइ पालवि पंच महव्वयह॥

तीर्थंकर पद की कारण रूप सोलहकारण भावनाएं भव्यों को संसार-समुद्र से तारने वाली हैं। उनका अर्जन करो। दयाधर्म के अंग रूप तपश्चर्या, अपरिग्रहवृत्ति तथा पंच महाव्रतों को पालो।

दर्शनविशुद्धि :—षोडश कारण भावनाओं में प्रथम स्थान दर्शन-विशुद्धि को प्रदान किया गया है। अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है:—"जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रन्थलक्षणे मोक्ष-वर्त्मनिरुचि दर्शनविशुद्धिः" (२६५ पृष्ठ) जिन अर्थात् भगवान अरहत परमेष्ठी द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ लक्षण मोक्ष मार्ग में रुचि दर्शन विशुद्धि है। यह रुचि अष्टांगयुक्त तथा सप्तभय-विमुक्त होनी चाहिये।

मोक्ष के साधन सम्यग्ज्ञानादि तथा उनके भी साधन गुरु आदि का यथा योग्य आदर करना अथवा कषाय भाव को दूर करना विनय-सम्पन्नता है।

अहिंसा आदि व्रतों में तथा उनके परिपालन में प्रयोजन भूत क्रोध परित्यागादि शीलों में मन, वचन तथा काय की निर्दोष वृत्ति शीलव्रतेष्वनतिचार है।

निरन्तर ज्ञान की आराधना में उपयोग लगाना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

शारीरिक तथा मानसिक अनेक प्रकार के संसार के दुःखों से भीरुता संवेग है। अकलंक स्वामी ने लिखा है:—

"संसार दुःखान्नित्य भीरुता संवेगः।"+

पात्रों को आहार देना, दुःखी व्यक्ति को अभयदान, और सम्यग्ज्ञान देना त्याग है। ज्ञान दान को अकलंक देव अत्यन्त महत्वपूर्ण कहते क्योंकि उससे लाखों भवों के दुःखों से छुटकारा मिलता है— "सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेक भव-शत-सहस्र-दुःखोत्तरणकारणम्।"

यथाशक्तिदान शक्तितः त्याग है।

शक्ति को न छुपाते हुए जिनागम का अविरोधी जो कायक्लेश का अनुष्ठान है, वह शक्तितः तप है। उसका स्वरूप इस प्रकार भी बताया गया है :—

तपो द्वादशभेदं हि क्रियते मोक्षलिप्सया।
शक्तितो भक्तितो यत्र भवेत् सा तपस स्थिति॥

मुनियों के व्रत शील आदि में विघ्न आने पर उनको दूर करना साधु-समाधि है। महापुराणकार कहते हैं "समाधये हि सर्वोयं परिस्पंदो हितार्थिनाम्" हिताकांक्षी लोगों की सम्पूर्ण प्रवृत्तियां समाधि के लिए होती हैं।

कहीं कहीं मरण, उपसर्ग, रोग आदि आने पर निर्भीक वृत्ति को भी साधु समाधि कहा गया है :—

मरणोपसर्ग-रोगादि-इष्ट वियोगा-दनिष्ट संयोगात्।
न भय यत्र प्रनिशति साधु समाधि स विज्ञेय॥

वैयावृत्य मे साधुओं के शरीर में रोगादि उत्पन्न होने पर निर्दोष रीति से "निरवद्येन विधिना"—उसका निवारण करना वैयावृत्य है। संस्कृत षोडशकारण पूजा में लिखा है :-

कुष्टोदर-व्यथा-शूलैर्वात पित्त शिरोर्ति भि।
काश-श्वास-ज्वरारोगै पीडिता ये मुनीश्वरा॥

+ पुत्र-मित्र-कलत्रेभ्य, ससार-विषयार्थत।
विरक्ति जयिते यत्र स संवेगो बुधै स्मृत॥

तेषां भैषज्यमाहारं शुश्रूषा-पथ्यमादरात् ।
यत्रैतानि प्रवर्तन्ते वैयावृत्यं तदुच्यते ॥

कुष्ठ, उदर पीड़ा, शूल, वात, पित्त तथा शिर की पीड़ा, खांसी, श्वास, ज्वर रूप रोगों से पीड़ित मुनीश्वरों को औषधि देना, आदर पूर्वक आहार, सेवा शुश्रूषा तथा पथ्य की व्यवस्था ये जहां प्रवर्तमान होते हैं, वहां वैयावृत्य कहा है।

अर्हद्भक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है :—

मनसा कर्मणा वाचा जिननामाक्षरद्वयम्।
सदैव् स्मर्यते यत्र सार्हद्भक्तिः प्रकीर्तिता ॥

जहां मन, वचन तथा काय द्वारा 'जिन' ये दो नाम रूप अक्षर सदा ही स्मरण किए जाते हैं, वहां अर्हद्भक्ति कही गई है।

भक्ति की परिभाषा अकलंकस्वामी ने इस प्रकार की है, "भाव विशुद्धियुक्तोनुरागो भक्तिः"—भावों की निर्मलता पूर्वक जो अनुराग है – गुणों के प्रति प्रेम है, वह भक्ति है।

आचार्य परमेष्ठी के चरणों की पूजा, वंदना, प्रणाम आदि करना आचार्य भक्ति है।

श्रुत की अत्यधिक आराधना करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना बहुश्रुत भक्ति है। महान ज्ञानियों की भक्ति भी बहुश्रुत भक्ति है।

षट्द्रव्य-पंचकायत्वं सप्ततत्वं नवार्थता ।
कर्म प्रकृति विच्छेदो यत्र प्रोक्तः स आगमः ॥

छह द्रव्य, पंचकाय, सप्ततत्व, नव पदार्थ तथा कर्म प्रकृतियों के क्षयका जहाँ कथन है, उसे आगम कहते हैं। उस जिनवाणी की भक्ति प्रवचनभक्ति है।

महापुराण में वज्रसेन तीर्थंकर के निकट षोडश कारण भावना का चिन्तवन करने वाले वज्रनाभि मुनि महाराज, जो आगामी

ऋषभनाथ भगवान हुए थे, इस प्रकार प्रवचन भक्ति करते थे। महापुराणकार लिखते हैं :—

परां प्रवचने भक्ति आप्तो पज्ञे ततान स ।
न पारयति रागादीन् विजेतुं सन्ततानस ॥ ७४–११ पर्व ॥

वह सर्वज्ञ भगवान प्रणीत आगम में उत्कृष्ट भक्ति धारण करता था, क्योंकि जो पुरुष प्रवचन भक्ति से रहित होता है, वह बढ़े हुए रागादि शत्रुओं को नहीं जीत सकता है।

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग रूप षडावश्यक क्रियाओं को यथा समय पालन करना–"यथाकाल-प्रवर्तनम्" आवश्यकापरिहाणि है।

मार्ग प्रभावना का स्वरूप अकलंक स्वामी ने इस प्रकार कहा है :—

"ज्ञान-तपो जिनपूजा-विधिना धर्म-प्रकाशनं मार्गप्रभावनम्" ज्ञान महोपवासादि सम्यक् तप तथा जिनपूजा के द्वारा सद्धर्म का प्रकाशन करना मार्ग प्रभावना है। जिनपूजा पर भाष्य में शब्द महत्व के हैं। "भव्यजन-कमलखण्ड प्रबोधन-प्रभाकरप्रभया जिनपूजया"—भव्य प्राणीरूप कमल समूह के प्रतिबोधन करने के लिए सूर्य की प्रभा के समान जिनपूजा के द्वारा धर्म प्रभावना होती है।

संस्कृत पूजा में लिखा है :—

जिनस्नान श्रुताख्यान गीतवाद्ये च नर्तनं ।
यत्र प्रवर्तते पूजा सा सन्मार्ग प्रभावना ॥

जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक, जिनवाणी का व्याख्यान, गायन, वादन, नर्तन, पूजा में जहाँ किए जाते हैं, वहाँ सन्मार्ग प्रभावना नहीं है :—

प्रवचन वत्सलत्व का स्वरूप इस प्रकार है :—

"वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेहः प्रवचन-वत्सलत्वं"—गाय का जैसे अपने बछड़े पर स्वाभाविक स्नेह होता है, उसी प्रकार का स्नेह सधर्मी पर होना प्रवचन वत्सलत्व है।

संस्कृत पूजा में लिखा है : –

चारित्र गुण युक्तानां मुनीनां शील धारिणाम् ।
गौरव क्रियते यत्र तद्वात्सल्यं च कथ्यते ॥

चारित्र गुण से युक्त तथा शील का पालन करने वाले मुनियां का जो गौरव सन्मान किया जाता है, उसे वात्सल्य कहते हैं ।

वज्रनाभि—होनहार तीर्थंकर की इस भावना का महापुराण में इस प्रकार निरूपण किया गया है :—

वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः ।
विनेयान् स्थापयन् धर्मे जिन-प्रवचनाश्रितान् ॥ ७७, पर्व ११ ॥

वे धर्मवत्सल मुनिराज जिनवाणी का आश्रय लेने वाले शिष्यों को धर्म म स्थिर करते हुए वात्सल्य भाव विशेष रूप से धारण करते थे।

इन महामुनिराज ने अत्यन्त विशुद्ध भावों सहित सोलह भावनाओं का चिन्तवन किया।

ततोऽमूर्भावनाः सम्यग् भावयन् मुनिसत्तमः ।
स बबन्ध महत् पुण्यं त्रैलोक्य-क्षोभ-कारणम् ॥

इस प्रकार इन भावनाओं की सम्यक् प्रकार भावना करते हुए उन यतीश्वर ने तीन लोक में क्षोभ उत्पन्न करने वाले महान पुण्य-तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया।

अब उन नन्द महामुनि की आयु एक माह शेष थी। पहले सिंह की पर्याय में भी इसी आत्मा ने एक माह जीव शेष रहने पर अपनी त्यागवृत्ति तथा पवित्र मनोभावना से सिंह पर्याय में किए महान पापों का ध्वंस करके सौधर्म स्वर्ग में सुर पर्याय प्राप्त की थी, अब निर्ग्रन्थ महामुनि की अवस्था में इन्होंने प्रायोपगमन सन्यास धारण किया। गोम्मटसार कर्मकांड में लिखा है :—

अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूण-मिगिणीमरणं ।
स - परो - वयार - हीणं मरणं पाओवगमणमिदि ॥ ६१ ॥

अन्य के द्वारा किए उपकार अर्थात् परिचर्या आदि से विरहित तथा केवल स्वकृत वैयावृत्य युक्त समाधिमरण इंगिनीमरण है। + स्व तथा पर दोनों के उपकार से रहित मरण प्रायोपगमन कहलाता है।

इन नन्द महामुनीश्वर के विषय में वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

अथायुरंते खलुमासमेकं प्रायोपवेशं विधिना प्रपद्य ।
ध्यानेन धर्मेण विहाय विध्य प्राणान्मुनि. प्राणतमाप कल्पं॥६३-सर्ग १६॥

—०—०—

+ इस युग के श्रेष्ठ तपस्वी चारित्र चक्रवर्ती दि. जैन धर्माचार्य १०८ शांतिसागर महाराज ने कुंथलगिरि में इङ्गिनी सन्यास लेकर ३६ दिन पर्यन्त घोर तप करके स्वर्ग प्रयाण किया था। उनका समाधि दिवस १८ सितम्बर १९५५ चिरस्मरणीय पावन पर्व बन गया।

आयु क्षय होने के एक माह पूर्व उन्होंने विधिपूर्वक प्रायोवशन सन्यास धारण करके धर्म ध्यान के साथ विंध्य पर्वत पर प्राणों का परित्याग किया। तथा प्राणत नाम के चौदहवें स्वर्ग को प्राप्त किया।

उत्तर पुराण में लिखा है :—

जीवितांते समासाद्य सर्व–माराधना–विधिम्।
पुष्पोत्तर विमानेऽभूदच्युतेंद्र सुरोत्तम. ॥ २४६–७४ पर्व ॥

आयु के अन्त में सम्पूर्ण आराधनाओं को विधि पूर्वक प्राप्त करके वे मुनिराज पुष्पोत्तर विमान में जाकर देवों में श्रेष्ठ अच्युतेन्द्र हुए।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है भगवान महावीर पुष्पोत्तर विमान से चयकर तीर्थंकर हुए थे। "पुप्फोत्तराभिधाणा अणंत - सेयंस - वड्ढमाणा - जिणा"— (५२४, ४) अनंत, श्रेयांस तथा वर्धमान ये तीन तीर्थंकर पुष्पोत्तर विमान से आए थे।

—०—०—

अच्युतेन्द्र

जो साम्राज्य के स्वामी नन्द नरेश थे, वे ही परम वीतराग मुनिराज बने और उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बंध करके प्रायोपगमन सन्यास रूप उच्चरीति से समाधि मरण किया। अब वे गुणभद्र स्वामी के कथनानुसार अच्युत स्वर्ग के सुरेन्द्र रूप में उत्पन्न हुए। उस स्वर्ग का नाम अच्युत है, यद्यपि बाईस सागर पश्चात अमरेन्द्र को भी वहां से च्युत होना पड़ेगा। 'अच्युतेन्द्र' तथा 'अमरेन्द्र' होते हुए ही उस पद के पीछे मृत्यु लगी हुई। 'अच्युत' तथा 'अमर' पद तो उसी समय प्राप्त होता है, जब यह चैतन्य मूर्ति आत्मा समस्त विभाव तथा विकार का परित्याग कर स्वाभाविक सिद्ध पर्याय को प्राप्त करता है, और जब वह आध्यात्मशास्त्र की भाषा में 'कार्य-परमात्मा' बन जाता है।

सप्त परम स्थान :—हम देखते हैं कि पुरुरवा भील के जीव ने जब से सच्चे धर्म का शरण ग्रहण किया है, तब से वह जीव उच्च कोटि के निरन्तर वर्धमान सुखों को भोगता हुआ आंतरिक एवं बाह्य उन्नति करता जा रहा है। भगवान जिनेन्द्र ने उन्नति के परम स्थानों श्रेष्ठ पदों का वर्णन किया है।

महापुराण में लिखा है :—

सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परमनिर्वाणमित्यपि ॥ ६७-पर्व ३८ ॥

सज्जातित्व, सद्गृहिपना पारिव्राज्य - मुनीन्द्रपना, सुरेन्द्रता, सामाज्य, परम अर्हिन्त्य और परम निर्वाण ये सप्तम परम स्थान हैं।

स्थानान्येतानि सप्तस्युः परमाणि जगत्त्रये।
साम्राज्यं परमर्हिन्त्यं परमनिर्वाण मित्यपि ॥ ६७-पर्व ३८ ॥

सज्जातित्व, सद्गृहिपना पारिव्राज्य - मुनीन्द्रपना, सुरेन्द्रता, सामाज्य, परम अर्हन्त्य और परम निर्वाण ये सप्तम परम स्थान हैं।

स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये।
अर्हद्वागमृतास्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ॥ ६८ ॥

तीन लोक में ये सप्त श्रेष्ठ पद कहे गए है, जो अर्हन्त भगवान के वचनामृत का रस पान करने से जीव को उपलब्ध होते हैं। पूर्व में नन्द नरेश ने सज्जातिपना तथा सद्गृहस्थ का पद प्राप्त कर विषयों से विरक्त हो मुनिपद स्वीकार किया था। उन्होंने संवेग पूर्वक परम तप को प्राप्त किया था, उस परम तप को आगम में योग-निर्वाण-संप्राप्ति कहा है।

इस सम्बन्ध में भगवज्जिनसेन स्वामी का यह कथन मार्मिक तथा मनन करने योग्य है; प्रथम ही शरीर को शुद्ध कर सल्लेखना के योग्य आचरण करना चाहिये। और फिर रागादि दोषों के साथ शरीर को कृश करना चाहिए :—

कृत्वा परिकरं योग्यं तनुशोधन - पूर्वकम्।
शरीरं कर्षयेद्दोषैः समं रागादिभिस्तदा ॥ १८०–३८ पर्व ॥

इसके पश्चात् क्या कर्तव्य है, इस पर जिनसेन स्वामी इस प्रकार प्रकाश डालते हैं, "जीवित रहने की आशा और मरने की आशा और मरने की आकांक्षा का त्याग कर 'यह भव्य है' इस प्रकार का सुयश प्राप्त करने के लिए सन्यास धारण करने के पूर्व जो भावना की जाती है, वह योग-निर्वाण कहलाती है।" उस समय क्या करना चाहिए, यह कहते हैं :—

रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च संशयम्।
अनात्मीयेषु चात्मीय-संकल्पाद् विरमेत्तदा ॥ १८२ ॥

राग द्वेष का त्याग कर कल्याण की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। तथा जो पदार्थ आत्मा से भिन्न हैं—अनात्मीय हैं, उनमें आत्मीयपने के संकल्प को छोड़ना चाहिये।

नाहं देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारणम्।
तत् त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावनाम् ॥ १८३ ॥

मैं शरीर नहीं हूँ; मैं मन नहीं हूँ, मैं वाणी नहीं हूँ और न इन तीनों का कारण ही हूँ। इन तीनों के विषय में उद्वेग छोड़कर अन्यत्वपने की भावना करे।

अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित्।
इत्यदीनमना. सम्यगैकत्वमपि भावयेत् ॥ १८४ ॥

इस जगत् मे मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है; मैं भी किसी दूसरे का कोई नहीं हूँ इस प्रकार दीनता रहित मनोवृत्ति के साथ समीचीन रूप से एकत्व की भावना करे।

मतिमाधाय लोकाग्रे नित्यानंत-सुखास्पदे।
भावयेद् योग-निर्वाण सयोगी योगसिद्धये ॥ १८५ ॥

अविनाशी तथा अनंत सुख के स्थान लोक के अग्रभाग-मोक्ष-स्थान मे बुद्धि लगाकर उस योगी की सिद्धि के लिए योग निर्वाण क्रिया की भावना करनी चाहिए।

ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन्।
योगीन्द्रो योगनिर्वाण-साधनायोद्यतो भवेत् ॥ १८६ ॥

तदनन्तर समस्त आहार तथा शरीर से ममत्व छोड़ता हुआ वह योगियों का इंद्र योग-निर्वाण-साधन के लिए उद्यत हो।

योगीन्द्र का कर्तव्य – उस योगीन्द्र को क्या करना चाहिए यह बताते हैं—

उत्तमार्थे कृतास्थानः सन्यस्त-तनु-रुद्धधीः।
ध्यायन् मनोवचः कायान् बहिर्भूतान् स्वकान् स्वत. ॥ १८७ ॥
प्रणिधाय मनोवृत्ति पदेषु परमेष्ठिनाम्।
जीवितान्ते स्वसात्कुर्याद् योगनिर्वाण-साधनम् ॥ १८८ ॥

जिसने उत्तम अर्थ अर्थात् सन्यास में आदर बुद्धि धारण की है, शरीर से ममत्व छोड़ दिया है तथा जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसा

वह साधु अपने मन, वचन तथा काय को अपने से भिन्न अनुभव करता हुआ अपनी चित्रवृत्ति को पंच परमेष्ठियों के चरणों में लगावे तथा जीवन के अन्त में योग-निर्वाण-साधन को अपनावे।

योग समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्त-निर्वृत्ति ।
तेनेष्टं साधन यत्तद् योग-निर्वाण-साधनम् ॥ १८६ ॥

योग को समाधि कहते हैं। उस समाधि द्वारा प्राप्त जो चित्त को आनन्द प्राप्त होता है, उसे निर्वाण कहा है। यह योग-निर्वाण इष्ट पदार्थों का साधन है, इससे योग निर्वाण-साधन कहते हैं। महामुनि नन्द ने ऐसा ही किया था, इससे वे सुरेन्द्र हुए।

तथा योग समाधाय कृतप्राण–विसर्जन ।
इंद्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगताम् ॥ १९० ॥

इस प्रकार मन, वचन तथा काय को स्थिर कर प्राण विसर्जन करने वाला साधु पुण्य के आगे चलने पर इंद्र रुप से उपपाद-इंद्रोपपाद क्रिया को प्राप्त होता है।

इंद्रोपपाद क्रिया :–इंद्रोपपाद का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया गया है :—

इन्द्रा स्यु स्त्रिदशाधीशा तेषूत्पादस्तपोबलात् ।
य. स इंद्रोपपाद स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्ग–सेविनाम् ॥१९१॥

देवों के स्वामी को इंद्र कहते हैं। तपश्चर्या की सामर्थ्य से उनमें जन्म धारण करना इंद्रोपपाद है। यह क्रिया अर्हत्प्रणीत मार्ग के सेवन करने वालों के होती है।

ततो दिव्यशय्याया क्षणादापूर्णयौवन ।
परमानद–साद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥ १९२ ॥

तदनंतर वह इंद्र उस दिव्य शय्या पर क्षण भर में पूर्ण यौवन युक्त हो जाता है तथा दिव्य तेज से देदीप्यमान होता हुआ परमानंद में निमग्न हो जाता है।

अणिमादिभिरष्टाभिः युतोऽसाधारणैर्गुणैः।
सहजाम्बर-दिव्यस्रङ्-मणिभूषण-भूषितः ॥ १६३ ॥

वह अणिमा, महिमा आदि अष्ट असाधारण गुणों-ऋद्धियों से संयुक्त होता हुआ साथ में उत्पन्न हुए वस्त्र, दिव्यमाला, तथा मणिमय आभूषणों से भूषित होता है।

दिव्यानुभाव-संभूत-प्रभावं परमुद्वहन्।
बोबुध्यते तदाऽत्मीयम् ऐन्द्रं दिव्यावधि-त्विषा ॥ १६४ ॥

दिव्य माहात्म्य से उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभाव को धारण करता हुआ वह इंद्र दिव्य अवधिज्ञानरूप ज्योति के द्वारा जान लेता है कि मैं इंद्र पद में उत्पन्न हुआ हूँ।

इस प्रकार सप्त परम स्थानों में वर्णित सुरेन्द्रता की प्राप्ति महामुनि नन्द को तपश्चर्या तथा समाधिमरण के द्वारा हुई। वह अवधिज्ञान द्वारा अपने पूर्व विरागतापूर्ण साधु जीवन का सर्व वृत्तान्त अवगत करता है, उस समय उनका हृदय उस साधुपद को पुनः प्राप्त करने के लिए तीव्र उत्कण्ठा धारण करता है, किन्तु वहाँ का द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप सामग्री चतुष्टय संयम धारण के अनुकूल न रहने से वह भविष्य में उस समय की प्रतीक्षा करता है, जब मानव शरीर प्राप्त करके वह अष्ट कर्मों को सदा के लिए विनष्ट करने में समर्थ हो सकेगा। क्षण भर में वहां का राग रंग तथा इंद्रियों की पोषक सामग्री उस इंद्र का मन अपनी ओर खेंच लेती है।

अच्युत स्वर्ग का वर्णन :—इस अच्युत स्वर्ग के विषय में तिलोय पण्णत्ति में यह कथन पाया जाता है, "आनत, प्राणत, आरण, अच्युत तथा ग्रैवेयकादि के विमान मुक्ताफल, चन्द्रमा अथवा कुन्द पुष्प के समान उज्ज्वल हैं। आनत प्राणतादि विमान शुद्ध आकाश-तल में स्थित हैं। इन विमानों के ऊपर समचतुष्कोण तथा दीर्घ विविध प्रकार के प्रासाद-भवन स्थित हैं।" (पृ० ८००)

मनुष्य अपने ईट, मिट्टी, पाषाण के विशिष्ट भवनों को देखकर तथा दिखाकर अपने भाग्य पर इठलाता है और सोचता है मेरे सामने सुर-संपदा भी तुच्छ है। सुर-संपदा की कल्पना न करने वाला उन धनमत्तों की हां में हां मिलता है; किन्तु आगम के प्रकाश से ज्ञात होता है कि उनकी धारणाए उस भिल्लनी सदृश हैं, जो गजमुक्तादि रत्नों को तुच्छ मानती हुई गुंजाफल से अपने कुत्सित रूप को अलंकृत करती है। थोड़े से धन वैभव के कारण उन्मत्त बना आज का व्यक्ति धर्म को चुनौती देकर पूछता है क्या तुमने आज सरीखा वैभव कभी देखा था, क्या ऐसी बिजली देखी थी? क्या वातानुकूलित (Air-Conditoned) भवन देखे थे? इस प्रकार के अहंकारमत्तों को भी दिव्य जगत् के प्रासादों का यह वर्णन पढ़ना चाहिए जहां सम्यग्दृष्टि जिनेन्द्र भक्त सत्पुरुष धर्म के प्रसाद से उत्पन्न होते हैं।

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोय पण्णत्ति में लिखा है; "ये सब भवन सुवर्णमय, स्फटिक मणिमय, मरकत, माणिक्य एवं इंद्र नील मणियों से निर्मित, मृगा से निर्मित विचित्र, उत्तम तोरणों से सुन्दर द्वारों वाले, सात, आठ नौ, दस इत्यादि विचित्र भूमियों से अलंकृत, उत्तम रत्नों से भूषित, बहुत प्रकार के यंत्रों से रमणीय "बहुविह-जंतेहि रमणिज्जा", चमकते हुए रत्न दीपकों से सहित, कालागरु आदि धूपों की गन्ध से व्याप्त, आसनशाला, नाट्यशाला, व क्रीडनशाला आदिकों से शोभायमान, सिंहासन, गजासन, मकरासन, मयूरासन, शुकासन, व्यालासन एवं गरुडासनादि से परिपूर्ण, बहुत प्रकार की विचित्र मणिमय शय्याओं के विन्यास से शोभायमान, नित्य, विमल स्वरूपवाले विपुल उत्तम दीपों, व कुसुमों से कान्तिमान और अकृत्रिम विराजमान हैं।" (८०१ पृष्ठ)

उक्त करणानुयोग रूप आगम में यह भी लिखा है, "प्रासादों के मध्य में पादपीठ से सहित, अकृत्रिम आकारवाले, विशाल और उत्तम रत्नमय सिंहासन विराजमान हैं।" महान आचार्य यतिवृषभ का यह

कथन उनको ध्यान से पढ़ना चाहिए, जो मनुष्य पर्याय की थोड़ी संपत्ति देखकर दीवाना बनते हैं, संपत्ति वालों के चरणों की रज को अपने मस्तक पर लज्जा त्यागकर धारण करते हैं, और पुण्य के तीव्र विपाक से प्राप्त स्वर्ग की संपत्ति को नाक-भौं सिकोड़ कर तुच्छ तथा नगण्य कहते फिरते हैं।

स्वर्ग का वैभव धर्म का फल है। उसका अवर्णवाद महान दोष है। देवों के अवर्णवाद को दर्शन मोहनीय के आस्रव का कारण क्यों कहा है ? इसका रहस्य यही है कि उनका अवर्णवाद तथा मिथ्या निंदा का कार्य धर्म के फल की निन्दा है, जो एक प्रकार से धर्म का भी अवर्णवाद कहा जा सकता है। स्वर्गादि के श्रेष्ठ वैभव सद्धर्म की आराधना से मिलते हैं तथा परम्परा से मोक्ष मिलता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि मानता है।

एकान्त कल्पना :—धर्म से मोक्ष ही मिलता है, स्वर्गादि का अभ्युदय नहीं मिलता, यह कल्पना तथा कथन परमागम की आज्ञा के अनुकूल नहीं हैं। समंतभद्र स्वामी सदृश महान आचार्य कहते हैं :—

पूजार्थाज्ञै-श्वर्य-बल-परिजन-काम-भोग-भूयिष्ठैः ।
अतिशयित-भुवन-मद्भुत-मभ्युदय फलति सद्धर्मः ॥ १३५-रत्नकरंड ॥

यह समीचीन धर्म पूजा, धन, आज्ञा, ऐश्वर्य सहित शक्ति, परिजन, काम, भोग की अधिकता से तीन लोक में उत्कृष्ट, आश्चर्य-जनक अभ्युदय अर्थात् इंद्रादि की विभूति स्वरूप फल को प्रदान करता है।

इन्द्र का वैभव :—इंद्रादि का वैभव कैसा होता है, उसके विषय पर प्रकाश डालने में तिलोयपण्णत्तिकार अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं। स्वर्ग लोक के रत्नमय सिंहासन के विषय में वे कहते हैं;

सिंहासणाण सोहा जा एदाणं विचित्तरुवाणं ।
ण य सक्का वोत्तुं मे पुण्णफलं एत्थ पच्चक्खं ॥ ३७५-८ ॥

विचित्र रूपवाले इन सिंहासनों की जो शोभा है, उसको कहने मे मैं समर्थ नहीं हूँ। यहाँ पुण्य का फल प्रत्यक्ष दिखता है।

सिंहासण मारूढा सोलसवर-भूसरोहि सोहिल्ला।
सम्मत्त-रयण-सुद्धा सव्वे इन्दा विरायंति ॥ ३७६-८ ॥

सर्व इंद्र सम्यक्त्व रूपो रत्न से शुद्ध हैं। वे सोलह उत्तम आभूषणों से शोभायमान होते हुए उन सिंहासनों पर विराजमान होते हैं।

आचार्य का कथन महत्वपूर्ण है :—

पुव्व-ज्जिदाहि सुचरिद-कोडीहि संचिदाए लच्छीए।
सक्कादीणं उवमा का दिज्जइ णिरुवमाणाए ॥ ३७७-८ ॥

पूर्व भव में संचित करोड़ों प्रकार के सम्यक्चारित्र के कारण प्राप्त इंद्रादिकों की लक्ष्मी की क्या उपमा दी जाय? वह तो अनुपम है।

इन्द्रों के मुकुटों के मध्य में चिह्न पाए जाते हैं। अच्युतेन्द्र के मुकुट के मध्य में कल्पतरु का चिह्न कहा गया है (पृ० ८३३७ ति० प०)

इन्द्र भवन के आगे प्रतिमा—

सयलिद-मंदिराणं पुरदो णग्गोह-पायवा होंति।
एक्केक्कं पुढविमया पुव्वोदिद-जंबु-दुम-सरिसा ॥ ८-४०५ ॥

संपूर्ण इंद्र-मंदिरों के आगे न्यग्रोध वृक्ष होते हैं। प्रत्येक वृक्ष पृथिवी स्वरूप है और पूर्वोक्त जंबू वृक्ष के सदृश हैं।

तम्मूले एक्केक्का जिणिंद-पडिमा य पडिदिसं होदि।
सक्कादि-णमिद-चलणा सुमरणमित्ते वि दुरिद-हरा ॥ ४०६ ॥

उन वृक्षों के मूल मे प्रत्येक दिशा में एक-एक जिनेन्द्र प्रतिमा होती है, जिनके चरणों को इंद्रादि प्रणाम करते हैं। वे प्रतिमा स्मरण मात्र से पापों को दूर करतीं हैं।

ये इंद्र दस प्रकार परिवार देवों से संयुक्त होते हैं। उनके नाम इस प्रकार कहे गए हैं "प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, दिगिन्द्र,

तनुरक्ष, पारिषद, अनीक, प्रकीर्णक, अभियोग्य और किल्विषिक ये दश प्रकार के परिवार देव हैं। ये क्रम से युवराज, कलत्र, तनुज, तंत्रराय, कृपाणधारी शरीररक्षक, उत्तम, मध्यम तथा जघन्य परिषद में बैठने योग्य सभासद, सेना, पुरजन परिचारक तथा चाण्डाल सदृश होते हैं।

एक-एक इन्द्र के जो एक-एक प्रतीन्द्र होते हैं, वे आयु पर्यन्त युवराज की ऋद्धि से युक्त रहते हैं। (ति० प० पृष्ठ ८०१)

धर्म की आराधना द्वारा प्राप्त इंद्र की श्रेष्ठ सामग्री, सुख, प्रभाव आदि की कल्पना करना सामान्य मानव के लिए एक प्रकार से असंभव । आगम के द्वारा सर्वज्ञोक्त उस पर प्रकाश डाला गया है।

महापुराण में जिनसेन स्वामी लिखते हैं, इंद्र के उपपाद के पश्चात् उत्तम देव लोग सुरेन्द्र का अभिषेक करते हैं।

इन्द्राभिषेक :—

दिव्य संगीत, दिव्य वाद्य, दिव्य मंगल गीतों के शब्द, अप्सराओं के विचित्र नृत्यों से जिसका इंद्राभिषेक सम्पन्न हुआ है और जो अपने साम्राज्य के मुख्य चिह्न स्वरूप देदीप्यमान मुकुट को धारण कर रहा है; हर्ष को प्राप्त हुए करोड़ों देव जिसका जय-जयकार कर रहे हैं, जो उत्तम मालाएं और वस्त्र धारण किए हुए है तथा देदीप्यमान वस्त्राभूषणों से सुशोभित है, ऐसा वह इन्द्र इन्द्र के पद पर आरूढ़ होकर अत्यन्त पूजा को प्राप्त होता है। (१६५-१६८ पर्व ३८)

द्वादशांग वाणी के सापेक्ष कथन को भूलकर कोई एकान्त-वादी मनमें सोच सकता है, 'इस स्वर्ग चर्चा में क्या रखा है, व्यर्थ ही उसके वर्णन में समय व्यय किया जाता है।"

ऐसे अविवेकी को भूधरदास जी के इन शब्दों का मर्म हृदयंगम करना चाहिए। उन्होंने पार्श्वनाथ भगवान के पूर्वभव में स्वर्ग गमन के विषय में प्रकाश डालने के पूर्व यह दोहा लिखा है :—

स्वर्ग लोक वरनन लिखौं जथाशक्ति सुखरीत।
धर्म-धर्म के फल विषैं ज्यों मन उपजै प्रीत॥ १८१॥

दिव्य लोक पर प्रकाश :—

कवि ने हिन्दी पद्य में दिव्यलोक का जो सुन्दर चित्र अंकित किया है वह बड़ा सजीव तथा मधुर है :—

चन्द कांति-मू गा-मणिमई नाना वरन भूमि वरनई।
रात दिवस को भेद न जहा रत्न-उदोत निरंतर तहा ॥ १८२ ॥

ज्योतिषी देवों का सद्भाव इस मध्यलोक के पृथ्वीतल से ९०० योजन पर्यन्त है, उसके ऊपर ९९१०० योजन प्रमाण मध्यलोक में सूर्य चन्द्रादि के प्रकाश का सद्भाव नहीं है। कल्पवासी देवों के निवास स्थल स्वर्गों मे भी यही स्थिति है। अतः कवि ने कहा कि स्वर्ग में रत्नों का उद्योत पाया जाता है, वह इतना दीप्ति युक्त है कि दिन और रात का अन्तर नही प्रतीत होता है।

कवि आगे लिखते हैं :—

मणि कगुरे कचन प्राकार औंडी परिखा ऊँचे द्वार।
तोरन तुंग रतनग्रह लसैं स्वर्ग लोक पुर बसे ॥ १८३ ॥
चम्पक पारिजात मदार फूलन फैल रही महकार।

वापिका का वर्णन इस प्रकार है :—

विपुल वापिका राजै खरी, निर्मल नीर सुधामय भरी।
कंचन कमल छई छविवान, मानिकखंड-खचित सोपान ॥ १८५ ॥

वहां का जल पवन कैसा है ? यह बताते हैं :—

मन्द सुगध बहे नित वाय पहुपनैनुरंजित सुखदाय।
आधी मेह न कबहीं होय, ताप तुसार न व्यापै कोय ॥ १८८ ॥
रितु की रीति फिरै नहिं कदा। सोमकाल सुखदायक सदा।
छत्र-भंग चोरी उतपात सुपने नहीं उपद्रव जात ॥ १८९ ॥
ईति भीति भूचाल न होय, बैरी दुष्ट न दीसै कोय।
रोगी दोखी दु:खिया दीन विरप-वेस गुण-संपति-हीन ॥ १९० ॥
नहती अंग विकलता कही ये सब स्वर्गलोक में नहीं।
सहज सोम सुन्दर सरवंग सब आभरन अलंकृत अंग ॥ १९१ ॥

लच्छन लंछित सुरभि सरीर रिद्धि सिद्ध मंदिर मन धीर।
काम सरूपी आनन्द कन्द कामिनि नेत्र कमलनी-चन्द ॥ १६२ ॥
वदन प्रसन्न प्रीतरस भरे विनय बुद्धि गिरा आगरे।
यो बहुगुण मंडित स्वयमेव, ऐसे स्वर्ग निवासी देव ॥ १६३ ॥
ललित वचन लीलावती शुभ लच्छन सुकुमाल।
सहज - सुगध सुहावनी जथा मालती माल ॥ १६४ ॥
शीलरूप लावण्य निधि हाव - भाव - रसलीन।
सीमा सुभग - सिंगार की सकल कला परवीन ॥ १६५ ॥
निरत गीत संगीत सुर सब रस रीत मंझार।
कोविद हंहि सुभावतै सुरग लोक की नार ॥ १६६ ॥
पंच इन्द्रि - मन को महा जे जग में सुख हेत।
तिन सबही को जानियो सुरगलोक संकेत ॥ १६७ ॥

ऐसे अद्भुत सौन्दर्य तथा अतुलनीय वैभव के केन्द्र में जन्म लेने पर देव अथवा देवेन्द्र आश्चर्य चकित हो सोचते हैं :—

इन्द्रजाल अथवा सुपन, कै माया भ्रम कोय।
यो सुरेश सोचै हिये, पै निरनय नहि होय ॥ २०६ ॥
तब तिस थानक देव प्रधान मनकी बात अवधि सों जान।
जोग वचन बोले सिर नाय संशय हरन श्रवन सुख दाय ॥ २१० ॥
तुम इहि थान इन्द्र अवतरे, पूर्व जन्म दुद्धर तप धरे।
ये सब सुर-सेवक तुम तनें, ये परिवार लोक हैं घने ॥ २१४ ॥
ये विमान पुर महल उतंग चमर छत्र सेना सप्तंग।
धुजा सिंहासन आदि मनोग सकल संपदा यह तुम जोग ॥ २१६ ॥

उस समय इन्द्र महाराज इस प्रकार विचार करते हैं : —

ऐसे वचन अनन्तर तबै, जान्यो इन्द्र अवधि बल सबै।
मैं पूरब कीनो तप घोर, दंडे करम धरम धन-चोर ॥ २१७ ॥
जीव जात को निर्भयदान दीनो आप बराबर जान।
सब उपसर्ग सहे धरि धीर जीत्यो महाराग रिपुवीर ॥ २१८ ॥

इहि विधि सेयो धर्म महान तिस प्रभाव दीखे यह थान।
दुरगति पात निवारन करो तिन मुझ इन्द्रलोक ले धरो ॥ २२० ॥

ऐसा विचार करते-करते संयम पालन का अभ्यासी हृदय अब संयम पालन के प्रतिकूल वातावरण की उपलब्धि होने से सोचता है—

सो अब सुलभ नहीं इस देह, भोग जोग है थानक येह।
राग-आग दुःखदायक सदा, चारित-जल बिन बुझै न कदा ॥२२१॥
सो कारन सुरगति मे नांहि, व्रत को उदय न या पदमांहि।
ह्या सम्यग्दर्शन अधिकार, शंकादिक मलवर्जित सार ॥ २२२ ॥
कै जिनवर की भक्ति सहाय और न दीखै धर्म उपाय।

जिन पूजा की प्रमुखता— इन पवित्र विचारों से जिस सुरेन्द्र का मन परिपूर्ण है, वह होनहार तीर्थंकर जिनेन्द्र की पूजा को प्राथमिक कर्तव्य मानते हैं। कवि कहते हैं :—

यह विचारि जिन-पूजन हेत उठ्यो इन्द्र परिवार समेत ॥ २२३ ॥
अमृत वापिका मे करि न्हौन, गयो जहा मणिमय जिन-भौन।
रतन बिम्ब वन्दे विहसाय भाव-भगत सो सीस नवाय ॥ २२४ ॥
पूजा करी दरबधारे आठ पुलकित अङ्ग पढ्यो थुतिपाठ।
नैत्य वृक्ष जिन प्रतिमा जहा महा-महोच्छव कीनो तहा ॥ २२५ ॥
यो बहु पुण्य उपायो सही फेरि आय निज संपति गही।
दिव्य भोग भुंजे बड़भाग लोकोत्तम जिस सहज सुहाग ॥ २२६ ॥

उस इन्द्र के जीव को पहिले से ही धर्म में अपार रस आता था, आज वह उस धर्म रूपी वृक्ष के सुमधुर तथा पुष्टिप्रद फल चख रहा है। अतः देव पर्याय सुलभ आत्महित की साधन सामग्री का वह बुद्धिमान इन्द्र अधिक से अधिक उपयोग लिया करता है। कवि कहते हैं :—

पुण्य संचय का प्रक्रम

सुरगलोक के सुख की कथा, कहै कहाँ लो बुधबल जथा।
बैठि मनोगत विमल विमान विचरै नभ पथ वांछित थान ॥ २३० ॥

कबही मेरु जिनालय गमै, कबही आन कुलाचल रमै।
दीप समुद्र असंख अपार करै सुरेन्द्र सुछन्द विहार ॥ २३१ ॥
वर्ष वर्ष में हर्ष बढ़ाय तीन बार नन्दी सुर जाय।
पंचकल्याणक समय सुजोग करै तीर्थ-पद-नमन नियोग ॥ २३२ ॥

तीर्थंकर केवली के सिवाय अन्य केवली के ज्ञान तथा मोक्ष ये दो कल्याणक होते हैं, अतः कवि कहते हैं—

और केवली प्रभु के पाय दोय कल्याणक पूजै आय।
निज कोठे थिर होय सुज्ञान करै दिव्य बानी रस पान ॥ २३३ ॥

इसके सिवाय वह सुरेन्द्र अन्य देवताओं तथा श्रुतधरों के साथ धर्म-चर्चा करता था। वह दिव्य लोक का वासी देवेन्द्र आर्तध्यान, रौद्रध्यान की आंतरिक मलिनता से बचता हुआ सदा शुभोपयोग में सावधानी पूर्वक संलग्न रहने की चेष्टा करता रहता था।

साक्षात् तीर्थंकर के पादमूल में तत्वज्ञान का अमृत रसपान करने वाला यह भावि तीर्थंकर अद्भुत शान्ति, अवर्णनीय आनंद तथा उच्च रूप में पुण्य राशि का संचय तो करता ही था, साथ ही आत्म-चिंतवन तथा अनासक्ति रूप भावों के द्वारा कर्मों की निर्जरा भी करता था।

मिथ्यादर्शन का अभाव होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधने वाली कर्म प्रकृतियों का बंध रुक गया था। हाँ! अविरति, प्रमाद, कषाय आदि बंध के कारणों का सद्भाव रहने से उनके निमित्त से कर्मों का बध भी निरन्तर होता था।

इस अच्युतेन्द्र का श्रेष्ठत्व :—धर्मतीर्थंकर होने वाला यह अच्युतेन्द्र पवित्र प्रवृत्तियों तथा लोक कल्याण का लोकोत्तर केन्द्र सदृश था। बड़े बड़े देवेन्द्र भी इस अच्युतेन्द्र के विशिष्ट पुण्य से प्रभावित होते थे तथा हृदय से प्रणामांजलि अर्पित किया करते थे।

जिस आत्मा के तीर्थंकर प्रकृति सत्ता में विद्यमान है, उस सुरराज के सौभाग्य का वर्णन तो दूर रहा उसकी श्रेष्ठता की कल्पना

भी असंभव है। तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा में दिव्यवाणी रूप असली अमृत को पीकर उस अमरपति की आत्मा कितना पोषण तथा कितनी शक्ति न प्राप्त करती होगी ?

देवों का विशेष सौभाग्य :—देव पर्याय पाने वालों को यह बड़ा आध्यात्मिक लाभ मिलता है कि अनेक बार तीर्थंकरों के समीप जाकर उनकी दिव्यध्वनि सुनकर तथा समवशरण में विद्यमान उन धर्म के सूर्य का दर्शन करके आत्मा अद्भुत प्रकाश प्राप्त करती है। पंच भरत, पंच ऐरावत तथा पंच विदेह सम्बन्धी बत्तीस बत्तीस नगरियों में कुछ मिलाकर १७० तीर्थंकर हो सकते हैं।

सुरेन्द्र को यह सौभाग्य प्राप्त है कि वह १७० धर्मक्षेत्रों में जाकर उन तीर्थंकरों की वंदना करता है। श्रुतकेवलियों, ऋद्धिधारी मुनीश्वरों के सत्संग से अवर्णनीय लाभ हो सकता है।

इस लोकोत्तर लाभ को ध्यान में रखकर हर एक चतुर गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि वह व्रत के बिना जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दे। इसीलिए तपोमूर्ति चारित्र चक्रवर्ती महामुनि आचार्य शांतिसागर महाराज प्रत्येक व्यक्ति को व्रती बनने की प्रेरणा करते थे।

देव पर्याय में जाकर जीव विषयों में फंस जाता है, यही बेसुरा राग आलापते हुए देव पर्याय के कारणरूप व्रताचरण से लोगों को विमुख बनाकर कोई कोई प्रमादी स्वयं को पतन के मार्ग पर ले जाते हुए दूसरों को भी कुगति के कुचक्र में फंसाते हैं।

वर्धमान चरित्र में लिखा है कि इन होनहार तीर्थंकर की देवगण सदा भक्तिपूर्वक पूजा अर्थात आदर सत्कार किया करते थे :—

भावी तीर्थकरोऽयमित्यविरतं संपूज्यमान: सुरै: ।

धीरे-धीरे स्वर्ग के सुख की घड़ियाँ बीतती गईं। अच्युतेन्द्र के जीवन का बाईस सागर प्रमाण महान काल समाप्त होने के समीप आ रहा है। इन्द्रराज पूर्ण शान्त हैं, स्वर्ग सम्पदा छूट जाएगी, इससे

उसके मन में रंचमात्र भी आकुलता या व्याकुलता उत्पन्न नहीं हुई। मनुष्य भव को पाकर मैं आत्म-संपदा को पाऊँगा। इस उच्च विचार के कारण मृत्यु की समीपता खेद के स्थान में आनन्द का कारण बनती जा रही थी।

अब ये सुरेन्द्र अच्युत स्वर्ग को छह माह में छोड़कर कुण्डलपुर में विद्यमान पुण्यशीला महारानी प्रियकारिणी के उदर में जन्म लेंगे। महाराज सिद्धार्थ उनके पिता होंगे। इस समय हमारी दृष्टि अच्युतेन्द्र को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाना चाहती है। प्राची की गोद में उदित होने वाले प्रभापुंज प्रभाकर को छोड़कर भला कौन प्राची दिशा तथा कमलवृन्द की ओर प्रथम प्रयाण करेगा? इसका कारण है? अन्य दिशाओं में और पूर्व दिशा में कोई खास अन्तर नहीं है। सूर्योदय की दिशा बनने से पूर्व दिशा की महिमा गाई जाने लगी? कमलों को भी इसीलिए गौरव प्राप्त है कि उसका प्रभाकर के प्रति अप्रतिम प्रेम है।

भगवान के गर्भ कल्याणक के छह माह पूर्व से ही जन्मपुरी सौभाग्यलक्ष्मी का केन्द्र बनी थी। इस छह माह पूर्व काल कथन का क्या कोई हेतु है? करणानुयोग शास्त्र से ज्ञात होता है कि देवलोक की आयु के छह माह शेष रहने पर वह देव आगामी भव की आयु का बंध करता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ५१८ की टीका में लिखा है, "देवनारका भुज्यमानायुषि षड्मासावशेषे सति पर-भवायुबंध-प्रायोग्या भवति" (पृष्ठ ६१४-६१५) भुज्यमान आयु में छह मास शेष रहने पर देव तथा नारकी आगामी भव की आयु के बंध के योग्य होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उनका आगामी भव की आयु का बंध छह माह के पूर्व होता है, इससे अधिक काल पूर्व आयु बंध नहीं होता। अतः अच्युतेन्द्र ने पौष शुक्ला षष्ठी को मनुष्य भव की आयु का बंध किया था। उससे यह निश्चय हो गया कि अब यह दिव्य लोक की विभूति मध्यलोक को समलंकृत करेगी। अतः मध्यलोक में आनन्द, उत्सव होना स्वाभाविक तथा उचित है।

आगम में कहा है, जब देवों का मरण समीप आता है, तब उनके कण्ठ की माला मुरझा जाती है तथा अन्य चिन्हों से भी उनके दिव्य-जीवन समाप्त होने का संकेत मिलता है।

तीर्थंकर होने वाली महान आत्मा की यह अपूर्व बात है कि उनके माला नहीं मुरझाती है। 'सग्गे अमलाण मालांको'। दूसरी विशेषता यह होती है कि जो जीव नरक से निकलकर तीर्थंकर होता है, उसके छह माह पूर्व से देवगण अन्य कृत उपसर्गों का निवारण किया करते हैं।

यहाँ अच्युतेन्द्र के आभूषणों की दीप्ति तथा देह की प्रभादि पूर्ववत रहने से मन्दारमाला की अम्लानता रहने से यह नहीं कहा जा सकता था, कि इन देवेन्द्र को सुरलोक का परित्याग करने की वेला समीप है।

अच्युतेन्द्र ने अपने दिव्य ज्ञान से यह जान लिया कि अब उनकी देवायु का प्रदीप अधिक समय पर्यन्त ज्योतिर्मय नहीं रहेगा। इससे भावी तीर्थंकर उन महान आत्मा के मन मे किसी भी प्रकार का विषाद या मनो-व्यथा नहीं हुई। उनकी आत्मा तत्वज्ञान से समलंकृत थी। साक्षात जिनेन्द्र के समीप बैठकर उन्होंने धर्म का स्वरूप सुना था, रहस्य मनन किया था तथा उस ज्ञान को हृदय मे स्थापित किया था। उन्होंने इस पवित्र विचार को अपने अन्तःकरण मे विराजमान किया था।

'णाहं होमि परेसि ण मे परे संति णाणमहमेक्को' मैं पर पदार्थों का नहीं हूँ और न पर पदार्थ ही मेरे हैं। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ। मैं अकेला हूँ। वे सत्य तत्वको अपने जीवन का केन्द्र बिन्दु बना चुके थे 'णाणं अहं एक्को'—मैं ज्ञान हूँ मैं एक हूँ। अकेला हूँ। अतः देवेन्द्र होते हुए भी वे परमार्थ दृष्टि से देवेन्द्र नहीं थे। जिनेन्द्र बनने वाली आत्मा का देवेन्द्र पद पर मोह भी क्या होगा और क्यों होगा? यदि उसके मोह होगा, तो वह जिनेन्द्र कैसे बनेगा? मोह को जीतने वाला ही जिनेन्द्र बनता है।

ये अच्युतेन्द्र तो तीर्थंकर होंगे; स्वयं को ही जिनेन्द्र बनाकर चुप नहीं रहेंगे, यह तो अगणित जीवों को मोह क्षय की कला सिखाकर जिनेन्द्र परा विद्या के महान आचार्य का कार्य करेंगे।

अतः इनकी मृत्यु के समय पर अद्भुत स्थिति थी। ये पूर्णतया समाधान तथा सावधान थे। ये अपने जीवन में ही देख रहे थे, कि देव पर्याय का इन्द्रियजन्य श्रेष्ठ सुख यद्यपि असली आनन्द नहीं था फिर भी वह जो कुछ था, वह मर्यादा को लिए था। अब उसका काल समाप्त होने को है। वह अनन्त नहीं है। वह तो सान्त है।

अच्युतेन्द्र का उपदेश—इन अच्युतेन्द्र ने अपने से संबंध रखने वाले देवों को यह कल्याणकारी उपदेश देना प्रारम्भ किया, जिससे उनके मनमें मोह जनित तथा वियोग जनित आर्त ध्यान न हो। ये अच्युतेन्द्र तो जीवित धर्म ध्यान से दिखाई रहे थे।

उन्होंने कहा "हे देवो! मैंने चिरकाल से आपका पालन किया है। कितने ही को मैंने पिता के समान माना है, कितने ही देवों को पुत्र के समान खिलाया है। कितने ही देवों को पुरोहित, मन्त्री, अमात्य के स्थान पर नियुक्त किया है। कितने ही को देवों की रक्षा के लिए सम्मान योग्य पद पर देखा है। कितने ही को सेनाध्यक्ष के स्थान पर नियुक्त किया है, कितने ही को अपने परिवार के लोग समझा है, कितने ही को सामान्य प्रजाजन माना है, कितने ही को सेवक माना है, कितने ही को परिजन के स्थान पर और कितने ही को अन्तःपुर के प्रतीहारी के स्थान पर नियुक्त किया है। कितने ही देवियों को वल्लभिका, कितने ही देवियों को महादेवी पद पर नियुक्त किया है। इस प्रकार मैंने आप लोगों पर असाधारण स्नेह दिखाया है, तथा आपने भी असाधारण रूप से स्वामिभक्ति धारण की है।"

इसके पश्चात् अच्युतेन्द्र ने कहा :—

साम्प्रतम् स्वर्ग - भोगेषु गतो मंदेच्छतामहम्।
प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मी:, अद्य भूलोकगोचरा ॥२१०-३८॥ महा.पु.

अब मेरी स्वर्ग के भोगों में इच्छा मंद रूप हो गई है। अब मध्यलोक की लक्ष्मी मेरे समीप आ रही है।

> युष्मत्साक्षि ततः कृत्स्नं स्व साम्राज्यं मयोज्झितम्।
> यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम् ॥ २११ ॥

इंद्र त्याग क्रिया—इस कारण आप लोगों की साक्षीपूर्वक मैं स्वर्ग का साम्राज्य छोड़ रहा हूँ। मेरे पश्चात मेरे समान जो दूसरा इंद्र होगा, उसके लिए यह मैं समर्पण कर रहा हूँ।

> इत्यनुत्सुकतां तेषु भावयन्ननुशिष्य तान्।
> कुर्वन्निंद्र-पद-त्याग स व्यथां नैति धीरधी ॥ २१२ ॥

इस प्रकार उन देव-परिवार के प्रति उदासीन भाव को धारण करता हुआ तथा उस सबको अनुशासित कर वह गंभीर बुद्धि सुरेन्द्र इंद्र पद का परित्याग करता है तथा तनिक भी व्यथा का अनुभव नहीं करता है।

> इन्द्र-त्याग - क्रिया सैषा तत्सभोगातिसर्जनम्।
> धीरास्त्यजन्त्यनायासादैश्वर्यं तादृशं मप्यहो ॥ २१३ ॥

इस प्रकार स्वर्ग के दिव्य भोगों का त्याग इंद्र त्याग क्रिया कही गई है। आश्चर्य है कि धैर्य संपन्न आत्मा स्वर्ग के लोकोत्तर ऐश्वर्य को बिना व्यथा के त्याग देते हैं। (महापुराण पर्व ३८)

इसके पश्चात् वह विशुद्ध परिणाम वाला देवेन्द्र क्या करता है, यह कहते हैं:—

> सोऽयं नृजन्म-संप्राप्त्या सिद्धि द्रागभिलाषुकः।
> चेतः सिद्धनमस्यायां समाधत्ते सुराधिराट् ॥ २१५ ॥

वह इंद्र अपना चित्त सिद्ध भगवान की वंदना में लगाता है। क्योंकि वह शीघ्र ही मनुष्य जन्म को प्राप्त कर सिद्ध बनना चाहता है।

अब अच्युतेन्द्र का अंतिम समय समीप है। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की वेला है।+ स्वर्गलोक का अप्रतिम वैभव तथा आध्यात्मिक तेजः पुंज आत्मा अब अवतीर्ण हो विदेह देश के कुण्डपुर के राजा सिद्धार्थ की महारानी प्रिय कारिणी त्रिशलादेवी के गर्भ में आ गई।

अब उन्हें हम त्रिशलानन्दन के रूप में स्मरण कर उन प्रभु की वन्दना करेंगे।

जय त्रिशलानन्दन

+ भगवान वीरनाथ जिनेन्द्र का गर्भ कल्याणक आषाढ़सुदी षष्ठी को हुआ था, जबकि चन्द्रमा हस्त तथा उत्तरा इन दो नक्षत्रों के मध्य में स्थित था।

निर्वाण भक्ति में कहा है :—

आषाढ-सुसित-षष्ठ्यां हस्तोत्तरमध्यमाश्रिते शशिनि।
आयातः स्वर्गसुखं भुक्त्वा पुष्पोत्तराधीशः ॥ ३ ॥
सिद्धार्थनृपति - तनयो भारतवास्ये विदेह-कुंडपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान्संप्रदर्श्य विभुः ॥ ४ ॥

अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान के स्वामी स्वर्ग के सुखों को भोगकर आषाढ शुक्ल षष्ठी को जबकि चन्द्रमा हस्त तथा उत्तरा नक्षत्र के मध्य में स्थित था, भारत वर्ष के विदेह देश में विद्यमान कुंडपुर में सिद्धार्थ नृपति के पुत्र होकर देवी प्रियकारिणी को सोलह स्वप्न दिखाते हुए अवतीर्ण हुए।

दया के देवता का अवतरण

विदेह राज्य के प्रमुख नगर कुण्डपुर की विभूति विश्व के लिए विस्मय की वस्तु बन गई। प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह माह पूर्व से ही उस नगरी की स्थिति ही अनुपम और अपूर्व बन जाती है, जहाँ उनका जन्म होने वाला है। कुण्डपुर अब सौन्दर्य और सुषमा का केन्द्र बन गया। उसकी अभिवृद्धि करने में अब सुरराज की दृष्टि है। जहाँ तीर्थंकर परमदेव का अवतरण होना है, वहाँ के निवासियों का सामुदायिक पुण्य भी अद्भुत परिपाक की स्थिति को प्राप्त करता है। वादिराजसूरि ने एकीभाव-स्तोत्र में कहा है :—

> प्रागेवेह त्रिदिव-भवनादेष्यता भव्य पुण्यात् ।
> पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम् ॥
> ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्टः ।
> तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णी करोषि ॥ ४ ॥

हे भगवन्! स्वर्गलोक से इस भूतल पर आगमन के पूर्व ही आपने भव्य प्राणियों के पुण्योदय से इस भू-वलय को रत्नादि वर्षा द्वारा कनक-स्वर्ण मय बना दिया था। अब ध्यान के द्वार से मेरे भक्ति पूर्ण मनो-मंदिर मे प्रवेश कर यदि मेरे शरीर को स्वर्ण सदृश निर्विकार कर दें तो इसमें क्या आश्चर्य की बात है ?

जब अच्युतेन्द्र ने पुष्पोत्तर विमान से चय करने के लिए मनुष्यायु का बंध किया, तब से कुण्डपुर की वास्तव में दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति हो रही थी।

कुण्डपुर की श्रेष्ठ समृद्धि का कारण :—अच्युतेन्द्र त्रिशलानन्दन बनकर जिस स्थल को अपना जन्मस्थान बनाने जा रहे हैं, वहाँ

श्रेष्ठ समृद्धि का निवास स्वाभाविक और उचित ही तो था। कोई महान व्यक्ति यदि प्रवास हेतु बाहर जाते हैं, तो उनकी निवासादि की विशेष व्यवस्था की जाती है, उस पर विपुल द्रव्य व्यय किया जाता है। अब त्रिलोकीनाथ पुरुषोत्तम प्रभु मानव रूप अंगीकार कर पुनः स्वर्ग नहीं आने वाले हैं, ऐसा सोच प्रतीत होता है कि स्वर्ग लक्ष्मी ने स्वयं ही कुण्डपुर आकर उन देवाधिदेव के निवासादि की सर्वोत्तम व्यवस्था को अपना प्रिय और पवित्र कर्तव्य समझा।

शंका :- सूक्ष्मदृष्टि से सोचा जाय, तो सुर समाज की एक मात्र ममता, श्रद्धा तथा पूज्यता की भावना त्रिशलानन्दन के प्रति थी, तब सारी नगरी के सौन्दर्य संवर्धन में कुबेर स्वयं क्यों दत्तचित्त होते थे ?

समाधान :—इसका कारण यह प्रतीत होता है कि तीर्थंकर दया के देवता रूप होते हैं। उनको पूर्ण सुख पहुँचाने के लिए क्या यह आवश्यक नहीं है, कि उनके चहुँ ओर निवास करने वाली जनता भी सुखी और समृद्ध हो ? बिना प्रजा के सुखी हुए परम कारुणिक प्रजापति को आनन्द की उपलब्धि असंभव है।

स्वार्थी, क्षुद्र हृदय तथा निकृष्ट वृत्ति वाले व्यक्ति वैभव का आनन्द लेते हुए गरीबों की पुरी में रह सकते हैं, किन्तु विशाल-हृदय, महान आत्मा स्वयं के सुख के साथ अपने साथियों तथा निकटवर्ती वर्ग के आनन्द का सामंजस्य अनुभव करते हैं, अतः कुण्डपुर का भाग्य चक्र बदल गया और इस परिवर्तन में स्वयं कुबेर का नेतृत्व है।

कुबेर के आदेश से तिर्यग्जृंभक - देव ने महाराज सिद्धार्थ के राजभवन के प्रांगण में प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की मंगलमयी आनन्ददायिनी वृष्टि का कार्य प्रारंभ कर दिया था।

ऐसी रत्नों की वर्षा के विषय में जिनके मन में संदेह उत्पन्न हो, वे यह सोचें, जब पापी पुरुषों का आगमन होता है, तब भावि

संकट की सूचना देने वाले अनेक दुष्ट चिन्ह होते है। आकाश से ओले, पत्थर गिरते हैं। अनेक प्रकार से अनिष्ट रूप में वर्षा होती है, तब दया के देवता के आगमन पर प्रकृति का मंगलमय परिणमन अस्वाभाविक नहीं है।

हीरा का विश्लेषण करने वाले आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं, कोयला तत्व (Carbon) का स्फटनशील परिणमन (crystalline) होने पर हीरा आदि रूप में परिवर्तन होता है। जब वही कार्बन अर्थात् कोयला विपरीत (Amorphous) अस्फटीकरण रूप होता है, तब वह काजल, चारकोल तथा कोयला आदि अवस्थाओं को धारण करता है।

कारुण्यमूर्ति का स्वागत : तीर्थंकर बनने वाली आत्मा के रोम-रोम में कारुण्य वा अमृत-रस भरा रहता है। जब ऐसी दयामयी ज्योति पृथ्वीतल पर आने को तत्पर होती है, तब प्रकृति भी सर्व प्रकार सज-धज कर उनका भावभीना स्वागत करने को प्रस्तुत होती है।

महापुराणकार जिनसेन स्वामी ने लिखा है कि भगवान ऋषभदेव माता मरुदेवी के गर्भ में जब आए थे, उसके छह माह पूर्व से ही रत्नों की वर्षा हुई थी। महाकवि उसका काव्यरस मय चित्रण करते हुए कहते हैं :—

> संक्रन्दन-नियुक्तेन धनदेन निपातिता।
> साऽऽभात् स्वसपदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥ ८५-१२ ॥

इन्द्र के द्वारा आज्ञापित कुबेर ने जो रत्नों की वर्षा की थी, वह ऐसी शोभायमान होती थी, मानो ऋषभदेव की संपत्ति प्रभु के आने के पूर्व ही उत्सुकतावश आ गई हो।

> हरि-मणि-महानील-पद्मरागांशु-संकरे।
> सा द्युतत् सुरचापश्रीः प्रगुणत्वमिवाश्रिता ॥ ८६-१२ पर्व ॥

वह रत्नवृष्टि हरि-मणि, इंद्रनीलमणि और पद्मरागमणि आदि की किरणों से मिश्रित हो, ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो इंद्र-धनुष की लक्ष्मी ने कुटिलता का त्यागकर ऋजुता-सीधेपन को धारण किया हो।

यह कल्पना अत्यन्त मनोरम लगती है :—

> खांगणे विप्रकीर्णानि रत्नानि क्षणमाबभुः ।
> द्यु-शाखिनां फलानीव शातितानि सुर-द्विपैः ॥ ६१ ॥

आकाश रूपी आंगन में गिराए गए वे रत्न क्षण भर ऐसे लगते थे, मानो स्वर्ग के गजेन्द्रों के द्वारा कल्पवृक्षों के फल ही तोड़ तोड़कर नीचे गिराए गए हों।

> खांगणे गणनातीता रत्नधारा रराज सा।
> विप्रकीर्णेव कालेन तरला तारकावली ॥ ६२ ॥

आकाश रूपी आंगन में वह असंख्य रत्नों की धारा ऐसी जान पड़ती थी मानो कालवश चंचल तारों की पंक्ति ही नीचे गिराई गई हो।

> सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनदेन निपातिता।
> विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥ ६५ ॥

यह जो हिरण्मयी-सुवर्णात्मक वर्षा कुबेर ने की, वह प्रतीत होता है, जगत् को यह सूचित करने के लिए की गई थी, कि भगवान जिनेन्द्र हिरण्यगर्भ हैं। जिनके गर्भ में रहते हुए सुवर्ण की वर्षा होती है, उनको हिरण्य-गर्भ कहा जाता है।

भगवान के पिता के भवन में यह रत्न वर्षा गर्भ से ६ माह पूर्व से जन्म के पूर्व तक पन्द्रह माह हुई थी, इसका कारण महापुराणकार यह बताते हैं, "अहो महान प्रभावोस्य तीर्थकृत्वस्य भाविनः"-यह रत्न-वर्षा सूचित करती है कि आगामी जन्म धारण करने वाले तीर्थंकर का आश्चर्य प्रद महान प्रभाव होगा।

हरिवंश पुराण में लिखा है कि इस धन की धारा की वर्षा का उपयोग याचक जनों को परितृप्त करने में किया गया था।+

कुण्डपुर का भाग्य - ऋषभनाथ आदि तीर्थंकरों के स्वर्गावतरण के समय जिस प्रकार नभोमण्डल से वैभव और विभूति की विपुल वृष्टि द्वारा दारिद्र्य का दुःख जनता को नहीं उठाना पड़ा था, ऐसा ही सौभाग्य विदेह देश के कुण्डपुर वासियों को प्राप्त हुआ था, जब चौबीसवें तीर्थंकर की अवतरण वेला आई थी। कुण्डपुर अत्यन्त समृद्ध नगर था। हरिवंशपुराण में उसे सुख रूपी जल से परिपूर्ण कुण्ड तुल्य कहा है :—

सुखांभः कुंडमाभाति नाम्ना कुडपुरं पुरम ॥ ५—सर्ग २ ॥

कुण्डलपुर—तिलोय पण्णत्ति में कुण्डपुर का नाम कुंडलपुर आया है :—

सिद्धत्थराय-पियकारिणीहिं णयरम्मि कुडले वीरो।
उत्तर-फग्गुणिरिक्खे चित्तसिया-तेरसीए उप्पण्णो ॥ ५४६—४ ॥

इस प्रकार भगवान के स्वर्ग से अवतार लेने का स्थान कुडपुर अथवा कुण्डलपुर आगम में बताया गया है। देश का नाम विदेह कहा गया है।

कुण्डलपुर जिस विदेह देश का अंग था, उसके विषय में हरिवंशपुराण मे लिखा है :

अथ देशोस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यात स्वर्गखंडसम श्रियः ॥ १—सर्ग २ ॥

जम्बू द्वीप के भारत वर्ष में विस्तार युक्त विदेह नाम का देश है, जो लक्ष्मी से स्वर्ग के खण्ड समान शोभायमान होता था।

+ तया पतंत्या वसुधारयार्थभाक् त्रिकोटिसंख्या-परिमाणया जगत्।
प्रतर्पितं प्रत्यहमर्थि सर्वतः क्व पात्रभेदोस्ति धनप्रवर्षिणाम् ॥ ३ सर्ग ३७, हरिवंशपुराण

विदेह देश का कथन वर्धमान चरित्र में आया है, जहां कुण्डपुर नगर था।

श्रीमानथेह भरते स्वयमस्ति धात्र्या।
पुंजीकृतो निज इवाखिलकांतिसारः ॥
नाम्ना विदेह इति दिग्वलये समस्ते।
ख्यातः परं जनपदः पदमुन्नतानाम् ॥ १—सर्ग १७ ॥

इस भरत क्षेत्र में संपूर्ण दिग्मंडल में प्रसिद्ध, सत्पुरुषों की उत्कृष्ट निवास भूमि विदेह नाम का देश है, जो संपत्ति से परिपूर्ण था तथा जो स्वयं एकत्रीभूत संपूर्ण कांति का उत्कृष्ट समुदाय रूप शोभायमान था। उस विदेह में विश्व विख्यात कुण्डपुर नगर था "ख्यातं पुरं जगति कुंड-पुराभिधानं" (७-७)

उत्तरपुराण में भी कुण्डपुर को विदेह देश स्थित बताया है। कुंडपुर के राजा सिद्धार्थ के राज भवन के प्रांगण में प्रतिदिन साढे तीन कोटि प्रमाण रत्नों की वर्षा होती थी। ग्रंथकार के शब्द हैं : —

तस्मिन् षण्मास - शेषायुष्या-नाकादागमिष्यति।
भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनांगणे ॥ २५१ ॥
राज्ञःकुंडपुरेशस्य वसु-धाराप तत्पृथु ।
सप्तकोटिमणीः सार्द्धाः सिद्धार्थस्य दिनं प्रति ॥ २५२ पर्व ७४ ॥

जब अच्युतेन्द्र की आयु छह महिने शेष रह गई थी और वह स्वर्ग से अवतार लेने के सन्मुख हुआ उस समय इसी भरत क्षेत्र के विदेह नाम के देश में कुंडपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के प्रांगण में प्रति दिन साढे तीन करोड मणियों की वर्षा होने लगी थी।

* वैदिक काल के प्रारंभ में आर्य लोग छोटे २ राज्यों को जानते थे। जिसे अभी बिहार कहते हैं, उसमें कारुप, मगध, अंग, वैशाली

* In the early Vedic period, the Aryans knew only of small states. Several kingdoms like the Karusha, Magadha,

Contd.→

आदि अनेक देश समाविष्ट थे। आर्यों और वैदिक साहित्य का प्रथम प्रवेश विदेह या उत्तर बिहार में हुआ होगा। यह विदेह नाम ब्राह्मण तथा उपनिषद् साहित्य में सर्व प्रथम दृष्टिगोचर होता है। अंग तथा मगध ये नाम प्राचीन वैदिक साहित्य में प्राप्त होते हैं। वर्तमान तिरहुत डिवीजन में विदेह अंतर्भूत है। विदेह की राजधानी मिथिला थी। वह नेपाल की तराई में विद्यमान जनकपुरी मानी जाती है। कुछ समय के अनंतर दक्षिण विदेह ने स्वतंत्र राज्य का स्वरूप प्राप्त कर लिया। उसकी राजधानी वैशाली हो गई, जो मुजफ्फरपुर से तेवीस मील पर स्थित है।" (पृष्ठ ५१)

× शक्ति-संगम-तंत्र नाम की १८ वीं शताब्दी की रचना में शैवों की तीर्थयात्रा के योग्य ६६ देशों के नाम दिए हैं, उनमें लिखा है, "गडक नदी के तट से लेकर चंपारण्य पर्यन्त का स्थान विदेह

Contd ←

Anga, Vaisali existed in this part of the country now known as Bihar Aryans and Vedic literature may have first entered 'Videh' or northern Bihar. This name Videh appears first in the Brahman and Upanisadic literature. The names Anga and Magadha occur, however, in early Vedic litereture.

Videh corresponds mostly with the modern Tirhut division The Capital of Videh was Mithila, usually identified with Janakpuri in the Nepal Tarai In the course of time Southern Videh developed a new kingdom with its capital of Vaisali, about 23 miles from Muzaffarpur. (Bihar through the Ages, Page 51.)

× An early 18th century work entitled Sakti Sangama Tantra which gives an account of some 66 countries (areas) considered holy by Shaivite pilgrims, has given the following brief account of this area. From the bank of Gandak to

अथवा तिरुभुक्ति कहा जाता था। उसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में कोसी, गंडक तथा गंगा ये तीन बड़ी नदियां है तथा हिमालय की तराई उत्तर की ओर है। इस क्षेत्र में मुजफ्फरपुर, दरभंगा, चंपारन, मुंगेर तथा पुरनिया ये वर्तमान जिले शामिल होते हैं। (पृ ५५)

इस विश्रुत विदेह देश के कुण्डपुर मे त्रिशलानन्दन का अवतरण हुआ था। कुछ लोग कुण्डपुर को वैशाली नगरी का एक अंश कहते हैं। वे मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर सब-डिवीजन में स्थित बसाढ को वैशाली मानते हैं और उसके अंतगत वर्तमान वासुकुण्ड को कुण्डग्राम कहते हैं।

दिगम्बर जैन आगम में महावीर का नहीं, उनकी जननी प्रियकारिणी त्रिशला का भी वैशाली से सम्बन्ध पाया जाता है। हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोष मे लिखा है कि :—

> वज्रविदे देशे विशाली नगरी नृपः।
> अस्यां केकोस्य भार्यासीत् यशोमतिरिनप्रभा ॥ १६५ ॥

विशाली नगरी वज्र देश में कही गई है। वहाँ के राजा केक और उनकी रानी यशोमति थी। उनका पुत्र चेटक था। 'अभूत् माधु-कृतानंदश्चेटकाख्यः सुतोऽनयोः'। उनकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। उनकी सुरूप संपन्न सात पुत्रियां हुई।

> भद्रभावा सुभद्रास्य बभूव वनितोत्तमा।
> अस्या दुहितरः सप्त बभूवु रूपराजिताः ॥ १६७ ॥

Continuing—

the forest of Champarania the country was called videh or Tirabhukti." It was bounded on the east, west and south by three big rivers, the Kosi, Gandak and Ganges while the Tarai regions formed its northern boundary. (Bihar through the Ages, P. 55.)

उनमें सबसे बड़ी कन्या प्रियकारिणी थी। शेष के नाम सुप्रभा, प्रभावती, प्रियावती, ज्येष्ठा, चेलना तथा चंदना थे।

तन्मध्ये प्रथमा प्रोक्ता परमा प्रियकारिणी।
द्वितीया सुप्रभाशेया तृतीया च प्रभावती ॥ १६८ ॥
प्रियावती चतुर्थी स्यात् सुज्येष्ठा पंचमी परा।
षष्ठी च चेलना दिव्या सप्तमी चंदना मता ॥ १६६ ॥

वे सातों ही पुत्रियां स्वर्ग लोक से चयकर आई थीं। उनका चरित्र विद्वानों के चित्त को हरण करेगा :—

त्रिदिवादवतीर्णाना सप्तानामपि पुण्यत.।
भविष्यंति चरित्राणि बुधचित्तहराणि वै ॥ १८० ॥ पृ. ८३ ॥

वैशाली का वैभव :—वैशालीपुरी अत्यन्त समृद्ध थी। उसके तीन भाग थे। प्रथम भाग में सात हजार सोने के गुम्बद वाले भवन थे। मध्य में १४ हजार चाँदी के शिखरयुक्त घर थे और अंतिम भाग में २१ हजार ताँबे के गुम्बद वाले भवन थे। (Life of Buddha पृष्ठ ६२)

श्वेताम्बर साहित्य में भगवान को वैशालीय और वैशालिक कहा है (भगवती सूत्र पृ. २३१) ऐसे श्वे० शास्त्रीय उल्लेखों ने अनेक जैनेतर लेखकों तथा विद्वानों को यह कल्पना करने में सहायता दी कि भगवान का जन्म वैशाली में होना चाहिए। इस विषय में शासन का सहयोग मिलने से वैशाली को जन्म स्थान मानने की विशिष्ट परिस्थिति मजबूत बन रही है।

वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड में वैशाली के संस्थापक विशाल नरेश कहे गए हैं, जिसके तृणबिन्दु और अलम्बुषा नाम के पिता तथा माता थे : —

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्रः पुत्रः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ॥
तेन चासीदिहस्थाने विशालेति पुरी कृता ॥ ११, १२–सर्ग ४७ ॥

बिहार शासन के द्वारा प्रकाशित 'वैशाली' अंग्रेजी रचना से ज्ञात होता है कि मार्च १९४५ से प्रति वर्ष वैशाली महोत्सव का मनाना प्रारम्भ हो गया है। उस रचना में महावीर भगवान को वैशाली का नागरिक कहा है।+ इस प्रकार सर्वत्र यह प्रचार हो गया है कि भगवान वैशालेय थे।

भगवान की माता अवश्य विशाला पुरी की पुत्री थीं, किन्तु दिगम्बर आगमानुसार भगवान का जन्म स्थान कुण्डपुर नगर था। यह सुभाषित गंभीर तथा अर्थपूर्ण है : –

उत्तमा आत्मना ख्याताः पितुः ख्याताश्च मध्यमाः।
अधमा मातुलात्ख्याताः श्वशुराच्चाधमाधमाः॥

उत्तम पुरुष अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध होते हैं। मध्यम पुरुष वे हैं, जो अपने पिता के कारण प्रसिद्धि पाते हैं, अधम श्रेणी के व्यक्ति अपने मामा के कारण विख्यात होते हैं। अपने श्वशुर के कारण जो प्रतिष्ठा पाते हैं वे महा अधम श्रेणी के व्यक्ति हैं।

तीर्थंकर श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ पुरुष होते हैं। उनका जन्म स्थान ही पूज्य नहीं होता, वह काल भी मंगलमय माना जाता है, जब उनके पंचकल्याणक हुए हों। उसे काल मंगल माना है। ऐसी स्थिति में महावीर भगवान की कुण्डपुरवासी होने से भी प्रसिद्धि नहीं थी, उनके कारण उस स्थान को गौरव मिला। मान सरोवर के कारण हंस को गौरव नहीं मिलता है, हंस के कारण मानसरोवर सन्मान का पात्र बनता है।× हंस जहां भी रहता है, वही स्थल महत्वपूर्ण बनता है।

+ In March 1945...a cultural festival known as the Vaisali Mahotsava was organised in order to pay homage to the ancient cultural traditions of Vaisali. See Bihar-Vaisali Pages 16–17.

× यत्रापि कुत्रापि भवंति हंसाः, हंसाः मही-मंडलमंडनानि।
हानिस्तु तेषां हि सरोवराणां येषां मरालैः सह विप्रयोगः॥

वंश-परंपरा—भगवान महावीर के पिता महाराज सिद्धार्थ राजा थे तथा भगवान राजपुत्र थे। भगवान का मातृपक्ष भी राजवश था। इस प्रकार जाति तथा कुल की दृष्टि से वे महान थे। भगवान के पितामह का नाम था सर्वार्थ तथा सर्वार्थ महाराज की महारानी का नाम श्रीमती था। हरिवंशपुराण में लिखा है:—

सर्वार्थ-श्रीमती-जन्मा तस्मिन् सर्वार्थदर्शनः ।

सिद्धार्थोऽभवदर्काभः भूप. सिद्धार्थ-पौरुष. ॥ १३-२ ॥

कुण्डपुर के स्वामी राजा सर्वार्थ तथा रानी श्रीमती से उत्पन्न समस्त पदार्थों का दर्शन करने वाला, सूर्य के समान तेजस्वी तथा समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला राजा सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ राजा आदर्श शासक थे। जिनसेन आचार्य कहते हैं।

यत्र पाति धरित्रीय - मभूदेकत्र - दोषिणी।

धर्मार्थिन्योपि यत्यक्त-परलोकभया· प्रजा ॥ १४ - २ ॥

जिस समय सिद्धार्थ नरेश ने पृथ्वी की रक्षा की थी, उस समय प्रजा में कोई दोष नहीं था; हां ! एक दोष अवश्य था, कि प्रजा परलोक से डरती थी अर्थात् वह आगामी जीवन सुधार के विषय में पूर्ण सावधान थी।

महाकवि के ये शब्द यथार्थ और महत्वपूर्ण हैं: —

कस्तस्य तान् गुणानुद्यानरस्तुलयितुं क्षमः।

वर्धमान-गुरुत्व य· प्रापित· स नराधिपः ॥ १५-२ ॥

ऐसी सामर्थ्य किस पुरुष मे है जो राजा सिद्धार्थ के उन्नत गुणों की तुलना कर सके, क्योंकि अपने गुणों को महिमा से राजा सिद्धार्थ त्रिलोकीनाथ वर्धमान महावीर के भी गुरु (पिता) बन गए थे। त्रिशलादेवी के पिता चेटक समृद्ध नरेश थे। + उनके पिता भी नरेश थे।

प्रियकारिणी महारानी त्रिशला के विषय में आचार्य के शब्द मार्मिक तथा यथार्थ में गौरव पूर्ण है :—

+ श्वे॰ ग्रंथ त्रिशला माता को चेटक की बहिन बताते हैं।

कस्तां योजयितुं शक्तस्त्रिशलां गुणवर्णनैः ।
या स्वपुण्यैर्महावीरप्रसवाय नियोजिता ॥ १८ ॥

ऐसी सामर्थ्य किसमें है, जो महारानी प्रियकारिणी – त्रिशला के गुण वर्णन की योजना कर सके, क्योंकि अपने पुण्य के कारण ही वह भगवान महावीर की जननी बनी थी।

जैसे चतुर कृषक उत्तम धान्य की उपलब्धि के लिए बीज-वपन के पूर्व परिश्रम पूर्वक उस भूमि को ठीक करता है, इसी प्रकार जिस महिलारत्न को त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र तीर्थंकर की जननी कहलाने का लोकोत्तर तथा लोकोत्तम सौभाग्य होगा, उस भावि माता के शरीर को स्त्री-पर्यायोचित अशुद्धियों से विमुक्त बनाने के कार्य में कार्यदक्ष देवियां तत्पर हो जाती हैं।

मानसिक स्थिति का गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव पड़ता है, इस सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर अत्यन्त प्रवीण सुरसुन्दरियां उन महिला-रत्न के समीप आकर उनके मन को अधिक आमोद, प्रमोद तथा आल्हाद प्रदान करने के मधुर प्रयत्न में संलग्न हो जाती हैं।

तीर्थंकर का जन्म परिपूर्ण सुविकसित जीवन वाले नर श्रेष्ठ का जन्म धारण करना है। अत अन्तःबाह्य सर्व प्रकार की श्रेष्ठ सामग्री की योजना तीर्थंकर के पुण्य कर्म की प्रेरणा से हुआ करती है।

एक बात और है, जिनेन्द्र की सेवा की पुण्य-गंगा में डुबकी लगाकर अपने भवाताप को दूर करने के लिए कौन बुद्धिमान प्राणी प्रयत्नरत न होगा ?

जननी की देवियों द्वारा सेवा—हरिवंशपुराण में होनहार जननी की देवांगना किस प्रकार सेवा करती हैं, इसका सुन्दर चित्रण इस प्रकार किया गया है :—"श्री, ह्री, धृति, कीर्ति आदि निन्यानवे दिक्कुमारियाँ और विद्युत्कुमारियां भी बड़े आनन्द से छह माह पहिले

ही आ गईं। उन्होंने भविष्यत् तीर्थंकर के माता, पिता को भक्ति पूर्वक नमस्कार किया और हम "इन्द्र की आज्ञा से यहां आई हैं," ऐसा उन्हें अपना परिचय दिया। हर एक देवी 'आप फलें, फूले, जीवें, हमें आज्ञा दीजिए'-नन्द, जीव, आज्ञा देहि इस प्रकार शब्द आदर पूर्वक माता के समीप कहने लगीं। कई एक देवियां माता के रूप, यौवन, लावण्य, सौभाग्य आदि अनेक गुणों का बड़े आश्चर्य पूर्वक कथन करने लगीं :—

रूप यौवन - लावण्य-सौभाग्यादि-गुणार्णवम्।
वर्णयाते तदा काश्चिदाश्चर्यं परमं श्रिताः ॥ ४२-८ ॥

यह कोई माता की अतिशयोक्ति पूर्ण स्तुति नहीं थी, यह वास्तविकता से परिपूर्ण कथन था। देवांगना स्वयं अपने रूपादि से तुलना करती थीं, तो उस समय वे माता का सौन्दर्य तथा लावण्य अपूर्व है, यह स्वयं अनुभव करती थीं। प्रभात में जैसे प्राची दिशा प्रत्येक के प्रेम को प्राप्त करती है और सभी उसी ओर अपनी दृष्टि पुनः पुनः डाला करते हैं, इसके समान ही स्थिति माता के विषय में थी। माता को आनन्दित करने के लिए देवियों ने संगीत का आश्रय लिया। देवांगनाओं का दिव्य वादनयंत्रों के साथ भक्तिपूर्ण गीत कैसा आनन्द बरसाता होगा। आचार्य कहते हैं : -

दर्शयति स्वय काश्चित् तन्त्री-वीणादि-कौशलम्।
गायति मधुरं गेयं काश्चित्कर्ण-रसायनम् ॥ ४४-८ ॥

अनेक कुमारियां माता को तंत्री, वीणा आदि बजाने की कुशलता बताने लगीं, कोई-कोई कर्णों के लिए रसायन रूप अत्यन्त मधुर गीत गाने लगीं।

देवियों का सौभाग्य :—जिनेन्द्र जननी का अवर्णनीय सौभाग्य था। देवियां उनका मनोरंजन करने के साथ उनके शरीर की सेवा में दासी सदृश संलग्न हो गईं। यथार्थ में वह माता का सौभाग्य नहीं था, उन देवियों का ही सौभाग्य समझना चाहिए, जिन्हें त्रिलोकीनाथ

परमेश्वर की माता की परिचर्या करने का श्रेष्ठ योग मिला था, जिसके द्वारा यह जीव शाश्वतिक आनन्द पूर्ण मुक्ति की परिशुद्ध अवस्था का अधिकारी बनता है।

हस्त-संवाहने काश्चित् पादसंवाहने पराः ।
अंग-संवाहने काश्चित् व्यावृत्ता मृदु पाणयः ॥ ४६ ॥
अंगाभ्यंग-विधौ काश्चिद् काश्चिदुद्वर्त्तने पराः।
काश्चिन्मज्जनके काश्चित्स्नान-वस्त्र-निपीलने ॥ ४७ ॥
सद्गन्धानयने काश्चित् तत्समालंभने पराः ।
काश्चिच्चित्रांबराधाने परिधानविधौ पराः ॥ ४८-८ ॥

अपने मृदु हाथों से कोई-कोई कुमारियां हाथ दबाती थीं, पांव दबाती थीं, अन्य अंगों को दबाती थीं। किसी ने माता के शरीर में तेल लगाना प्रारंभ किया, किसी ने उबटन लगाया, किसी ने माता को स्नान कराया, किसी ने माता के वस्त्रों को निचोड़ना प्रारम्भ किया, किसी ने सुवास युक्त गंध लाने को प्रयास किया तथा उसे माता के शरीर में लगाया। कोई-कोई कुमारियाँ अत्यन्त सुन्दर चित्र विचित्र वस्त्र संभालने लगीं, कोई-कोई वस्त्र पहिनने में तत्पर हुई। देवियों को माता की सेवा करते समय कोई छोटा काम है, हमारे अयोग्य है, ऐसा नहीं लगता है। किसी भी रूप में माता की सेवा करके वे अपने को कृतार्थ करने में अपनी बुद्धि, कुशलता तथा शक्ति का उपयोग करती थीं।

काश्चिद्भूषणा-स्रगाधाने काश्चित् काश्चिद्देहप्रसाधने।
दिव्यान्नानयने काश्चित् काश्चिद्भोजन-कर्मणि ॥ ४६ ॥

कोई माता को भूषण पहिनाने लगीं, किसी ने उनको माला पहिनाई, कोई उनके शरीर का शृङ्गार करने लगी। कोई माता के भोजन के लिए दिव्यान्न लाने लगीं, कोई भोजन कराने में लगीं।

शय्यासन-विधौ काश्चित् काश्चित्ताम्बूल-ढौकने ।
काश्चित्तत्पदग्रहेव्यग्राः काश्चिच्च गृहकर्मणि ॥ ५० ॥

कोई देवी माता के लिए शय्या तथा आसन बिछाने में लगी, तो कोई माता के लिए पान देने लगी, कोई व्यग्र चित्त हो माता के महल में इधर-उधर घूमने लगी, जिससे कोई भी कार्य अव्यवस्थित न रहे, कोई घर के अन्य कार्यों में लग गई।

दर्पणग्रहणे काश्चिच्चामरग्रहणे पराः ।
छत्रस्य ग्रहणे काश्चित् व्यजन-ग्रहणे पराः ॥ ५१ ॥

कोई कुमारी दर्पण लेकर खड़ी हो गई, कोई देवी चामर दुराने लगी, किसी ने माता के ऊपर छत्र लगा लिया. कोई बीजना-पंखा लेकर खड़ी हो गई।

आवश्यकता न होते हुए भी श्रेष्ठ राजकीय वैभव के अनुरूप माता की सेवार्थ देवियों ने यह कार्य किया :—

अंगरक्षा परा देव्यः खड्गव्यग्राग्र-पाणयः ।
ग्रह रक्ष-पिशाचेभ्यो रक्षास्यः प्रतिजाग्रति ॥ ५२ ॥
अभ्यन्तर-गृह द्वारे काश्चित् काश्चिद्बहिर्भुः ।
असि चक्र-गदा-शक्ति-हेम-वेत्रकराः स्थिताः ॥ ५३ ॥

कोई कोई देवी हाथ में तलवार लेकर माता की रक्षार्थ तत्पर हो गई और ग्रह, राक्षस, पिशाचों से रक्षार्थ सजग हो गई।

अनेक कुमारियाँ हाथों में तलवार, चक्र, गदा, शक्ति, स्वर्णमयी बेत लेकर भवन के भीतर तथा बाहर खड़ी हो गई।

इस प्रकार दिन-रात देवागनाओं को अपनी सेवा में तत्पर देख माता-पिता को "तीर्थंकरोद्भवः" तीर्थंकर का हमारे यहाँ जन्म होगा, यह पक्का विश्वास हो गया।

वर्धमान चरित्र में यह उपयोगी वर्णन आया है। सौधर्मेन्द्र ने कुण्ड पर्वत पर निवास करने वाली अष्ट दिक्कुमारिकाओं को आदेश दिया कि कुण्डपुर जाकर भावी जिनमाता की उपासना करो। महाकवि के शब्द इस प्रकार हैं :—

इन्द्रस्तदा विकसितावधिचक्षुरष्टौ,
दिक्कन्यका विततकुंडल शैलवासाः।
यूयं जिनस्य जननीं त्रिशलामुपाध्वं,
प्राग्भाविनीमिति यथोचितमादिदेशः ॥ ३१ ॥ सर्ग १७ ॥

चूड़ामणि रत्न से सुशोभित पुष्पनिर्मित मुकुट धारण करने वाली चूलावती देवी, विश्व में अत्यन्त रमणीय मालनिका देवी, अनेक पुष्पों से विनम्र वनमालिका देवी, सदा रमणीय नवमालिका, अत्यन्त सुन्दर त्रिशिरा नाम की देवी, कल्पवृक्ष के पुष्पों से अलंकृत तथा पुष्पसमान मधुर, हास्य और सौन्दर्ययुक्त पुष्पचूलादेवी, विचित्र बाहुभूषण समलंकृत कनकचित्रा, सुवर्ण से भी अधिक दीप्तियुक्त कनकादेवी और अत्यंत मनोरम वारुणी देवी, रूप आठ दिक्कुमारिकाएँ माता को प्रणाम करती हुई उनके समीप जब पहुँची तब ऐसा प्रतीत होता था मानो चन्द्रलेखा के समीप तारों का समुदाय ही एकत्रित हो गया हो।

स्वप्न दर्शन—महारानी प्रियकारिणी, धवल वर्णयुक्त राज प्रासाद में मृदु शय्या पर रात्रि के समय सुखपूर्ण निद्रा का अनुभव कर रहीं थी। उस सात मंजिले वाले राजभवन का नाम 'नन्द्यावर्त' था। माता रत्नों के पलंग पर सो रही थीं। राजभवन रत्नदीपकों से प्रकाशमान हो रहा था। रात्रि के रौद्र, राक्षस और गांधर्व नाम के तीन पहर दीर्घ निद्रा में व्यतीत हो गए। जब मनोहर नामका चतुर्थ पहर आया, तब प्रियकारिणी देवी ने मन्द निद्रित अवस्था में विशिष्ट फलों की सूचना देने वाले सोलह स्वप्न देखे। वह मङ्गल वेला आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की थी। तब उत्तराषाढ़ नक्षत्र विद्यमान था।+

+ आसाढस्य सिते पक्षे षष्ठ्यां शशिनि चोत्तरा—
षाढ़े सप्ततलप्रासादस्याभ्यंतरवर्तिनि ॥ २५३—७४ ॥
नंद्यावर्तगृहे रत्नदीपिकाभिः प्रकाशिते।
रत्नपर्यंकके हंसतूलिकादिविभूषिते ॥ २५४ ॥

क्रमशः—

सामान्यतया मनुष्य स्वप्नों को कोई महत्व नहीं देता, किन्तु सभी स्वप्न एकसे नहीं होते। द्वादशांग वाणी में अष्टांग निमित्त ज्ञान में स्वप्न सम्बन्धी सूक्ष्म-विवेचन किया गया है। आज भौतिकविद्या सम्बन्धी आश्चर्यप्रद सामग्री जगत के समक्ष प्रस्तुत हो रही है इससे भ्रान्त मस्तिष्क आध्यात्मिक विषयों की अमूल्य वाणी का मूल्य ठीक रूप में नहीं आंकता।

भगवान जिनसेन स्वामी ने महापुराण में स्वप्न के सम्बन्ध मे लिखा है :—

ते च स्वप्ना द्विधाऽऽम्नाता स्वस्थास्वस्थात्मगोचरा ।
समैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितरे मताः ॥ ५९—पर्व ४१ ॥
तथ्या स्यु स्वस्थ सन्दृष्टा मिथ्यास्वप्ना विपर्ययात् ।
जगत्प्रतीतमेतद्धि विद्धि स्वप्नविमर्शनम् ॥ ६० ॥

स्वप्न दो प्रकार के माने गए हैं। एक अपनी स्वस्थ अवस्था मे दिखने वाले और दूसरे अस्वस्थ अवस्था मे दिखने वाले। जो धातुओं की समानता रहते हुए दिखते हैं वे स्वस्थ अवस्था के कहलाते हैं और जो धातुओं की विषमता-न्यूनाधिकता रहते हुए दिखते हैं वे अस्वस्थ अवस्था के कहलाते हैं।

स्वस्थ अवस्था में दिखने वाले स्वप्न सत्य होते हैं और अस्वस्थ अवस्था में दिखने वाले असत्य हुआ करते हैं। इस प्रकार स्वप्नों के फल का विचार करने में यह जगत प्रसिद्ध बात है।

गत पृष्ठ का→

रौद्राद्यसगांधार्वयामत्रितयनिर्गमे ।
मनोहराख्यतुर्यस्य यामस्यांते प्रमन्नधी ॥ २५५ ॥
दर्शनिद्रा व्यलोकिष्ट विशिष्ट फलदायिनः ।
स्वप्नान् षोडश विच्छिन्नान् प्रियास्य प्रियकारिणी ॥ २५६ ॥

(उत्तरपुराणपर्व ७४)

महापुराणकार स्वप्न के दोषज और दैवसम्भव-ये दो भेद करते हुए वातपित्तादि के प्रकोप से उत्पन्न स्वप्नों को मिथ्या कहते हैं। दैव से उत्पन्न होने वाले स्वप्न मिथ्या नहीं होते—

स्वप्नानां द्वैतमस्त्यन्यद्दोषदैवसमुद्भवम् ।
दोष प्रकोपजा मिथ्या तथ्याः स्युर्दैवसम्भवाः ॥ ६१ ॥—पर्व ४१

जिनेन्द्र जननी के स्वप्न अर्थपूर्ण थे। तीर्थंकर भगवान की पुण्यशीला जननी के समान सोलह स्वप्न किसी भी महापुरुष की माता ने देखे हों, ऐसा विभिन्न सम्प्रदायों के शास्त्रों में वर्णन नहीं मिलता है।

सोलह कारण भावना के प्रसाद से तीर्थंकर-प्रकृति रूप श्रेष्ठ-पुण्य सम्पत्ति का संचय करने वाली आत्मा के द्वारा अपने आगमन की की सूचना देने वाले स्वप्नों की षोडशविधता सम्यक् प्रतीत होती है।

प्रथम स्वप्न में चन्द्रमा के समान धवलवर्ण वाला एक तेजस्वी गजराज दिखाई पड़ा, जो अत्यन्त उन्नत था और मदरूपी झरनों से शोभायमान था।

दूसरे स्वप्न में नेत्रों को प्यारा, अपने खुरों से पृथ्वी को खोदता हुआ तथा मेघ के समान गर्जना करता हुआ बैल दिखाई पड़ा।

तीसरे स्वप्न में शरदकाल के मेघ के समान शुभ्र वर्ण वाला, अत्यन्त तेजस्वी सिंह देखा।

चौथे स्वप्न में कमल पर विराजमान तथा हाथ में सुन्दर सरोज धारण किए हुए लक्ष्मी देखी, जिसका शुभ्र हाथियों द्वारा सुगन्धित जल से परिपूर्ण कलशों से अभिषेक हो रहा था।

पाँचवे स्वप्न में भ्रमरों से शोभायमान तथा अतिशय लंबायमान, सुवास सम्पन्न दो मालाएँ दिखीं।

छटवें स्वप्न में अन्धकार को नष्ट करने वाला अत्यन्त रमणीय चन्द्रमा निर्मल नभोमण्डल में दिखाई पड़ा।

सातवें स्वप्न में देदीप्यमान प्रभातकालीन सिन्दूर सदृश वर्ण वाला सूर्य दिखाई दिया।

हरिवंशपुराणकार कहते हैं कि वह सूर्य नेत्रों को प्यारा था और पूर्वदिशा रूपी स्त्री के पुत्र समान जान पड़ता था—

'पुरंदराशासु पुरंध्रिनंदनं चिरं धृतं दृष्टिसुख ददर्श सा।'

आठवें स्वप्न मे बिजली के समान चंचल, परस्पर में स्नेह करने वाले, द्वेष रहित, मीन युगल के दर्शन हुए।

नवमें स्वप्न मे प्रियकारिणी देवी ने सुवर्णमयी कलश युगल देखे, जो सुगन्धित जलसे परिपूर्ण थे तथा चारों ओर कमलों से शोभायमान होते थे।

दसवें स्वप्न में एक निर्मल, माता के अन्तःकरण के समान स्वच्छ, विशाल सरोवर दिखा, जो जल से परिपूर्ण था, कमलों से अलंकृत था और राजहंस आदि सुन्दर पक्षियो से मनोहर दिखता था।

ग्यारहवें स्वप्न में भयंकर मगरमच्छ आदि स्वच्छन्द क्रीड़ा करने वाले जन्तुओं से परिपूर्ण विशाल समुद्र देखा, जो शुभ्रफेन राशि तथा उन्नत लहरों से अलंकृत था।

बारहवें स्वप्न में लक्ष्मी का सिंहासन देखा, जो तेजस्वी सिंहों से अलंकृत था।

तेरहवें स्वप्न में आकाश में गमन करता हुआ सुन्दर विमान दिखा, जो मुक्ता मालाओं से देदीप्यमान था।

चौदहवें स्वप्न में नागेन्द्रभवन देखा, जो मणियों से देदीप्यमान था।

पन्द्रहवें स्वप्न में देदीप्यमान रत्नों की राशि देखी, जो रङ्ग-बिरङ्गी कान्ति से इन्द्रधनुष तुल्य लगती थी।

अन्तिम सोलहवें स्वप्न में त्रिशला देवी ने शुभ्र कान्ति युक्त देदीप्यमान धूम रहित अग्नि देखी।

इस प्रकार स्वप्न दर्शन के पश्चात एक धवल वर्ण के हाथी ने माता के मुख में प्रवेश किया। उसी समय देवों के आसन कम्पायमान हो गए।

इसके अनन्तर महारानी प्रियकारिणी वाद्य-ध्वनि सुनकर जाग पड़ीं। उस समय बन्दीजनों ने मङ्गलगीत आरम्भ किए जिसमें प्रभात-कालीन प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए माता को शीघ्र ही शय्या छोड़ने के लिए निवेदन किया गया था।

माता से निवेदन किया गया कि अब प्रभात के समय फूले हुए कमलनियों के वन से कमलों की सुगन्ध ग्रहण करता हुआ यह शीतल पवन सब ओर प्रवाहित हो रहा है, सूर्य का उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो गया। चकवा-चकवियों का क्लेष दूर हो गया। कमलिनी विकसित हो गईं और सारा जगत् प्रकाशमान हो गया। हे देवी! तुम्हारे जागने का समय हो गया है।

महापुराण में यह मनोहर पद्य आया है :—

सुप्रातमस्तु ते नित्यं कल्याण शतभाग्भव।
प्राचीवार्के प्रसोषीष्ठा पुत्रं त्रैलोक्यदीपकं॥ १४२—पर्व १२॥

तेरा प्रभात सदा मङ्गलमय हो, तू सैकड़ों कल्याणों को प्राप्त हो और जिस प्रकार पूर्व दिशा सूर्य को उत्पन्न करती है उसी प्रकार तू भी तीन लोक को प्रकाशित करने वाले पुत्र को उत्पन्न कर।

माता ने मङ्गलमय स्नान करके वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो महाराज सिद्धार्थ के दर्शन किए। सुखपूर्वक बैठकर प्रियकारिणी देवी ने स्वप्नों का सर्व वृतान्त पतिदेव को सुनाया तथा कहा :—

वदैतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्धते।
अपूर्वदर्शनात कस्य न स्यात्कौतुकवन्मनः॥

हे नाथ! इन स्वप्नों का फल कहिए। उसे सुनने की मेरी इच्छा बढ़ रही है। सो ठीक ही है, अपूर्व वस्तु के दर्शन से किसका मन कौतुक युक्त नहीं होता?

स्वप्न फल—महाराज सिद्धार्थ ने कहा, "गजराज का दर्शन सूचित करता करता है कि त्रिलोकाधिपति पुत्र उत्पन्न होगा। बैल का दर्शन बताता है कि वह धर्म का कर्ता होगा। सिंह से सिंह समान पराक्रमी, लक्ष्मी के अभिषेक से मेरू पर्वत पर अभिषेक वाला होगा। मालायुगल से यश का राशिपना सूचित होता है। चन्द्र से मोहान्धकार का विनासक होगा, यह व्यक्त होगा। सूर्य दर्शन से भव्य रूपी कमलों का विकासक, मत्स्ययुगल से अनन्त सुख का भोक्ता, कलशयुगल से १००८ लक्षण धारी, सरोवर दर्शन से जनता की तृष्णा का निवारण करने वाला, समुद्र से सर्वज्ञता, सिंहासन से उत्कृष्ट पद मोक्ष की प्राप्ति सूचित होती है। देव विमान दर्शन से स्वर्ग से चयकरके आने वाला, नाग विमान से धर्मतीर्थ का कर्ता, रत्नराशि से अनन्तगुणों का भण्डार तथा अग्नि दर्शन से कर्मों का नाशक होगा, यह सूचित होता है।

इस सम्बन्ध में हरिवंशपुराण में इस प्रकार कथन आया है। भगवान के पिता अपनी महारानी से कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति को यह प्रतिदिन होनेवाली धनवर्षा कह रही हो और जिसके प्रभाव से ये दिक्कुमारियाँ तुम्हारी रातदिन सेवा करती रहती है उसी तीर्थंकर ने तुम्हारे उदर को सुशोभित किया है। स्वप्न में गज के दर्शन से सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र समस्त पृथ्वी का एक स्वामी तथा अनेक जीवों का रक्षक होगा। बैल के दर्शन से वह निर्मल ज्ञान का धारक, तीनों लोक और अपने वंश को शोभित करने वाला, अनेक उत्तमोत्तम गुणों से तीनों जगत् का गुरु, विशाल नेत्र तथा स्कन्ध का धारक होगा। सिंह-दर्शन का फल इस प्रकार होगा :—

महावलेपा नखिला-ननेकपान् करिष्यते सिंहवदुज्झितोन्मदान्।
अनंतवीर्यः स हि सिंहदर्शनात् महैकधीरोत - तपोवनेश्वरः ॥२६ सर्ग ३७॥

सिंह दर्शन से वह मदोन्मत्त मिथ्यादृष्टि रूपी गजों को सिंह के समान निर्मद करेगा। वह अनन्त शक्ति का धारक, अद्वितीय, धीर, वीर तथा तपोवन का ईश्वर बनेगा।

लक्ष्मी के अभिषेक का फल यह है कि जन्मकाल में ही अनेक देव और इंद्र मिलकर उसे मेरु पर्वत पर ले जावेंगे और क्षीर समुद्र के जल से उसका अभिषेक करेंगे। सुगंधित मालाओं के दर्शन से सूचित होता है कि उसका निर्मल यश समस्त जगत् में फैलेगा और वह अपने दिव्य ज्ञान से लोकालोक के स्वरूप का ज्ञाता होगा।

चन्द्र दर्शन का फल इस प्रकार कहा गया है :—

स चन्द्रस दर्शनतः सुदर्शने महोदया चन्द्रिकया सुदर्शनः।
जिनेन्द्रचंद्रो जगतां तमोंतकृत निरतराल्हादकरो भविष्यति ॥ ३२ ॥

चन्द्रिका से मंडित चन्द्र दर्शन का फल यह है कि वह जिनेन्द्र चन्द्र समस्त जगत् के अज्ञान को दूर करेगा तथा सदा सबको आल्हाद प्रदाता होगा।

समस्ततेजस्विजनस्य भूयसा ·निजेन तेजांसि विजित्य तेजसा।
जगंति तेजोनिधिरर्कदर्शनात्करिष्यति ध्वस्ततमांसि ते सुतः ॥ ३३ ॥

सूर्य दर्शन से सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र अपने तेज द्वारा समस्त तेजस्वियों के तेज को जीतेगा और जगत् में समस्त अंधकार को हटाकर उसे उद्बुद्ध करेगा।

हे देवी ! क्रीड़ा करती हुई मछलियाँ सूचित करती हैं कि तुम्हारा पुत्र पहले इन्द्रिय जन्य आनन्द का अनुभव करता हुआ अंत में अनंत, अचिंत्य तथा अव्याबाध सुख का उपभोग करेगा।

जल से परिपूर्ण सुवर्ण कलशों से प्रतीत होता है कि तुम्हारा पुत्र समस्त जगत के मनोरथों को पूर्ण करेगा और उसके प्रभाव से राज-मन्दिर निधियों से परिपूर्ण होगा।

कमलों से परिपूर्ण सरोवर से सूचित होता है कि वह उत्तमोत्तम लक्षणों का भण्डार होगा और धन आदि की तृष्णा से त्रस्त मनुष्यों की तृष्णा शांत कर उन्हें परमधाम मोक्ष में पहुँचाएगा।

समुद्र दर्शन सूचित करता है कि पुत्र की बुद्धि समुद्र के समान गंभीर होगी तथा वह अनेक नीति रूपी नदियों से परिपूर्ण शास्त्र का समुद्र होगा तथा उत्तम मार्ग का उपदेश दे जीवों को ससार सागर से पार करेगा—

'श्रुताम्बुधि नीति महासरिद्धिन स पारयिष्यत्युपदेशकृज्जनान् ।'

रत्नमयी सिंहासनदर्शन का फल इस प्रकार है :—

सुरत्नसिहासनदर्शनेन स स्फुरन्मणिद्योतिकिरीटपाणिभि ।
परीतभारोद्यनि देवदानवैः परार्ध्य सिहासनमूर्ध्नशासन ॥ ३८ ॥

उत्कृष्ट रत्नमयी सिहासन के दर्शन का यह फल है कि तुम्हारा पुत्र समस्त जगत पर आज्ञा चलाएगा और हाथ जोड़ने वाले अनेक देवो से मंडित सिहासन पर विराजमान होगा।

विमान दर्शन का फल क्या होगा ? इस पर हरिवंशपुराणकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

विमाननाथोऽमरनाथकोटिभि प्रपूजितांघ्र सुविमानदर्शनात् ।
विमानसाधिः महतो महोदयो विमानमुख्यादवतीर्णवानिह ॥ ३९ ॥

सुन्दर विमान दर्शन से सूचित होता है कि तुम्हारा पुत्र भी वि-मान-नाथ अथात निरहकारी मनुष्यों का स्वामी होगा। अनेक इन्द्र उसके चरणों की पूजा करेंगे, वह 'वि-मानसाधिः'—मानसिक आदि व्याधि से विमुक्त होगा, अत्यन्त भाग्यशालो होगा और स्वर्ग के मुख्य विमान से अवतीर्ण होगा।

नागेन्द्र भवन दर्शन क्या सूचित करता है ?

भवंत्तुभेत्ता भवपजरस्य संफणीन्द्रनिर्यद्भवनावलोकनात् ।
सुतोऽन्वितश्चापिमतिश्रुतावधिप्रधाननेत्रत्रियेन जायते ॥ ४० ॥

पृथ्वी को भेदकर निकला हुआ नागेन्द्र भवन सूचित करता है कि तुम्हारा पुत्र इस संसार रूपी पिजरे को खण्ड खण्ड करेगा और वह मति, श्रुत तथा अवधिज्ञान रूप त्रिविध ज्ञान नेत्रों को प्राप्त करेगा।

अनेक प्रकार के रत्नों की राशि के दर्शन से सूचित होता है कि वह नाना गुण रूपी रत्नों की राशि होगा तथा 'शरणाश्रिताश्रयं'– शरणागत जीवों को आश्रय प्रदान करेगा।

धूम रहित अग्नि से सूचित होता है कि वह ध्यान रूपी महान अग्नि युक्त होता हुआ समस्त कर्म रूपी ईंधन को भस्म करेगा—

ध्यान-महाहुताशनः स कर्मकक्षं सकलं प्रधक्ष्यति ॥ ४२ ॥

महारानी से भगवान के पिता ने कहा —

जनिष्यमाणेन जिनेन्द्रभानुना प्रतीहि तेनात्र पवित्रकर्मणा।
स्ववंशमात्मानमिमं च मां जगत्पवित्रितं भूषितमुद्धतं तथा ॥ ४५ ॥

हे देवी ! तुम निश्चय समझो कि परम पवित्र जिनेन्द्र रूपी सूर्य अपनी उत्पत्ति से अपने वंश को, तुम को, मुझको तथा समस्त जगत को शीघ्र ही पवित्र बनाएगा।

इस वर्णन को सुनकर माता प्रियकारिणी का सारा शरीर हर्ष से रोमांचित हो गया।

नगर प्रदक्षिणा—इसके पश्चात् समस्त इन्द्र अपने-अपने यहाँ होने वाले चिन्हों से भगवान के गर्भावतरण की वार्ता ज्ञात कर कुण्डपुर आए।

सभी ने नगर की प्रदक्षिणा करके भगवान के माता-पिता-महाराज सिद्धार्थ और त्रिशलादेवी को प्रणाम किया।

सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने देवों के साथ संगीत प्रारंभ किया। उस समय गीत हो रहे थे। कहीं मनोहर वाद्य बज रहे थे, कहीं सुमधुर नृत्य हो रहा था। महाराज सिद्धार्थ के राज भवन का प्रांगण स्वर्ग-लोक से आए हुए देवों से खचाखच भर गया था। हरिवंशपुराणकार ने लिखा है—

जिनेन्द्रपितरौ ततो धनपतिः सुरेन्द्राज्ञया,
स्वभक्तिभरतोऽपि च स्वयमुदेत्य तीर्थोदकैः।

शुभैः समभिषिच्यतौ सुरभिपारिजातोद्भवैः,
सुगंधवरभूषणैर्भुवनदुर्लभैः प्रार्चयत् ॥ १-३८ ॥

इन्द्र की आज्ञा तथा अपनी भक्ति से कुबेर ने जिनेन्द्र भगवान के माता-पिता को प्रणाम करके अनेक पवित्र तीर्थ जलों से उनका अभिषेक किया। अतिशय सुगंधित, जगत के लिए अत्यन्त दुर्लभ पारिजात वृक्ष से उत्पन्न पुष्पों से तथा श्रेष्ठ भूषणों से उनकी पूजा की।

अब भगवान माता के गर्भ में आ गए। उस समय माता प्राची दिशा के समान लगती थीं, जिनके गर्भ में जिनेन्द्र भगवान रूपी सूर्य छिपा है। विश्व की श्रेष्ठ विभूति अब कुण्डपुर में आ गई। भगवान की जननी त्रिशला देवी के शरीर का सौन्दर्य अनुपम हो गया। वाणी अमृत तुल्य मधुर हो गई। मन पवित्रता तथा निर्मलता का केन्द्र बन गया था। भगवान नेमिनाथ तीर्थंकर जब माता शिवा देवी के गर्भ में आए थे, तब माता की मनोवृत्ति अत्यन्त विशुद्ध हो गई थी, ऐसा हरिवंश पुराण में कहा है। इसी प्रकार की मानसिक उच्चता प्रत्येक जिनेन्द्र जननी को प्राप्त होती है। माता त्रिशला की भी ऐसी ही स्थिति थी। हरिवंश पुराण में लिखा है :—

मनो भुवनरक्षणे सकलतत्व-संवीक्षणे ।
वचोपि हितभाषणे निखिल-संशयोन्वेषणे ।
वपुर्व्रत विभूषणे विनयपोषणे चोचितम् ।
बभूव जिन-वैभवादतितरां शिवायास्तदा ॥ ५ ॥

उस समय भगवान जिनेन्द्र के प्रभाव से माता शिवा देवी का चित्त जीवों की रक्षा और तत्वों के विचार में लीन हो गया। वचन हितकारी, उपदेश देने वाले और संशय को निवारण करने वाले हो गए। शरीर व्रतों के आचरण और विनयपूर्वक दूसरों के पोषण करने में प्रवृत्त हो गया।

महामृत-रसाशनैः सुरवधूभिरापादितैः—
रनंतगुण कांति-वीर्यकरणैः समास्वादितैः ।

जिनेन्द्र-जननी-तनुस्तनुरपि प्रभाभिर्दिशो,
दशापि कनकप्रभा विदधतीव विद्युद्भ्रमौ ॥ ६ ॥ सर्ग ३८ ॥

माता देवांगनाओं से संपादित अनंतगुणी कांति और शक्ति को वृद्धिगत करने वाला अमृतमयी आहार करती थी इसलिए सुवर्णमयी प्रभा को धारण करने वाला माता का कृश शरीर भी समस्त दिशाओं को दैदीप्यमान करने से विद्युत सदृश जान पड़ता था।

यहाँ यह बात ध्यान देने की है, कि शारीरिक नियम के अनुसार जननी के द्वारा सेवित आहार शरीरस्थ शिशु के लिए पोषक होता है। संपूर्ण सुरेन्द्र मण्डल की दृष्टि गर्भस्थ भगवान पर थी। उस समय जिनेन्द्र की माता की श्रेष्ठ सेवा द्वारा ही प्रभु की सेवा हो सकती थी, इस दृष्टि से भी माता की विशेष रूप से परिचर्यादि में देवगण संलग्न थे। माता के प्रति श्रद्धा, भक्ति तथा ममत्व भाव प्रत्येक सहृदय के मन में सहज ही उत्पन्न होता था। जिस जननी के उदर से तीर्थंकर सदृश श्रेष्ठ पुत्र रत्न का जन्म हो, वह किसके द्वारा वन्दनीय नहीं होगी।

देवियां माता की दासियों के समान सेवार्थ तत्पर रहती थीं। श्री देवी ने माता में लक्ष्मी-शोभा नामक गुण का संचार किया था। ह्री ने ह्री अर्थात् लज्जा, धृति ने धैर्य, कीर्ति ने स्तुति, बुद्धि ने बोध तथा लक्ष्मी ने विभूति बढ़ा दी थी। + उनके निमित्त से जिनेन्द्र जननी अग्नि के द्वारा सुसंस्कृत किए गए मणि तुल्य शोभायमान होती थीं।

माता की परिचर्या करते समय देवियों ने सर्व प्रथम स्वर्ग से लाए गए पदार्थों के द्वारा माता का गर्भ शोधन किया था। माता का शरीर शुद्ध स्फटिक मणि निर्मित सा प्रतीत होता था—"सा शुचि-

---

+ श्री-ह्रीं-धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धि-लक्ष्म्यौ च देवताः।
श्रियं लज्जां च धैर्यंच स्तुति-बोधं च वैभवम् ॥१६४–१२॥ महापुराण॥

स्फटिकेनेव घटितांगी तदा बभौ।" देवियां विविध प्रकार से माता की सेवा करती थीं। महापुराणकार लिखते हैं :—

कितनी ही देवियां रात्रि के प्रारंभकाल में राजभवन के अग्र भाग पर अतिशय दीप्तिमान मणियों के दीपक रखती थीं। उनसे अंधकार नष्ट होता था।

> काश्चित्रीराजयामासुः उचितै र्बलिकर्मभिः ।
> न्यास्थन्मंत्राक्षरैः काश्चिद् अस्यै रक्षामुपाक्षिपन् ॥ १८५ ॥

कोई २ देवियां सायंकाल के समय योग्य वस्तुओं के द्वारा माता की आरती उतारती थीं। कितनी ही देवियां दृष्टि-दोष दूर करने के लिए उतारना उतारतीं थीं। कितनी ही देवियां मंत्राक्षरों के द्वारा उसका रक्षाबंधन करती थी।

देवियों का निरन्तर उद्योग यही रहता था, कि जिनेन्द्र जननी सर्वदा प्रसन्नता को प्राप्त हों और उनको शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार की व्यथा न हो।

अब तो माता के गर्भ में साक्षात त्रिलोकीनाथ विराजमान हैं, जिनके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान पाया जाता है। ऐसी स्थिति में माता के पास अशुभ कर्म आने से डरता था। वहां तो प्रशस्त पुण्य का समुद्र हिलोरें ले रहा था।

वे देवांगनाएं कभी जल क्रीडा से, कभी वन क्रीडा से, कभी कथा गोष्ठियों से, कभी संगीत गोष्ठी से, कभी वादित्र गोष्ठी से, कभी नृत्य गोष्ठी से माता को प्रसन्न करती थी। देवियों की सेवा द्वारा माता ऐसी शोभायमान होती थी, मानो किसी प्रकार एकरूपता को प्राप्त हुई तीनों लोकों की लक्ष्मी ही हो।

दिव्य समृद्धि का अधिपति कुबेर किस रूप में सेवा करता था, इस विषय में वर्धमान चरित्र का यह कथन ध्यान देने योग्य है।

तस्यास्त्रिसंध्यमकृतैत्य मनुष्य धर्मा ।
सेवां स्वयं पटलिका निहितानि बिभ्रत् ॥
क्षौमां - गराग-सुमनो-मणि-भूषणानि ।
प्रख्यापयन्निव जिने निहितां ॥

जिनेन्द्र भगवान के प्रति अपनी भक्ति प्रगट करने हुए ही कुबेर प्रभात, मध्याह्न तथा संध्या के समय पिटारी में बारीक सुन्दर वस्त्र, शरीर का उबटन, पुष्पमाला तथा मणिमय आभूषण आदि रखकर माता के समीप आता था। इस प्रकार वह माता की स्वयं सेवा करता था। यह जिनेन्द्र-जननी की सेवा जिनेन्द्र की भक्ति को सूचित करती थी।

धीरे धीरे आठ माह व्यतीत हो गए। महापुराण में लिखा है कि नवमाँ माह निकट आने पर वे देवियाँ माता से गंभीर प्रश्न करती थीं, जिनमें कि गूढ़ अर्थ छिपा रहता था। वास्तव में गर्भस्थ जिनेन्द्र के प्रभाव से माता ऐसे सूक्ष्म और गंभीर विविध प्रकार के प्रश्नों का सुन्दर समाधानकारी उत्तर देती थीं, जिससे देवांगनाएं महान आनंदित होती थीं। भगवान की सेवा में स्वयं इन्द्राणी भी गुप्त रूप से उपस्थित हुआ करती थी। जिनसेन स्वामी लिखते हैं—

निगूढ़ं च शची देवीसिषेवेकिलसाप्सराः ।
मघोना-घविघाताय प्रहिता ताम् महासतीम् ॥ २६६–१२ ॥

अपने समस्त पापों के विनाश हेतु इन्द्र के द्वारा भेजी गई इन्द्राणी भी अप्सराओं के साथ गुप्त रूप से महासती माता की सेवा करती थी।

माता के गर्भ में स्थित तीन प्रकार के ज्ञानों से विशुद्ध अन्तः करण वाले जिनेन्द्र देव इस प्रकार मनोहर लगते थे जैसे स्फटिक के भवन के मध्य में स्थित निश्चल दीपक शोभायमान होता है। महाकवि के शब्द इस प्रकार हैं :—

सोऽमाद्विशुद्धगर्भस्थः त्रिबोधविमलाशयः ।
स्फटिकागारमध्यस्थः प्रदीप इव निश्चलः ॥ २६४-१२ ॥

भगवान के पिता का हृदय उस क्षण के लिए अत्यंत उत्कण्ठित था कि कब महारानी प्रियकारिणी की कुक्षि से प्रसूत त्रिलोक में अद्वितीय तीर्थंकर स्वरूप पुत्र रत्न का अपने नेत्रों द्वारा दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ करूं। कुण्डलपुर की जनता भी उस बेला की प्रतीक्षा करती थी जब दया के देवता, पवित्रता की साकार मूर्ति, अप्रतिम पुण्य की विभूति से समलंकृत बाल जिनेन्द्र का मांगलिक जन्मोत्सव होगा।

धीरे धीरे वह चिरस्मरणीय पवित्र दिवस आ गया जिसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के नाम से भव्य जीव कालमंगल मानकर अत्यन्त आदर भाव से स्मरण करते हैं।

———

जिनेन्द्र जन्मोत्सव

विश्व में अनन्त प्राणी सदा जन्म-मृत्यु की गोद में झूला करते हैं। अतः किसी का जन्म लेना और मरण करना प्राकृतिक नियमानुसार कोई विशेष महत्व की बात नहीं है। किन्तु तीर्थंकर भगवान का जन्म अपूर्वता सम्पन्न होता है। सारा संसार उनके जन्म की वेला में आनन्द का अनुभव करता है। माता प्रियकारिणी के उदर से चैत्र शुक्ल त्रयोदशी की रात्रि को भगवान का जन्म हुआ।

वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

दृष्टे ग्रहैरथ निजोच्चगतैः समभैर्लग्ने यथा पतितकालमसूत राज्ञी।
चैत्रे जिनं सिततृतीयजया निशान्ते सोमान्हि चंद्रमसि चोत्तरफाल्गुनस्थे ॥५८॥

जब सर्व ग्रह अपने उच्च स्थान पर थे और लग्न पर दृष्टि युक्त थे ऐसे योग्य समय पर चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को सोमवार के रात्रि के अन्तिम भाग में चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र पर आया था, तब माता ने जिनेश्वर को जन्म दिया था। भगवान की माता प्राची दिशा सदृश लगती थीं, क्योंकि जिनेन्द्र-सूर्य को उन्होंने जन्म दिया था। लौकिक सूर्य को जन्म देनेवाली प्राची दिशा को पूर्व दिशा कहते हैं, किन्तु माता प्रियकारिणी रूप प्राची को पूर्व के स्थान पर "अपूर्व" मानना होगा।

भगवान का जन्म होते समय देवांगनाएँ अपूर्व हर्ष और उत्साहपूर्वक माता की सेवा में अत्यन्त सावधानी तथा श्रद्धापूर्वक तत्पर थीं। जिस समय जिन सूर्य का उदय हुआ, उस समय उस सूर्य के दर्शन द्वारा अपनी पर्याय को कृतार्थ करने का सर्व प्रथम सौभाग्य उस समय समीपवर्ती सेवा में संलग्न सुरांगना समुदाय को प्राप्त हुआ था।

उस मङ्गलोत्तम वेला में निर्मल हार और मणिमयी कुंडलों से भूषित विजया, वैजयन्ती, अपराजिता, जयन्ती, नन्दा, अनन्दा, नंदिवर्धना, नंदोत्तरा नामकी देवियों ने हाथों में मङ्गल कलशों को धारण किया था। यशोधरा, सुप्रबुद्धा, सुकीर्ति, स्वास्तिका, लक्ष्मीमती, सुप्रणधि, चित्रा, वसुन्धरा देवियां मणिमयी दर्पण लेकर खड़ी थीं। इला, नवमिका, सुरा, सीता, पद्मावती, पृथिवी, काचना तथा चन्द्रिका देवियां माता प्रियकारिणी के सिर पर छत्र लगाए थीं। श्री, धृति, आशा, वारुणी, पुंडरीकिणी, अलंबुसा, मित्रकेशी और ह्री देवियां माता पर चमर ढुरा रही थीं। कनकचित्रा, चित्रा, त्रिशिरा, सूत्रामणि नामकी विद्युद् देवियां अनेक प्रकार के उपकरण लिए खड़ी थीं। समस्त विद्युत् कुमारियो मे प्रधान रुचकामा, रुचक प्रभा, रुचका, रुचिकोज्ज्वला तथा दिक्कुमारियों मे प्रधान विजया, वैजयन्ती, जयन्ती और अपराजिता देवियां विधिपूर्वक भगवान का जातकर्म कर रहीं थी।

तिलोयपण्णत्ति मे लिखा है :—

> सोदामिणि त्ति कणया सदपददेवी य कणय चेत्तत्ति ।
> उज्जोवकारिणीओ दिसासु जिण-जम्म-कल्लाणे ॥ ५—१६२ ॥

सौदामिनी, कनका, शतह्रदा और कनकचित्रा ये चार देवियां जिन-जन्म कल्याणक में दिशाओं को निर्मल करती हैं।

ये जिनेन्द्रभक्त देवियां रुचकवर नामके त्रयोदशम द्वीप में स्थित सुवर्णमय रुचकवर पर्वत से चलकर कुंडपुर आईं थीं।

तिलोय पण्णत्ति मे उत्कृष्ट भक्ति सहित जात कर्म करने वाली देवियों का नाम इस प्रकार कहा गया है :—रुचका, विजया, रुचकामा, वैजयन्ती, रुचक कांता, जन्ती, रुचकोत्तमा और अपराजिता ये दिक्कन्याओं की महत्तरिया जात कर्म को किया करती हैं। (गाथा १७५–१७६,५) । इनके साथ में रुचका, रुचक कीर्ति, रुचककांता तथा रुचक प्रभा ये चार दिक्कन्यायें भी जातकर्म को करती थीं (१६३) ।

उस समय का एक-एक क्षण अपूर्व आनन्द, उल्लास तथा स्फूर्ति से परिपूर्ण हो रहा था। कुण्डपुर का वैभव इंद्रपुरी को विजय कर रहा था। प्रकृति भी प्रकृति को ओर ले जाने वाले तथा विकृति का त्याग कराने वाले इन तीर्थंकर परमदेव के जन्मकाल में अद्भुत आनन्द उत्पन्न करा रही थी।

आशाः प्रसेदुरथ देह भृतां मनोभिः ।
सर्वाः समं वियदधोतमियाय शुद्धिम् ॥
पेते मदालिचितया सुरपुष्पवृष्ट्या ।
नेदुस्तदा नभसि दुंदभयश्च मन्द्रम् ॥

उस जिनेन्द्र जन्मकाल में सम्पूर्ण प्राणियों का अन्तःकरण स्वच्छ हो रहा था तथा दिशाएँ भी प्रसन्न हो रही थी। उन्मत्त भ्रमरों से अलकृत पुष्प वृष्टि देव गण कर रहे थे। आकाश में देव-दुंदभि बज रहे थे। अवर्णनीय आनन्द और उल्लास की वह वेला थी।

बाल जिनेन्द्र—महाकवि गुणभद्र बाल जिनेश्वर के विषय में कहते हैं 'जिस प्रकार पूर्व दिशा से बालसूर्य का उदय होता है, रात्रि में चन्द्रमा निकलता है, पद्महृद से गंगा का प्रवाह प्रगट होता है, पृथ्वी में धन का समूह निकलता है, सरस्वती से वचन-राशि प्रकट होती है, लक्ष्मी से आनन्द का उदय होता है, उसी प्रकार लोक एवं अलोक का सूर्य वह अच्युतेन्द्र का जीव प्रियकारिणी के पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ।

प्राचीव दिशि बालार्को यामिन्यामिव चन्द्रमाः।
पद्मायामिव गंगौघो धात्र्यामिव धनोत्करः ॥ २६६
वाग्वध्वामिव वाग्राशिर्लक्ष्म्यामिव सुखोदयः।
तस्यां सुतोऽच्युताधीशो लोकालोकैक-भास्कर. ॥ २६७—पर्व ७४ ॥

भगवान के विषय में महाकवि के ये उद्गार अर्थपूर्ण हैं :—

अलंकारः कुलस्याहंत् संपदा—मालयोऽजनि ।
आकरो गुणरत्नाना-माश्रयो विश्रुतधियाम् ॥ २६३ ॥

भानुमान् पद्मबंधूनां भुवनत्रयनायकः ।
दायको मुक्तिसौख्यस्य त्रायकः सर्वदेहिनां ॥ २६४ ॥

वह पुत्र अलंकार था, अर्हन्त की विभूति का भवन था, गुणरूपी रत्नों का भण्डार था विशुद्ध ज्ञानवालों का आश्रय था, बधुरूप कमलों को आनन्द दाता सूर्य था, त्रिभुवन का स्वामी था, मोक्ष सुख का दाता तथा प्राणीमात्र की रक्षा करने वाला था।

मर्म-द्युति-र्भवध्वंसी मर्मवित् कर्मविद्विषाम् ।
धर्मतीर्थस्य धौरेयो निर्मल शम्वारिधि ॥२६५-७४॥ उ० पुराण ॥

उस शिशु का शरीर द्युति सुवर्ण सदृश थी, वह दुःख पूर्ण संसार का क्षय करने वाला था, कर्मरूपी शत्रुओं के मर्म को जानता था, धर्म रूपी तीर्थ की प्रवृत्ति करने में प्रमुख था, मलिनता विमुक्त था तथा शान्ति का सिन्धु था।

माता प्रियकारिणी :—ऐसे लोकोत्तर अद्वितीय शिशु की जननी प्रियकारिणी के विषय में गुणभद्र स्वामी का यह कथन बड़ा प्रिय प्रतीत होता है :—

मानुषाणां सुराणां च तिरश्चां च चकार सा ।
तत्प्रसूत्या पृथु-प्रीति तत्सत्यं प्रियकारिणी ॥ २६८ ॥

महारानी प्रियकारिणी ने उन प्रभु को जन्म देकर मनुष्यों, देवों तथा पशुओं के हृदय में महान प्रेमभाव उत्पन्न कर दिया था, इसलिये उसका प्रियकारिणी नाम वास्तविक था।

प्रभु की जन्म वेला में आनन्द का सागर लहरा रहा था। सुरलोक से पुष्प वर्षा हो रही थी। महाकवि कहते हैं :—

मुखांभोजानि सर्वेषां तदाऽकस्माद्दधुः श्रियम् ।
प्रमुक्तानि प्रसूनानि प्रमोदाश्रूणि वा दिवा ॥ २६९ ॥

उस समय सबके मुख-कमलों ने अकस्मात् शोभा धारण कर ली थी। स्वर्ग से पुष्पों की वर्षा हो रही थी, वे पुष्प स्वर्ग के आनन्दाश्रु सदृश प्रतीत होते थे।

आनन्द धारा :—जहाँ देखो, वहाँ आनन्द ही आनन्द था, क्योंकि विश्व में अविनाशी आनन्द का मार्ग प्रदर्शन कर अक्षय आनन्द को प्राप्त करने वाली विभूति को माता प्रियकारिणी ने उत्पन्न किया था।

सामान्यतया बालक के जन्म होने पर कुटुम्बीजन हर्षित होते हैं और तत्काल उत्पन्न शिशु जोर-जोर से रुदन करता है। यह जितेन्द्र होने वाला शिशु प्रसन्नवदन था। उसके लिए रुदन पूर्णतया अपरिचित था। अभाव, आपत्ति तथा आधि आदि के कारण व्यथित व्यक्ति अपनी मनोवेदना को अश्रु के माध्यम से व्यक्त करता है। प्रियकारिणी के इस विश्वपूज्य पुत्र के कारणसर्वत्र आनन्द तथा शांति थी।

मोहकर्म को शोक :—

उस समय अगर कोई रोता था, तो वह मोहनीय कर्म तथा उसका परिकर था, क्योंकि अब शुक्लध्यानाग्नि में कर्मराशि को दग्ध करने वाली आध्यात्मिक विभूति का अद्भुत उदय हो गया है। तीर्थंकर के अद्भुत व्यक्तित्व के कारण कर्मों ने जीव को नचाने का कार्यक्रम प्रायः बन्द कर दिया और अब वे स्वयं भगवान के समक्ष आ आकर अनुकूल सामग्री उपस्थित कर नृत्य करते हुए प्रतीत होते थे।

जन्म वेला :—महापुराणकार जिनसेन स्वामी लिखते हैं, उस समय प्रजा का हर्ष बढ़ रहा था, देव आश्चर्य को प्राप्त हो रहे थे, कल्पवृक्ष ऊंचे से प्रफुल्लित पुष्प वर्षा रहे थे। देवों के दुन्दुभि बिना बजाए ही ऊंचा शब्द करते हुए बज रहे थे। "अनाहताः पृथु-ध्वाना दध्वनु-र्दिविजा-नकाः।" मृदु, शीतल तथा सुगंधित पवन धीरे-धीरे बह रहा था। उस समय पहाड़ों को भी हिलाती हुई पृथ्वी भी हिलने लगी थी, मानों संतोष से नृत्य ही कर रही हो। समुद्र भी लहरा रहा था, मानो परम आनन्द को प्राप्त हुआ हो। कवि की वाणी इसप्रकार है:—

प्रचचाल मही तोषात् नृत्यन्तीव चलद्गिरिः।
उद्वेलो जलधिर्नूनं अगमत् प्रमदं परम् ॥ ८, पर्व १३ ॥

इस संपूर्ण वातावरण को देखकर सुरराज ने अवधिज्ञान का उपयोग किया तब पता चला कि पापों का क्षय करने वाले जिनेन्द्र का जन्म हुआ है :—

इसके अनंतर क्या हुआ ?

ततो जन्माभिषेकाय मतिं चक्रे शतक्रतुः ।
तीर्थकृद्भावि-भव्याब्ज-बन्धौ तास्मिन्नुदेयुषि ॥ १० ॥

भव्य कमलों के बंधु भावि-तीर्थंकर के उत्पन्न होने पर इन्द्र ने उनके जन्माभिषेक करने का विचार किया।

अद्भुत घटनाएं :—उस समय अनेक अद्भुत घटनाएं घटित हुईं।

शिरांसि प्रचलन्मौलि-मणीनि प्रणतिं दधुः ।
सुरासुर-गुरोर्जन्म भावयन्तीव विस्मयात् ॥ १२ ॥

जिनके मुकुटों में लगे हुए मणिगण कंपित हो रहे हैं, ऐसे देवों के मस्तक स्वयमेव नम्रीभूत हो गये थे। वे ऐसे मालूम होते थे मानों बड़े आश्चर्य से सुर-असुर आदि सबके गुरु जिनेश्वर के जन्म की भावना ही कर रहे हों।

उस समय यह आश्चर्यप्रद बात हुई, जिससे सभी देवी-देवता प्रभावित हुए :—

घण्टा-कण्ठीरवध्वान-भेरी-शंखाः प्रदध्वनुः ।
कल्पेश-ज्योतिषां वन्य-भावनानां च वेश्मसु ॥ १३ ॥

उस समय कल्पवासी, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों के भवनों में क्रमशः घंटा, सिंहनाद, भेरी तथा शंखों की ध्वनि होने लगी थी। इन्द्र की आज्ञानुसार हाथी, घोड़ा, रथ, गंधर्व, नृत्य करने वाली, पियादे तथा बैल रूप सप्तविध दिव्य सेनाएं निकलकर कुण्डपुर की ओर बढ़ चलीं।

उस समय जिनेन्द्रपुरी का सौन्दर्य अद्भुत था। जिनेन्द्र के जन्म से उस नगरी का आकर्षण कल्पनातीत हो गया था। सब देवों ने सर्व

प्रथम उस जिनेन्द्रपुरी की तीन प्रदक्षिणा कीं।+ इसके अनन्तर उस जिनेन्द्रपुरी की सुन्दरता एवं विभूति का सहर्ष अवलोकन करता हुआ इंद्र माता प्रियकारिणी के दिव्य भवन के समीप ठहर गया।

शची का कार्य—सौधर्मेन्द्र ने अपनी शची को आज्ञा दी "जाओ! तुम प्रसूति भवन में जाकर भगवान को लाओ।" अपने प्राणनाथ की आज्ञानुसार इंद्राणी जिनेन्द्र जननी के समीप पहुँची। उसने क्या किया इस विषय में महापुराणकार लिखते हैं।

मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च जगद्गुरुम।
जिनमातुः पुरः स्थित्वा श्लाघते स्मेति तां शची॥ २९–पर्व १३॥

इन्द्राणी ने प्रसव-मंदिर में प्रवेशकर अनेक बार प्रदक्षिणा दी। पश्चात् त्रिभुवन के स्वामी बाल जिनेन्द्र को प्रणाम किया और फिर उन जिनेन्द्र जननी के समक्ष स्थित होकर इन शब्दों में स्तुति की—

त्वमम्ब भुवनाम्बासि कल्याणी त्वं सुमंगला।
महादेवी त्वमेवाद्य त्वं सपुण्या यशस्विनी॥ ३०॥

हे माता! तू त्रिभुवन की कल्याणमयी माता है, तू श्रेष्ठ मंगलमयी है, तू ही महादेवी है। तू ही पुण्यवती है। तू ही यशस्विनी है।

वास्तव में शची का प्रत्येक शब्द गंभीर तथा अर्थपूर्ण था। माता प्रियकारिणी ने तीर्थंकर पुत्र को जन्म देकर श्रेष्ठ यश प्राप्त किया।

+ तीन प्रदक्षिणा संभवतः मन शुद्धि, वचन शुद्धि तथा कायशुद्धि रूप त्रिविध निर्मलता की प्रतीक है अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के समुदाय को सूचित करती है, क्योंकि जहां रत्नत्रय की उपलब्धि हुई वहां आगे जगत् में चक्कर लगाने का कार्य बन्द हो जाता है। धार्मिक कार्यों में कलशों आदि की बोली तीन बार बोली जाने के बाद पुनः नहीं दोहराई जाती। उसका परिवर्तन-पुनः बोला जाना बंद हो जाता है। कानून बनने के पूर्व तीन बार उस मसौदे का तीन बार वाचन होता है। यह तीन संख्या रत्नत्रय की प्रतीक है। उसके पश्चात् परिवर्तन रुक जाता है।

उस महादेवी के समान पुण्यवती और कौन जननी होगी ? आचार्य मानतुंग ने यथार्थ ही लिखा है :—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयतिस्फुरदंशुजालम्‌ ॥ २२ ॥

सैकड़ों स्त्रियाँ सैकड़ों पुत्रों को उत्पन्न करती हैं, किन्तु आपकी माता के सिवाय अन्य जननी ने आप सदृश पुत्र उत्पन्न नहीं किया। संपूर्ण दिशाओं में नक्षत्र उत्पन्न होते हैं किन्तु एक पूर्व दिशा ही दैदीप्यमान किरणमालिका से शोभायमान सूर्य को प्रगट करती है।

वास्तव में प्रियकारिणी देवी महान पुण्यवती थी क्योंकि अगणित जीवों की पापमयी प्रवृत्तियों से उनका मुख मोड़कर पुण्यपथ में उन्हें लगाने का लोकोत्तर कार्य इन्हीं माता के उदर से उत्पन्न सुत द्वारा संपादित हो रहा है।

इस समय दो ही व्यक्ति अद्भुत पुण्यशाली समीप हैं। एक बाल जिनेन्द्र हैं दूसरी, जिनेन्द्र जननी। इन्द्राणी ने दोनों मंगल विभूतियों का दर्शन किया, जिनेन्द्र के प्रति भक्ति होना स्वाभाविक और उचित है। माता को महत्व इन्हीं जिनेन्द्र को प्रसव प्रदान करने के कारण ही, यह लोकोत्तर गौरव मिला।

बहुत समय पहिले से सैकड़ों सुर-बालाएँ दासी सदृश सेवा में तत्पर रहीं और अब अगणित देव तथा देवियाँ श्रेष्ठ वैभव के साथ माता के राज-भवन में एकत्रित हैं।

शची ने बाल-रवि रूप जिनेन्द्र-दर्शन तथा स्पर्श-द्वारा जो आनन्द प्राप्त किया, वह उस स्वर्ग में कभी भी नहीं प्राप्त हुआ था।

बाल जिनेश्वर —इन्द्राणी ने माता को मायामयी नींद से युक्त कर दिया तथा एक मायामयी बालक माता के समीप विराजमान कर भक्ति तथा श्रद्धा से बाल जिनेन्द्र को उठाया। महापुराण कहते हैं :—

जगद्‌गुरु समादाय कराभ्याम् सागमन्मुदम् ।
चूडामणि मिवोत्सर्पत्तेजसाव्याप्त-विष्टपम् ॥ ३२ ॥ १३ पर्व ॥

शरीर से निकलते हुए तेज के द्वारा लोक को व्याप्त करने वाले चूड़ामणि-रत्न के समान उन जगत् के गुरु स्वरूप बालजिनेन्द्र को दोनों हाथों से उठाकर इंद्राणी को परम आनन्द प्राप्त हुआ।

तद्‌गात्र-स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौ तदा।
मेने त्रिभुवनैश्वर्य स्वसात्कृतमिवाखिलम् ॥ ३३ ॥

उस समय दूसरों के लिए अत्यन्त दुर्लभ बाल जिनेन्द्र के शरीर को स्पर्श कर उस इंद्राणी को ऐसा लगा मानो उसने त्रिभुवन का समस्त ऐश्वर्य ही प्राप्त कर लिया है।

मुहुस्तन्मुखमालोक्य स्पृष्ट्वा-घ्राय च तद्वपुः।
परां प्रीतिमसौ भेजे हर्ष-विस्फारिते-क्षणा ॥ ३४ ॥

वह इन्द्राणी बार-बार भगवान के मुख को देखती थी। उनके शरीर का स्पर्श करती थी, और बारंबार उनके शरीर को सूंघती थी। इससे उसके नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो गये थे। उसे उत्कृष्ट प्रीति प्राप्त हुई थी।

ततः कुमारमादाय व्रजन्ती सा बभौ भृशम्।
द्यौरिवार्क्कमभिव्याप्त-नभसं भासुरांशुभिः ॥ ३५ ॥

तदनंतर बालक को लेकर जाती हुई इंद्राणी ऐसी शोभायमान हो रही थी, मानो अपनी दीप्तिमान किरणों से आकाश को व्याप्त करने वाले सूर्य को ले जाता हुआ आकाश ही शोभित हो रहा हो।

तदा मंगलधारिण्यो दिक्कुमार्यः पुरो ययुः।
त्रिजगन्मंगलस्यास्य समृद्धय इवोच्छिखाः ॥ ३६ ॥

उस अवसर पर छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, सुप्रतिष्ठक (ठोना) झारी, दर्पण और पंखा रूप अष्ट मंगल द्रव्यों को धारण करने वाली

दिक्कुमारियां देवो आगे चल रही थीं। उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो त्रिभुवन के मंगलरूप प्रभु की देदीप्यमान ऋद्धियां ही हों।

> ततः करतले देवी देवराजस्य तं न्यधात्।
> बालार्कमौदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ॥ ३६॥

इसके अनन्तर इंद्राणी ने इंद्र के हाथों में भगवान को विराजमान किया, जिस प्रकार पूर्व दिशा प्रकाशमान मणियों से शोभायमान उदयाचल के शिखर पर बाल सूर्य को विराजमान करती है।

देवराज का आनन्द भगवान को प्राप्त कर इंद्र के आनन्द की सीमा नहीं रही। पारसपुराण में भूधरदासजी कहते हैं :—

> देख्यो हरि बालक-चंद जाम।
> आनन्द-जलधि उर बढ्यो ताम।

चन्द्र दर्शन से समुद्र बढ़ता है। उसकी लहरें क्षणक्षण में पूर्ण चन्द्र के प्रभाव से बढ़ती जाती हैं। इंद्र की स्थिति ऐसी ही हो रही थी। प्रत्येक क्षण में जिनेन्द्र चन्द्र का दर्शन कर आनन्द का सागर उद्वेलित होता हुआ सा लग रहा था।

सौन्दर्य का पारखी सुरराज सूक्ष्मता से बाल जिनेश्वर के समस्त अंगों पर दृष्टि डालता था, तब उसे सभी अंग एक से बढ़कर एक लग रहे थे। मस्तक तो उत्तमांग ही है।

कर्ण नेत्र मुखादि की मधुरिमा हृदय में अपूर्व रस उत्पन्न कर रही थी।

चरण प्रेम : चरणों पर दृष्टि डालने पर सुरराज को वे अत्यन्त प्रिय लग रहे थे। प्रभु के चरणों के साथ अपने उत्तमांग मस्तक का संयोग उस देवेन्द्र को स्वर्ग के श्रेष्ठ भोगों से भी अधिक रस बरसाता था। जैसे भ्रमर मधुरसपान में मस्त होता है, उसी प्रकार चरण कमल का रसपान करने में देवराज का मन-मधुप अत्यन्त आसक्त हो रहा था। चरण के प्रति ममत्व का विशेष कारण

उस शब्दगत विशिष्ट अभिधेयार्थ भी है। वह चारित्र का भी पर्याय-वाची है, जिस चारित्र के प्रति सुरराज के अन्तःकरण में अपूर्व भक्ति थी और जिसको वह अपने देवत्व के वैभव के साथ बदलने को तैयार है, क्योंकि चारित्र द्वारा निराकुल सुख रूप निधि मिलती है; विषय वासना जन्य सुख तो विशिष्ट आकुलता का उत्पादक होता है। मोक्ष के लिए साक्षात् कारणपना सम्यक्चारित्र में है। उसके अभाव में सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की उपलब्धि होते हुए भी निर्वाण पद की प्राप्ति नहीं होती।

दिव्य मानव :-इंद्र देखता था और सोचता था, कि इन प्रभु का सौन्दर्य मानवों में नहीं प्राप्त होता; सुरसमाज में भी यह दिव्य लावण्य नहीं है, अतः वह भगवान को 'दिव्य-मानव' के रूप में देखता था। वह प्रभु को दिव्य होते हुए भी मानव इस कारण सोचता था, कि दिव्य पर्याय परिणत जीव संयम की निधि को नहीं प्राप्त कर सकता है, और ये महाप्रभु परम यथाख्यात चारित्र को धारणकर सिद्धीश्वर बनने वाले हैं। गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण में अभिनंदन भगवान का वर्णन करते हुए उन्हें 'दिव्य मानवं' दिव्य मानव कहा है। ※

इंद्र का मनोगत :—इन्द्र भगवान के विषय में अपने १५ माह पूर्व के संस्मरण को जागृत करता था और सोचता था, कि मैंने इन्हें अच्युतेन्द्र के रूप में देखा था, परिचय प्राप्त किया था। उस समय की स्थिति में आज अद्भुत परिवर्तन हो गया। वह परिवर्तन वाणी का विषय नहीं है। इस तीर्थंकर रूप पर्याय में लोकोत्तरता न होती,

---

※ तं तदावाप्य देवेन्द्रः स्वदेव्या दिव्यमानवम्।
देवावृतो द्रुतद्रावी देवाद्रौ दिव्यविष्टरे ॥ २१ ॥
बालार्क-सन्निभ बालं जलैः क्षीरापगापतेः।
स्नापयित्वा विभूष्याख्यां प्रख्याप्यास्या-भिनंदनम् ॥ २२-पर्व ५० ॥

तो समस्त सुर-समाज इन देवाधिदेव की अभिवंदना के लिए क्यों उद्यत होती ?

अंतर्दृष्टि समलंकृत सुरराज भगवान के गुणों पर जब दृष्टि देता था, तब वह हृदय से उनको प्रणामांजलि अर्पित करता था। मनोगत भावों को वाणी का अवलंबन दे उस देवेन्द्र ने इस प्रकार विनम्र भाव से स्तुति की थी :—

त्वं देव जगतां ज्योतिः त्वं देव जगतां गुरुः।
त्वं देव जगतां धाता, त्वं देव जगतां पतिः ॥ ४१ ॥

हे प्रभो ! आप तीनों जगत् की ज्योति हैं। हे भगवन ! आप त्रिभुवन के गुरु हैं। हे देव ! आप जगत् के विधाता हैं। हे नाथ ! आप त्रिभुवन के स्वामी हैं।

त्वामामनन्ति सुधियः केवलज्ञान-भास्वतः।
उदयाद्रि मुनीन्द्राणां अभिवंद्यं महोन्नतिम् ॥ ४२ ॥

हे भगवन ! ज्ञानी पुरुष मुनीन्द्रों के द्वारा वंदनीय आपको ही केवलज्ञान रूपी सूर्य के उदय के लिए अतिशय उन्नत उदयाचल पर्वत मानते हैं।

इस प्रकार उन प्रभु का स्तवन कर सौधर्मेन्द्र ने उनको अपनी गोद में विराजमान किया।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन कहते हैं :—

जिनेन्द्रमुख-चंद्रकं विजित-पुंडरीकेक्षणं —
विशेष-विजिता-सितोत्पल-वनश्रियं तं श्रिया।
निरीक्ष्य जिन-पद्म-पाणि-चरणं महस्रेक्षणः
सहस्र-गणनेक्षणैरपि ययौ न तृप्तिं तदा ॥ ४१ सर्ग ३८ ॥

उस समय भगवान का मुख चन्द्रमा के समान था। उनके नेत्रों ने कमलों को जीत लिया था। अपनी शोभा से नीलकांति युक्त नील कमलों को पराजित किया था। इस प्रकार उन प्रभु के पद्म के

समान हाथों और चरणों को देखकर सहस्रनेत्रधारी होते हुए भी इन्द्र तृप्ति को नहीं प्राप्त हुआ।

मेरु की ओर प्रस्थान :—सौधर्मेन्द्र ने ऐरावत गजराज पर आरोहण किया तथा मेरु की ओर प्रस्थान करने को अपना हाथ ऊंचा उठाया। उस समय का चित्र महापुराणकार इन शब्दों में अंकित करते हैं :—

जयेश नन्द वर्धस्व त्वमित्युच्चैर्गिरः सुराः।
तदा कलकलं चक्रुः बधिरीकृत-दिङ्-मुखम् ॥ ४८ पर्व १३ ॥

हे देव! आपकी जय हो, आप समृद्धि संपन्न हों, आप सर्वदा वर्धमान हों। इस प्रकार कहते हुए उस समय देवों ने इतना अधिक कोलाहल मचाया था कि सभी दिशाएँ बहरी हो गई थीं। अर्थात् उस समय जय, नन्द वर्धस्व शब्द ही दिग-दिगन्त व्यापी हो रहे थे।

सुर समूह मेरु की ओर बढ़ रहा था। ऐरावत हाथी का सौन्दर्य तथा सर्व वर्णन अद्भुत रस को जागृत करता था। भगवान सौधर्मेन्द्र की गोद में थे, ऐशान इन्द्र छत्र लगाए हुए था, सानत्कुमार तथा माहेन्द्र चमर ढुरा रहे थे। उस समय की विभूति देखकर मिथ्यात्वांधकार दूर होता था।

आचार्य कहते हैं :—

दृष्ट्वा तदातनीं भूति कुदृष्टि-मरुतो परे।
सन्मार्ग-रुचि-मानेनु इन्द्र-प्रामाण्य-मास्थिताः ॥ ३३—१३ ॥

सम्यक्त्व लाभ—उस समय की विभूति देखकर अनेक मिथ्या-दृष्टि देव इन्द्र को प्रमाण मानकर समीचीन जिनेन्द्र मार्ग में श्रद्धा करने लगे थे।

तात्विक बात यह है, कि मिथ्यात्वी देव अपने जीवन को तथा अपने साथियों की अवस्था को देखते थे और जिन शासन पर श्रद्धा रखने वाले देव, देवेन्द्रों का वैभव तथा साक्षात जिनेन्द्र के अद्भुत

पुण्य को देखकर सोचते थे, तो उनके अन्तःकरण में चिरकाल से जमी हुई भ्रान्ति सहज ही दूर होती थी। अश्व, गजादि रूपको धारण करने वाले तुच्छ देव मिथ्यात्वी होते हैं और उनसे सेवा लेने वाले महर्द्धिक सुरराज की पदवी जिनेन्द्र भक्तों को प्राप्त होती है। जब क्षुद्र देव धर्म के द्वारा प्राप्त वैभव आदि को प्रत्यक्ष देखते थे तब उनकी अंतर्चक्षु खुल जाती थीं।

बाल जिनेन्द्र को लेकर देव-देवेन्द्र शीघ्र ही नभोमण्डल में बढ़ रहे थे। उन्होंने ज्योतिषी देवों के क्षेत्र ज्योतिष-पटल का भी उल्लंघन किया था। उस समय ज्योतिष चक्र अद्भुत सौन्दर्य को धारण करता हुआ दिखता था।

महाकवि जिनसेन स्वामी कहते हैं :—

> ज्योतिः पटलमुल्लंघ्य प्रययुः सुरनायकाः।
> अधस्तारकितां वीथिं मन्यमानाः कुमुद्वतीम् ॥ ६५-१३ ॥

वे सुरेन्द्रगण ज्योतिःपटल को उल्लंघन कर ऊपर की ओर जाने लगे। उस समय वे देवगण नीचे विद्यमान ताराओं सहित आकाश को ऐसा मानते थे, मानो कुमुदिनियों सहित सरोवर ही हो।

सुरगिरि पर पहुँचना—क्रम से आगे बढ़ते हुए वे इन्द्र निन्यावे-हजार योजन ऊंचे सुमेरु पर्वत पर पहुँच गए। इसे सुरगिरि भी कहते हैं। इस गिरिराज का मूल एक हजार योजन है। इस प्रकार यह एक लक्ष योजन प्रमाण कहा गया है।

जम्बूद्वीप सम्बन्धी तीर्थंकरों का जन्माभिषेक महोत्सव जिस मेरु पर होता है, उसे सुदर्शन मेरु कहते हैं। धातकी खण्ड सम्बन्धी तीर्थंकरों का अभिषेक विजयमेरु तथा अचलमेरु पर होता है। पुष्करवर द्वीप सम्बन्धी तीर्थंकरों का अभिषेक मन्दरमेरु तथा विद्युन्माली मेरु पर होता है। त्रिशलानन्दन भगवान सुदर्शन मेरु पर विराजमान हैं। इन सुदर्शनादि मेरुओं की सूर्यादि ज्योतिषी देव अढ़ाई द्वीप में प्रदक्षिणा किया करते है। इस विषय में कवि उत्प्रेक्षा करता है कि-

तीर्थंकरों के न्हवन जल से भये तीरथ शर्मदा।
तातैं प्रदच्छन देत सुरगन पंचमेरन की सदा॥

ये पावन स्थल तीर्थंकरों के अभिषेक जल से पवित्र हुए, इस कारण देववृन्द सदा पांचों मेरुओं की परिक्रमा किया करते हैं।

सुदर्शन मेरु पांचों मेरुओं में सर्वोन्नत है। अन्य मेरुओं को क्षुल्लक मेरु भी कहते हैं। उनकी ऊंचाई ८४००० चौरासी हजार योजन कही गई है। यह मेरु "चंचत्-पंचसुवर्ण-रत्नजड़ितो नानाद्रुमौघोर्जितः"—देदीप्यमान पंचविध रत्न सुवर्ण से अलंकृत है तथा विविध प्रकार की वृक्ष राशि से व्याप्त है।

जिस सुदर्शन मेरु पर भगवान का अभिषेक होना है, वह विश्व का अपूर्व विभूति केन्द्र है, उसकी महिमा, गरिमा तथा सौन्दर्य की कौन कल्पना कर सकता है? इस भरत क्षेत्र के निवासी अपने लघु देशों के कुछ सुन्दर प्रदेशों को देखकर प्रसन्नता से कहते हैं, यही स्वर्ग है। काश्मीर की सुषमा से प्रभावित हो एक मुस्लिम कवि ने कहा था, 'यही स्वर्ग है, यही स्वर्ग है, यही स्वर्ग है।'

यह कथन आगम के प्रकाश में अतिशयोक्ति से परिपूर्ण है। सुदर्शनमेरु का सौन्दर्य अप्रतिम है। इसके अधोभाग में भद्रशाल नाम का वन है। पांच सौ योजन ऊंचे जाने पर नन्दन वन आता है। साढ़े बासठ हजार योजन ऊपर जाने पर सौमनस वन प्राप्त होता है। वहां से छत्तीस हजार योजन ऊपर जाने पर पांडुक वन आता है। इन भद्रशाल, नन्दन, सौमनस तथा पांडुक नामक वन चतुष्टय की चारों दिशाओं में एक एक अकृत्रिम चैत्यालय है। सुदर्शनमेरु सम्बन्धी सोलह चैत्यालय हैं। वहाँ की जिन-प्रतिमा अवर्णनीय वैभव संपन्न हैं। प्रतिमाओं की संख्या १०८ कही गई है। वे मूर्तिमान जैन धर्म रूप हैं। वे पाँचसौ धनुष प्रमाण सुवर्ण निर्मित हैं। यक्षयक्षी सहित हैं। राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने लिखा है, "तत्र पंचधनुः शतोत्सेधाः कनकमयदेहा आभरणालंकृत यक्षनाग मिथुनाः अर्हत्प्रतिमा अनाद्य-

निधना अष्टशतसंख्याः वर्णनातीतविभवाः मूर्ता इव जिनधर्मा विराजंते" (पृ० १२६)

उन अकृत्रिम जिन बिम्बों की भव्यगण परोक्ष रूप से वन्दना करते हैं। संस्कृत पूजा में लिखा है :—

जम्बूद्वीप-धरा-स्थितस्य सुमहामेरोश्च पूर्वादिषु ।
दिग्भागेषु चतुर्षु षोडश-महाचैत्यालये सद्वनैः ॥
नाना क्ष्माज-विभूषणैः-मणिमयै-र्भद्रादिशालान्तकैः ।
संयुक्तस्य निवासिनो जिनवरान् भक्त्या स्तवीमि स्तवैः ॥

जम्बूद्वीप की पृथ्वी पर स्थित महान सुदर्शनमेरु है। उसकी पूर्वादि चारों दिशाओं में भद्रशाल आदि चार वन अनेक पृथिवी से उत्पन्न हुए वृक्षों से सुशोभित हैं, व मणियों से समलंकृत हैं तथा सोलह महाजिनालयों से युक्त हैं। उनमें विराजमान जिनेन्द्र प्रतिमाओं की मैं भक्तिपूर्वक स्तोत्रों से पूजा करता हूँ।

शुद्ध-वर्णाकिनाः शुद्धभावाङ्गा रत्नवर्णोज्ज्वला सद्गुणैर्निर्भराः ।
मेरुसम्बन्धिनो वीतरागा जिना. संतु भव्योपकाराय संपूजिताः ॥

शुद्ध वर्णों से अंकित, शुद्धभावों से परिपूर्ण, रत्नों के वर्ण के समान दीप्तिमान, समीचीन गुणों से परिपूर्ण और अत्यन्त पूज्य सुमेरु सम्बन्धी वीतराग जिनेन्द्र भक्तों को कल्याणदायी हों।

इन चैत्यालयों की वंदना द्वारा देव, विद्याधर तथा चारण ऋद्धिधारी मुनीश्वर अवर्णनीय निर्मलता प्राप्त करते हैं।

ऐसे लोकोत्तर स्थल को जन्माभिषेक की भूमि बनाया गया है। इस मेरु पर्वत का परिचय देते हुए आचार्य अकलंकदेव ने राजवार्तिक में लिखा है, कि इसका अधोभाग रूप प्रथम काण्ड वैडूर्यमणि रूप है। द्वितीयकाण्ड सर्व रत्नमय है, तृतीयकाण्ड सुवर्णमय है। चूलिका वैडूर्यमणिमयी है। चूलिका चालीस योजन प्रमाण है। पाण्डुक वन में पूर्व दिशा में पांडुक शिला है। यह चाँदी-सुवर्णमयी

है। दक्षिण में रजतमयी पांडु-कंवल-शिला है। पश्चिम में मूंगा वर्णवाली रत्नकंवल शिला तथा उत्तर में अतिरिक्त-कंवल शिला है। यह जाम्बूनद सुवर्णमयी है।

पूर्व दिशा की शिला में विद्यमान सिंहासन पर पूर्व विदेह के तीर्थंकर, दक्षिण के सिंहासन पर भरत क्षेत्र के, पश्चिम दिशा के सिंहासन पर पश्चिम विदेह के तथा उत्तर दिशा के सिंहासन पर ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर को विराजमान करके चतुर्निकाय के देव सपरिवार महान विभूति के साथ क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण अष्टाधिक सहस्र सुवर्ण कलशों से जिनेन्द्र का अभिषेक करते हैं। (राजवार्तिक पृष्ठ १२७)

वर्धमान चरित्र में लिखा है कि भगवान को पांडु कंवल शिला पर विराजमान किया था; वह शरद् के चन्द्र सदृश धवल थी "शरदिंदु-पांडुः"।

पांडुक शिला :—तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि "भरतक्षेत्र के तीर्थंकर का अभिषेक पांडुक शिला पर होता है। सिंहासन के दोनों पार्श्व भागों मे अत्यन्त दीप्तिमान उत्तम किरणों के समूह से संयुक्त एवं दिव्य रत्नों से निर्मित भद्रासन विद्यमान हैं। पाद पीठों से शोभायमान वे पीठ धवल छत्र व चामर-घंटादि रूप मंगल द्रव्यों से संयुक्त हैं। वे पूर्वाभिमुख उत्तम पीठ तीनों लोकों को विस्मित करने वाले हैं। सौधर्मादिक इन्द्र भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए तीर्थंकर कुमार को—"भरहे खेत्ते जादं तित्थयर-कुमारकं" ग्रहण करके विविध प्रकार की विभूति के साथ ले जाते हैं।

"सब इंद्र मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए जाकर पाण्डुक शिला के ऊपर मध्यम सिंहासन पर जिनेन्द्र भगवान को विराजमान करते हैं। सौधर्मेन्द्र दक्षिण पीठ पर और ईशानेन्द्र उत्तर पीठ पर स्थित होकर महती विशुद्धि से अभिषक करते हैं।" अभिसेयाई कुव्वंति महाविसोहीए (भाग १ पृष्ठ ३८१, अध्याय ४)

महापुराणकार ने लिखा है :—

तस्य प्रागुत्तराशायां महती पांडुकाह्वया।
शिलास्ति जिननाथानां अभिषेकं बिभर्ति या ॥ ८२ ॥

उस मेरु के पांडुक वन मे पूर्व और उत्तर दिशा के बीच-ऐशान दिशा में एक बड़ी भारी पांडुक शिला है, जो कि जिनेन्द्र देव के अभिषेक को धारण करती है।

शुचिः सुरभिरत्यंतरामणीया मनोहरा।
पृथिवीवाष्टमी भाति या युक्त-परिमण्डला ॥ ८३ ॥

वह शिला अत्यन्त पवित्र है, सुरभि संपन्न है, अत्यन्त रमणीय तथा मनोहर है, गोल है तथा अष्टमी पृथ्वी-सिद्ध शिला के समान शोभायमान है।

+ वह शिला सौ योजन लम्बी, पचास योजन चौड़ी, आठ योजन ऊंची है और अर्ध चन्द्र के समान आकारवाली है।

आचार्य उस शिला की जिनजननी से तुलना करते हैं :—

शुचित्वान्महनीयत्वात् पवित्रत्वाच्च भाति या।
धारणाच्च जिनेन्द्राणां जिनमातेव निर्मला ॥ ८६-१३ ॥

वह शिला निर्मलता, पूज्यता और पवित्रता संपन्न थी। वह जिनेन्द्र देव को धारण करती थी, अतः वह जिन जननी सदृश लगती थी। उस पाण्डुक शिला के प्रति सुर समाज के चित्त में महान आदर था :—

नित्योपहार-रुचिरा सुरैर्नित्यं कृतार्चना।
नित्यमंगल-संगीत-नृत्त-वादित्र शोभिनी ॥ ६० ॥

+ शतायता तदर्द्धं च विस्तीर्णा-ष्टोच्छ्रिता मता।
जिनैर्योजनमानेन सा शिला-र्द्धेन्दु-संस्थितिः ॥ ८४-१३ पर्व ॥

वह शिला देवों के द्वारा अर्पित सामग्री से निरन्तर मनोहर रहती है। देव लोग उसको पूजा करते हैं। वह सदा मांगलिक संगीत, नृत्य तथा वादित्रों से अलंकृत है।

याऽमला शील-मालेव मुनीनाममिसम्मता।
जैनी तनु रिवात्यन्त-भास्वरा सुरभिश्शुचिः॥ ६२॥

वह पाण्डुक-शिला शील माला समान मुनियों को अत्यन्त इष्ट है। वह जिनेन्द्र भगवान के शरीर के समान अत्यन्त दैदीप्यमान, मनोज्ञ तथा पवित्र है।

स्वयं धौतापि या धौता शतशः सुरनायकैः।
क्षीरार्णवाम्बुभिः पुण्यैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः॥ ६३-१३॥

वह शिला स्वयं धौत है---उज्ज्वल है, फिर भी सुरेन्द्रों ने सैकड़ों बार उसका प्रक्षालन किया है। वास्तव में वह पाण्डुक शिला पुण्य की उत्पत्ति के लिए खदान के समान है।

अभिषेक की मंगल वेला—असंख्य देवी, देवता महान हर्ष, उल्लास युक्त हो रहे थे। प्रभु के अभिषेक का आनन्द लेने के लिए वे उत्कंठित हो रहे थे। देव देवेन्द्र सब यथायोग्य स्थानों पर विराजमान हो गए हैं। देवों की सेना आकाश रूपी आंगन को व्याप्त कर ठहर गई। कल्पनातीत तेजोमय बाल-जिनेन्द्र मध्य सिंहासन पर पूर्व मुख विराजमान हैं। सभी की दृष्टि उसी ओर जमी हुई थी। देव दुंदुभि उस भव्य वातावरण में रस वर्षा रही थी। अप्सराएं श्रेष्ठ गान तथा नृत्य में निमग्न थीं। अत्यन्त पवित्र, प्रशान्त, प्रमोद परिपूर्ण परिस्थितियों से समलंकृत वह सुरशैल बन गया था।

सुरेन्द्रों ने धवल रक्त वाले जिनेन्द्र का अभिषेक क्षीरसागर से संपन्न करने का निश्चय किया। इसका क्या कारण है? आचार्य कहते हैं-

पूतं स्वायंभुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छ-शोणितम्।
नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धि-सलिलादृते॥ १११-१३॥

जो स्वयं पवित्र है और जिसमें दुग्ध सदृश स्वच्छ रुधिर है, ऐसे भगवान के शरीर का स्पर्श करने के लिए क्षीर सागर के जल के सिवाय अन्य जल योग्य नहीं है।

पंचमगति को प्राप्त करने वाले प्रभु का पंचम समुद्र के जल से अभिषेक उपयुक्त है। आगम में क्षीर सागर का जल जलचर जीव विहीन बताया गया है। तिलोय पण्णत्ति में लिखा है :—

लवणोदे कालोदे जीवा अंतिम-सयभु-रमणम्मि।
कम्म-मही-सबद्धे जलचरया होंति ण हु सेसे ॥ ३१-५ ॥

लवणसमुद्र, कालोदधि तथा अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र कर्मभूमि से सम्बद्ध हैं, उनमें ही जलचर जीव होते हैं। शेष समुद्रों में नहीं है। क्षीर समुद्र पांचवाँ समुद्र है। उसके पूर्व क्षीरवर द्वीप है। प्रथम जंबू द्वीप है, उसके परे लवण समुद्र, फिर धातकी खण्ड द्वीप, फिर कालोदधि समुद्र, फिर पुष्करवर द्वीप, पश्चात् पुष्करवर समुद्र, फिर वारुणीवर द्वीप व वारुणीवर समुद्र है, तत्पश्चात् क्षीरवर द्वीप है, तदनंतर क्षीरसमुद्र है। वह क्षीर सागर मेरु गिरि से छह करोड़ पचास हजार योजन की दूरी पर स्थित है।

पत्तेय रसा जलही चत्तारो होंति तिण्णि उदयरसा।
सेसद्धी उच्छुरसा तदिय-समुद्दम्मि मधुमलिलं ॥ २६ ॥

चार समुद्र प्रत्येक-रस अर्थात् नामानुसार रसवाले है, तीन का स्वाद जल के समान है और शेष समुद्र इक्षु रस युक्त हैं। तीसरे समुद्र का जल मधु सदृश है।

पत्तेक्करसा वारुणि-लवणद्धि-घदवरा य खीरवरो।
उदकरसो कालोदो पोक्खरओ सयंभुरमणो य ॥ ३०॥ पृ० ५३२

वारुणीवर, लवणोदधि, घृतवर और क्षीर सागर ये चार अपने नामानुसार रसवाले हैं। कालोदधि, पुष्करवर समुद्र तथा स्वयंभूरमण समुद्र का जल पानी के समान रस वाला है।

प्रथम कलश—सौधर्मेन्द्र ने क्षीर सागर के जल से परिपूर्ण सुवर्ण निर्मित विशाल कलश उठाया। + उसके कण्ठ में मोतियों की माला शोभायमान हो रही थी। वह चन्दन द्रव से चर्चित था। सौधर्मेन्द्र ने जय जय शब्द का उच्चारण करते हुए प्रभु के मस्तक पर पहली जलधारा छोड़ी, उस समय चारों ओर से जय-जय ध्वनि उठी।

महापुराण में लिखा है—

जयेति प्रथमां धारां सौधर्मेन्द्रो न्यपातयत्।
तथा कलकलो भूयान् प्रचक्रे सुरकोटिभिः॥ ११६-१३॥

महाकवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह जल की धारा जिनेन्द्र देव के मस्तक पर ऐसी शोभायमान होती थी, मानो हिमवान पर्वत के शिखर पर ऊंचे से पड़ती हुई अखंड जलवाली गंगा ही हो। उस समय देवों के द्वारा लाए गए जल प्रपूर्ण कलशों से आकाश ऐसा लगता था, मानो लालिमायुक्त मेघों से व्याप्त हो गया हो।

विनिर्ममे बहून् बाहून् तानादित्सुश्-शताध्वरः।
स तैः साभरणैर्भेजे भूषणांग इवांघ्रिपः॥ ११७॥

शताध्वर-इंद्र ने उन सब कलशों को लेने की इच्छा से अपनी विक्रिया शक्ति से बहुत सी बाहुओं का निर्माण किया था और वह आभूषण युक्त भुजाओं के समुदाय से ऐसा लगता था, मानो भूषणांग जाति का कल्पवृक्ष ही हो।

इस सुन्दर दृश्य द्वारा नेत्र कृतार्थ हो रहे थे। श्रेष्ठ धूप तथा उत्तम पुष्पों की सुगंध से वह पाण्डुक वन सुवास पूर्ण हो गया था, उससे सभी प्रेक्षक वृन्द की घ्राण इंद्रिय अपूर्व आनन्द प्राप्त कर रही थीं। कर्ण प्रिय शंख, पटह, सिंहनाद, नगाड़े आदि की सुमधुर ध्वनि से कर्णों

+ इस क्षीर समुद्र के स्वामी विमलप्रभ तथा विमल नाम के दो देव कहे गए हैं। (ति० प० पृष्ठ ५.३५)

को अपूर्व तृप्ति मिल रही थी। क्षीर सागर से लाए गए कलशों की शोभा अद्भुत आनन्द तथा सौन्दर्य प्रद थी।

सौधर्मेन्द्र का अनुकरण करते हुए जब संपूर्ण कल्पवासी इंद्रों ने स्वर्ण के कलशों की धारा त्रिशलानन्दन के शरीर पर छोड़ी उस समय प्रभु की शक्ति तथा धैर्य देखकर सबको आश्चर्य होता था।

अभिषेक का सौन्दर्य—पारस पुराण में जिनेन्द्र देव के अभिषेक के सम्बन्ध में ये पंक्तियां मधुर लगती हैं :—

चौपाई—सहजभुजा सुरपति तब करी, भूषन भूषित शोभा भरी।
इस औसर हरि सोहैं एम, भूषणांग सुरतरुवर जेम ॥ ६१ ॥
कलश हाथ हरि लीने जाम, भाजनांग सम शोभा ताम।
तीन बार कीनौ जयकार, कलशोद्धरन मंत्र उचार ॥ ६२ ॥
इहिं विधि श्री सौधर्माधीश, ढाले कलश स्वामि के शीश।
तब सब इंद्र कियो जिनन्हौन, अतुल उछाव बढ्यौ जगभौन ॥ ६३ ॥
महाधार जिनमस्तक दरी, मानो नभ-गंगा अवतरी।
मुदित असंख्य अमरगन तबैं, जै-जैकार कियो मिलि सबैं ॥ ६४ ॥
उपज्यो अति कोलाहल सार दशदिशा बधिर भई तिहि बार।
भयो असम औसर इहि भाय, वचन द्वार वरनो नहि जाय ॥ ६५ ॥
जा धारा सो गिरि शिखर खंड खंड हो जाय।
सो धारा जिनदेह पे फूलकली सम थाय ॥ ६६ ॥

कवि के ये शब्द वास्तविकता पूर्ण हैं—

अप्रमान वीरज-धनी तीर्थंकर प्रभु होय।
तातैं तिनकी शक्ति को, उपमा लगै न कोय ॥ ६७ ॥

हरिवंश पुराण में लिखा है -

ततः सुरपतिस्त्रियो जिनमुपेत्य शच्यादयः।
सुगंधित-तनु-पूर्वकैः मृदुकराः समुद्वर्तनम् ॥
प्रचक्रुरभिषेचने शुभ पयोभिरुच्चैर्घटैः।
पयोधरभरैर्निजैरिव समं समावर्जितैः ॥ ५४–पर्व ३८ ॥

देवों द्वारा अभिषेक पश्चात इंद्राणी आदि देवियां भगवान के समीप आई और अतिशय सुगंधित पदार्थों से उनका उबटन करने लगी और उत्तम जल से भरे हुये घड़ों से सानन्द अभिषेक करने लगीं।

इंद्र की आशंका—इन त्रिशलानन्दन प्रभु के जन्माभिषेक के समय एक अपूर्व घटना हो गई थी। इंद्र के मन में एक शंका उत्पन्न हो गई थी, कि भगवान शरीर अत्यन्त छोटा है, उस पर महान कलशों की धारा कोई क्लेश तो उत्पन्न न करेगी?

इस बात को भगवान ने अवधिज्ञान से जानकर सुरेन्द्र को संशय विमुक्त करने के लिए अपने पैर के अंगुष्ठ से उस महान गिरिराज को कंपित कर दिया था। इससे प्रभावित हो इंद्र ने इन प्रभु का वर्धमान के सिवाय वीर नाम भी रखा था। आचार्य प्रभाचन्द्र ने बृहत्प्रतिक्रमण की टीका मे उपरोक्त कथन को इन शब्दों द्वारा स्पष्ट किया है :—
"जन्माभिषेके च लघु शरीर-दर्शनादाशंकितवृत्तेरिंद्रस्यस्व-सामर्थ्य-ख्यापनार्थं पादांगुष्ठेन मेरु संचालनादिद्रेण 'वीर' इति नाम कृतम्" (पृष्ठ ९६)

वर्धमान चरित्र में जन्माभिषेक की यह घटना इस प्रकार निबद्ध की गई है :—

तस्मिन् तदा क्षुवति कंपित-शैलराजे।
घोणा-प्रविष्ट-सलिलात्पृथुकेप्यजस्रम् ॥
इन्द्रादयस्तृणमिवैकपदे निपेतुः ।
वीर्यं निसर्गजमनंतमहो जिनानाम ॥ ८२-सर्ग १७ ॥

जिस समय इन्द्र ने बाल जिनेन्द्र का अभिषेक किया, उस समय प्रभु की नासिका में कुछ जल चला गया, जिससे भगवान को छींक आ गई। उससे मेरु पर्वत कंपित हो गया और इन्द्रादि तृण सदृश सहसा गिर पड़े। जिनेन्द्र के स्वाभाविक अपरिमित बल है।

पद्मपुराण में इस सम्बन्ध में लिखा है :—

पादांगुष्ठेन यो मेरुमनायासेन कंपयत् ।
लेभे नाम महावीर इति नाकालयाधिपात् ॥ ७६–सर्ग २ ॥

भगवान वर्धमान जिनेन्द्र ने बिना श्रम के पैर के अंगूठे के द्वारा मेरु को कंपित कर दिया था, इससे देवेन्द्र ने उनका नाम 'महावीर' रखा था।+

भगवान के अभिषेक के समय वह पर्वत क्षीर सागर की धारा से धवल रूप हो गया था। हरिवंश पुराण में लिखा है:—

दृष्टः सुरगणैर्यः प्राग् मंदरो रत्न-पिंजरः।
स एव क्षीरपूरोघैर्धवलीकृत विग्रहः ॥ १६८–सर्ग ८ ॥

जो मेरु देवों के आगमन के समय रत्नों से पीत लगता था, वह क्षीरसागर के जल प्रवाह से धवल वर्ण दिखने लगा था।

तदाऽत्यंत परोक्षोपि प्रत्यक्षः क्षीर-वारिधिः।
कृतः खेचर-संघातै - र्जिन-जन्माभिषेचने ॥ १६६ ॥

उस समय क्षीर सागर यद्यपि मनुष्यों के लिए अत्यन्त परोक्ष था, किन्तु देव वृन्द ने जिनेन्द्र के जलाभिषेक के समय उसको प्रत्यक्ष करा दिया था।

अपूर्व स्वप्न :—

आचार्य के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक, गंभीर तथा गौरवपूर्ण हैं:—

स्नानासनमभून्मेरुः स्नानवारि - पयोम्बुधेः ।
स्नान-संपादकादेवाः स्नान मीदृग् जिनस्य तत् ॥ १७० ॥

स्नान के लिए सुरगिरि मेरु आसन बना, क्षीर समुद्र का जल स्नान का जल हुआ तथा स्नान कराने वाले देवगण हुए। ऐसा अपूर्व वह जिन भगवान का स्नान था।

+ जिनोच्छ्वास-मुहुः क्षिप्त–क्षीरवारि-प्लवेरिताः।
प्लवंते स्म क्षणं देवा क्षीरौघे मक्षिकौघवत् ॥ १६७–८ हरि० पुरा०

भगवान के अभिषेक के विषय में विचार करने पर यह प्रतीत होगा, कि यह श्रेष्ठ अभिषेक दया के देवता का था। उस समय विश्व-हितंकर पुण्य मूर्ति प्रभु की सेवा में विश्व का समस्त वैभव आ उपस्थित होता है। त्रिशलानन्दन प्रभु के तीर्थंकर प्रकृति का उदय तो त्रयोदशम गुणस्थान में होगा, यहां उसकी मौजूदगी में यह अद्भुत महोत्सव हो रहा है।

पुण्य का अभिषेक—श्रेष्ठ पुण्य को धारण करने वाले जिनेन्द्र का अभिषेक पुण्य का ही अभिषेक था, जिसमें सारे जगत् का श्रेष्ठ पुण्य देवेन्द्रों आदि के रूप से भाग ले रहा था। वहाँ पुण्य का साम्राज्य था। वह पुण्य का सिंधु उद्वेलित हो जीवों को पाप विमुक्त बना अपूर्व आनन्द प्रदान करता हुआ जीवों को मोक्षोन्मुख बना रहा था।

शुद्ध जल से अभिषेक के अनन्तर गंधोदक से भगवान का अभिषेक किया गया था।

> कृत्वा गंधोदकैरित्थं अभिषेकं सुरोत्तमाः ।
> जगतां शांतये शांतिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥ १६७ १३ ॥
>
> महापुराण

इस प्रकार गंधोदक- सुगंधित जल से भगवान का अभिषेक करने के उपरान्त इन्द्रों ने जगत् की शांति के लिए उच्च स्वर से शांतिमन्त्र का पाठ किया।

इसी पद्धति का अनुकरण करते हुए प्रतीत होता है महाभिषेक-विधि पूर्ण होने पर शान्ति धारा का कार्य सम्पन्न किया जाता है।

गन्धोदक की पूज्यता—बाल-जिनेन्द्र के अभिषेक के जल को विश्व पूज्यता प्राप्त हो गई थी। महान मुनीश्वर भी उसका आदर करते थे।

महापुराण में लिखा है :—

माननीया मुनीन्द्राणां जगतामेकपावनी ।
साऽव्यात् गंधाम्बुधारास्मान् या स्म व्योमापगायते ॥ १६५ ॥

जो श्रेष्ठ मुनियों द्वारा आदरणीय है, जो जगत् को पवित्र करने वाले पदार्थों से अद्वितीय है और जो आकाश गंगा के समान शोभायमान है, वह गन्धोदक धारा हम सबकी रक्षा करे।

गन्धोदक का प्रभाव- भगवान के महाभिषेक के गन्धोदक का अपूर्व प्रभाव आज भी प्रत्यक्ष है। यमराज के प्रतिनिधि नागराज के द्वारा काटे जाने पर जिनके जीवन की आशा छोड़ दी गई है, ऐसे भी व्यक्ति गन्धोदक लेपण से नीरोग हुए हैं।

एक बार हम 'चारित्र चक्रवर्ती' ग्रन्थ के लिए सामग्री संग्रह के उद्देश्य से प्रातः स्मरणीय निर्ग्रन्थ तथा वीतराग गुरुदेव १०८ आचार्य शांति-सागर महाराज के जन्म स्थान भोजग्राम (बेलगाँव जिला) गए थे। वहाँ हमें एक त्यागी महाराज मिले, जो पहले सम्पन्न जमींदार पाटील थे।

एक बार एक भयंकर सर्पराज ने उन्हें डस दिया। जीवन की आशा भी शेष नहीं थी। उस समय उन्होंने यह नियम किया था, यदि इस विपत्ति से हम बच गए, तो फिर घर से विरक्त होकर क्षुल्लक दीक्षा लेंगे।" उन्होंने हमसे कहा था मैं बड़ी दुष्ट प्रकृति का था। मूर्ति दर्शन के विरुद्ध यह बकता था, कि यह पत्थर का देवता क्या देगा?" भगवान के अभिषेक की समस्त सामग्री (जिसमें घी, दूध, दही, जल, सुगन्धादि थी) मेरे शरीर पर डाली गई। तत्काल मेरा विष उतर गया। मेरे मनमें भगवान के धर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो गई। मैंने १०८ आचार्य पाय सागर महाराज से क्षुल्लक दीक्षा ली और अब ऐलक बन गया हूँ।" वे दो उपवास के पश्चात् आहार लिया करते थे। ऐसा अनुभव कई लोगों ने सुनाया।

आज जो लोग सकटग्रस्त हो हजारों रुपया अभक्ष्य दवा-दारू आदि में खर्च करते हुए भी असफल होते हैं और अन्त में कुमति

में जाते हैं, वे यदि महाभिषेक द्वारा प्राप्त जिनेन्द्र गन्धोदक की महिमा पर विश्वास करके उससे लाभ लें, तो आत्मा का हित हो, जीवका कुगति में पतन न हो।

इस प्रसङ्ग में यह बात भी लिखना आवश्यक है, कि यदि क्रियाओं को शास्त्रानुकूल न करके उनमें मनमानी काटछांट करके कार्य किया, तो कैसे मनोरथ सफल होगा?

कुछ लोग अपने को महान आचार्यों से भी बड़ा मान अहंकार-मूर्ति बनकर यथेच्छ और यद्वातद्वा कार्य करते हैं और अपने कषायों की पुष्टि के लिए पन्थ विशेष या पण्डित विशेष के नाम का आश्रय लेते हैं।

आगम पन्थ—आत्मा का कल्याण जिसे इष्ट है, वह आगम-पन्थ को शिरोधार्य करता है। कभी-कभी पन्थों के नाम पर लोग आगम को छोड़ अपने पक्ष के अनुसार कार्य करते हैं। उन्हें मालूम होना चाहिए कि ऋषि-मुनि प्रणीत आगम में किसी पन्थ का नाम नहीं है। कभी ये पन्थ मोही आगम के विरुद्ध जाकर आगमानुसार प्रवृत्ति करने पर विघ्न उपस्थित करते हैं। सहृदय सत्पुरुष का कर्तव्य है कि अपनी आत्मा पर ही दया कर आगम द्वारा प्रकाशित पथ पर प्रवृत्ति करे। आगम पथ पर चलने से मृत्यु भी सुगति का हेतु बनती है।

आगम विमुख बनने वाला जीव कुगति में कष्ट पाता है। इस विषय में भगवान महावीर का पूर्व जीवन महान प्रकाश देता है। मरीचि-कुमार के जीवन ने स्वच्छन्द मार्ग को अपना कर क्या-क्या कष्ट नहीं पाए? अतः मिथ्यात्व से बचना चाहिए। सर्वज्ञ प्रणीत वाणी के अनुसार रचा गया ऋषि प्रणीत शास्त्र ही आगम है। परिग्रह-पिशाच के अधीन होकर जो कनक-कामिनी के केन्द्र स्थल गृहवास में फँसा हुआ है, उसके द्वारा प्ररूपित वाणी आगम नहीं है। जितने अंश में वह ऋषि प्रणीत कथन के अनुसार है, उतने अंश में वह आदर योग्य अवश्य है, किन्तु यदि वह महान आचार्यों के कथन के विरुद्ध पड़ती

है, तो उसे छोड़ने में इस प्रकार तत्पर रहना चाहिये, जिस प्रकार सत्यप्रेमी इन्द्रभूति गौतम ने अपने अहंकार तथा चिरकालीन भ्रान्त विचार का तत्काल त्यागकर महावीर भगवान के चरणों का शरण लिया था। वे गौतम गणधर बने, केवली हुए और अब सिद्धों की श्रेणी में पहुँच गए! कभी-कभी हमें भी ऐसे जिद्दी लोग मिलते हैं जो न ऋषि प्रणीत प्रमाण बताते हैं और न कोई स्वस्थ शास्त्रधार, किन्तु अपनी आम्नाय और पूर्वजों के नाम पर सर्वज्ञ प्रणीत आगम को दोष देते हैं। ऐसा दुराग्रह उनके अंधकारमय भविष्य का निश्चायक है।

इस समय यहाँ भगवान साक्षात् नहीं है, उनकी मङ्गलवाणी ही है। उसका आदर करके उस पर श्रद्धा करते हुए हमें जीवन को विशुद्ध बनाना चाहिए।

कुछ हीनाचरणी गृहस्थ पुण्य के विषय में अद्भुत धारणा बांधकर पापमय आचरण को न छोड़कर पुण्याचरण के विरुद्ध प्रलाप करते हैं। उनमे कई ऐसे भी वक्ता होते हैं, जिन्हे मद्य, मांस, मधु का त्याग अनावश्यक लगता है। ऐसी अद्भुत विचारधाराएँ अविवेक के पर्वत से निकलकर अपनी बाढ़ द्वारा अस्वाध्यायशील समाज को डुबो रही है। जिनेन्द्र भगवान का जन्माभिषेक महोत्सव जिन्होंने देखा, जिन्होने उसका वर्णन सुना, जिन्होंने उसका विचार किया, सबने पुण्य का ही संचय किया है। यह भगवान का गन्धोदक भी पुण्यांकुर का उत्पादक कहा गया है।

पूजा में यह पाठ पढ़ा जाता है:—

मुक्ति-श्री-वनिता-करोदकमिदं पुण्यांकुरोत्पादकम् ।
नागेन्द्र-त्रिदशेन्द्र-चक्र-पदवी-राज्याभिषेकोदयम् ॥
सम्यग्ज्ञान-चरित्र-दर्शनलता-संवृद्धि-संपादकम् ।
कीर्ति-श्री-जयसाधकं तव जिन स्नानस्य गंधोदकम् ॥

हे जिनेन्द्र! आपके अभिषेक का गन्धोदक मुक्ति लक्ष्मी रूपी स्त्री के कर के उदक समान है, पुण्य रूपी अंकुर को उत्पन्न करने

वाला है, नागेन्द्र, देवेन्द्र और चक्रवर्ती के राज्याभिषेक रूप उन्नति का कारण है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी लता की वृद्धि का सम्पादक है। यह गन्धोदक कीर्ति, सम्पत्ति तथा विजय का साधक है।

गन्धोदक बहुत अपूर्व वस्तु है। श्रद्धा और भक्तिपूर्वक उसका सम्यक् उपयोग आश्चर्यप्रद मधुर फल प्रदान करता है। नेत्र रोग, त्रिदोष जनित व्याधि, पीलिया, क्षय. कुष्ठ, विषमज्वर, संग्रहिणी तथा क्षय रोग तक इस गन्धोदक से दूर होते हैं। कहा भी है :—

नेत्र-द्वन्द्व-रुजा-विनाशनकरं गात्रं पवित्रीकरम्।
वातोत्पित्त-कफादिदोषरहितं गात्र च सूत्रं भवेत्॥
कामाला-क्षय-कुष्ठरोग-विषम-ग्राह-क्षयं कारि तत्।
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्र-पाद-युगल-स्नानस्य गंधोदकम्॥

भगवान का अभिषेक होने के अनन्तर श्री, शची, कीर्ति और लक्ष्मी देवियों ने उस समय प्रभु का शरीर विविध अलंकारों आदि से सुसज्जित किया था। जिनका रोम-रोम सौन्दर्य रस से भरा था, उन प्रभु को बाह्य सामग्री द्वारा समलंकृत देख सुरराज भी अत्यन्त हर्षित हुए थे। यही बात हरिवंशपुराण में लिखी गई है :—

श्री-शची-कीर्ति-लक्ष्मीभिः स्वहस्तैः कृतमंडनः।
स तथाऽऽखंडलादीनां देवानामहरन्मनः॥ १६५-सर्ग ८॥

इंद्राणी आदि ने दिव्य आभूषणों तथा दिव्य वस्त्रों से प्रभु को अलंकृत किया था। उस सम्बन्ध में आगम में कहा है, कि सौधर्म तथा ईशान स्वर्ग में रत्नमयी सांकलों से लटकते हुए रत्नमय करंडकों में भरत तथा ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों के उपभोग में आने वाले आभूषण आदि रहते हैं। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है कि ये रत्न करंडक महान रमणीय हैं, अनादि-निधन हैं, इंद्रादि के द्वारा पूजनीय हैं — 'सक्कादि-पूजणिज्जा' (अध्याय ८, गाथा ४०३, पृ० ८२६)

त्रिलोकसार में लिखा है कि ये रत्नकरंडक वज्रमय द्वादश धारा युक्त मानस्तंभों में पाए जाते हैं। "सौधर्मद्विके तौ मानस्तंभौ भरतैरावत-तीर्थंकर-प्रतिबद्धौ स्याताम्"। सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के मानस्तंभों में पूर्वापर विदेह के तीर्थंकरों के आभूषण रहते हैं (गाथा ५२१, ५२२)

उस समय प्रभु को इंद्र की गोदी में विराजमान देखकर इंद्राणी को बड़ा विस्मय हो रहा था। भगवज्जिनसेन स्वामी लिखते हैं :—

संक्रंदनोपि तद्रूपशोभां द्रष्टुं तदातनीम्।
सहस्राक्षोऽभवन्नूनं स्पृहयालुरतृप्तिकः ॥ २०–पर्व १४ ॥

इन्द्र ने उस समय की रूप-संपदा देखने के लिए हजार नेत्र बनाए, फिर भी तृप्ति नहीं हुई।

समंतभद्र स्वामी सदृश श्रेष्ठ तार्किक आचार्य भी स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं :–

तव रूपस्य सौन्दर्यं दृष्ट्वा तृप्तिमनापिवान्।
द्व्यक्षः शक्रः सहस्राक्षः बभूव बहु-विस्मयः ॥

दो नेत्र धारी सुरेन्द्र आपके रूप के सौन्दर्य को देखकर परितृप्त नहीं हुआ, इसलिए अत्यन्त चकित हो उसने सहस्रनेत्र बनाकर दर्शन किया।

भगवान का चिन्ह भगवान के दाहिने पैर के अंगूठे में सिंह का चिह्न इंद्र के दृष्टिगोचर हुआ था, अतः उसने इन प्रभु को सिंह-लांछन-सिंह के चिह्न वाला व्यक्त किया, क्योंकि शास्त्र में लिखा है :—

जम्मणकाले जस्स दु दाहिण-पायम्मि होई जो चिण्हं।
तं लक्खण-पाउत्त आगम सुत्तेसु जिणदेहं ॥

हरिवंशपुराण मे लिखा है कि भगवान को आभूषणों से समलंकृत करने के अनन्तर इन्द्र ने उनका नामकरण किया, पश्चात् उनकी स्तुति की थी। गुणभद्र स्वामी ने उत्तर पुराण में लिखा है :—

अलं तदिति तं भक्त्या विभूष्योद्यद्-विभूषणैः।
वीरः श्रीवर्धमानस्ते च्वित्याख्या-द्वितयं व्यधात् ॥ २७६, पर्व ७४ ॥

बहुत कथन करने से क्या ? इन्द्र ने बड़ी भक्ति से प्रभु को देदीप्यमान आभूषणों से विभूषित कर उनके वीर और वर्धमान ये दो नाम रखे।

महापुराण में भगवज्जिनसेन स्वामी ने वृषभनाथ तीर्थंकर का वर्णन करते हुए लिखा है कि भगवान अयोध्या में अभिषेक के पश्चात् पहुँच गए। वहां महाराज नाभिराज मरुदेवी के समक्ष इंद्रों ने उनका नाम वृषभदेव रक्खा था। इस सम्बन्ध में महापुराण के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, "महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ इंद्र के नाट्य को देखकर विस्मय को प्राप्त हुए तथा इंद्रों के द्वारा की गई प्रशंसा को प्राप्त हुए। ये भगवान वृषभदेव जगत् भर में ज्येष्ठ हैं और जगत् का हित करनेवाली धर्म रूपी अमृत की वर्षा करेंगे इसलिए ही इंद्रों ने उनका नाम वृषभदेव रक्खा था।"

वृषभोय जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यसि जगद्धितम्।
धर्मामृत मितीन्द्रास्त अकार्षुर्वृषभाह्वयम् ॥ १६० ॥–१४ पर्व ॥

वर्धमान चरित्र में लिखा है कि महाराज सिद्धार्थ ने भगवान के गर्भावतरण से अपने कुल की संपत्ति चन्द्रकला के समान प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त होती हुई देखकर जन्म के दसवें दिवस में देवों के साथ भगवान का नाम श्रीवर्धमान रखा था।

तद्गर्भतः प्रतिदिनं स्वकुलस्य लक्ष्मीं।
दृष्ट्वा मुदा विधुकलामिव वर्धमानाम् ॥
सार्धं सुरैर्भगवतो दशमेह्नि तस्य।
श्री वर्धमान इति नाम चकार राजा ॥ ६१–सर्ग १७ ॥

प्रभु की स्तुति—सुमेरु शिखर पर भगवान का अभिषेक उत्कृष्ट वैभव तथा वर्णनातीत आनन्द पूर्वक संपन्न हो चुका। उस समय इन्द्र ने उन जिनेन्द्र की बड़ी भक्ति के साथ स्तुति की। इन्द्र ने कहा:—

त्वं देव परमानन्दम् अस्माकं कर्तुमुद्गतः।
किमु प्रबोधमायान्ति विनार्कात् कमलाकराः ॥ २१ ॥

हे देव ! आप हम लोगों को श्रेष्ठ आनन्द प्रदान करने के लिए ही उदित हुए हैं। क्या कभी सूर्य के बिना कमलों का समूह प्रबोध को प्राप्त करता है ?

मिथ्यान्धकारकूपेऽस्मिन् निपतन्तमिमम् जनम् ।
त्वमुद्धर्तुमना धर्महस्तावलम्बं प्रदास्यसि ॥ २४ ॥

हे प्रभो ! मिथ्यात्व रूप अंधकार युक्त कूप में पड़े हुए संसारी जीवों के उद्धार करने की इच्छा से आप धर्म रूपी हस्तावलंबन प्रदान करेंगे।

त्वत्तः कल्याणमाप्स्यन्ति संसारामय-लंघिता ।
उल्लाघिता भवद्वाक्य-भेषजैरमृतोपमैः ॥ २६ ॥

हे भगवन ! संसार रूपी रोग से व्यथित ये प्राणी अमृत सदृश आपकी वाणी रूपी औषधि के द्वारा नीरोग होकर आपके निमित्त से कल्याण को प्राप्त करेंगे।

अभिषेक का रहस्य --

अस्नान-पूत-गात्रोपि स्नपितोऽस्यद्य मन्दरे ।
पवित्रयितुमेवेनत् जगदेनो मलीमसम् ॥ ३२ ॥

हे नाथ ! आप स्नान के बिना ही निसर्गतः पवित्र हैं, फिर भी जो आपका मेरु गिरि पर अभिषेक किया गया है, वह पापों से मलिन किए गए इस जगत को पवित्र करने के लिए ही किया गया है।

अविलिप्त - सुगंधिस्त्वं अविभूषणसुन्दर. ।
भक्तैरभ्यर्चितोऽस्माभि. भूषणैः सानुलेपनैः ॥ ३५ ॥

हे देव ! आपका शरीर बिना लेप लगाए स्वयं सुगंध युक्त है तथा विभूषण के बिना ही सुन्दर है, तथापि हम भक्तों ने भक्ति वश ही सुगंधित द्रव्यों के लेप और आभूषणों से आपकी पूजा की है।

पूतात्मने नमस्तुभ्य नमः ख्यात-गुणाय ते ।
नमो भीतिभिदे तुभ्य गुणानामेकभूतये ॥ ४१ ॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी आत्मा पवित्र है, अतः आपको नमस्कार हो। आपके गुण प्रसिद्ध हैं, इसलिए आपको नमस्कार हो। आप जन्म-जरा मरण का भय नष्ट करने वाले हैं तथा गुणों के एक मात्र उत्पत्ति स्थान हैं, अतः आपको नमस्कार हो।

अभिषेक के पश्चात् जो स्तुति की गई उसे पारस पुराण में इस प्रकार निबद्ध किया गया है : -

तुम जग भ्रम नाशन अवतरे। हमसे दास महासुख भरे।
बिन रवि-उदय तिमिर क्यों जाय। कैसे कमल-बाग विकसाय॥
मिथ्या मत रजनी अति घोर। मूसै धर्म कुलिंगी चोर।
जो प्रभु-जन्म प्रभात न थाय। तो किमि प्रजा बसै सुख पाय॥ २॥
ये अनादि ससारी जीव। बिलखैं भवगद ग्रसे अतीव।
सो दुःख मेटन दया-निधान। राजवैद जन्मे भगवान॥ ३॥
आप परम पावन परमेश। औरन को शुचि करहु विशेष।
ज्यो शशि सेत प्रभा तनधरै। सेत सरूप सबनको करै॥ ४॥
बिन स्नान तुम निर्मल नित्त। अंतर बाहर सहज पवित्र।
हम मज्जनविधि कीनी आज। निज-पवित्र कारन जिन राज॥ ५॥

इस प्रकार स्तुति के पश्चात् परम आनन्द से परिपूर्ण सुरेन्द्रों ने कुण्डलपुर वापिस आने का विचार किया। उस समय क्या हुआ ? इस पर कवि भूधरदास जी प्रकाश डालते हैं :—

तब सब देव जनमपुर-थान। पूरवली विधि कियो पयान।
चढ्यो इन्द्र ऐरावत शीश, गोद लिए त्रिभुवन पति ईश॥ ५॥
पूरववत दुदभि धुनि गाज। वे ही गीत निरत सब साज॥ ६॥
आये जय जय करत अशेष। पिता भवन कीनो परवेश।
मनिमय आंगन में हरि आय। हेम सिंहासन पर प्रभु थाप॥

महाराज सिद्धार्थ का आनन्द—कुण्डपुर में प्रभु के आगमन पर महाराज सिद्धार्थ को अपार आनन्द प्राप्त हुआ। मानवता के चरम

विकास की अवस्थारूप तीर्थंकरत्व से भूषित अपने अद्वितीय पुत्र को देख पिता को कितनी प्रसन्नता हुई, इसका कौन अनुमान कर सकता है ? उसका वर्णन करने की क्षमता किसमें है ? वह वाणी के अगोचर था। महाराज सिद्धार्थ ने त्रिशलानन्दन को देखा :—

तेज-पुंज निरुपम छबि देह। रोमांचित तन बढ़यो सनेह।
माया नींद शची तब हरी। जिन जननी जागी सुख भरी॥

माया निद्रा से जग जाने पर प्रियकारिणी माता ने क्या देखा ?

भूषन-भूषित कांति विशाल। भर लोयन निरख्यो जिन-बाल।
अति प्रमोद उर उमग्यो नबै। पूरन भए मनोरथ सबै॥

उस समय सुरेन्द्र ने माता-पिता का समुचित समादर-सत्कार किया :—

तब सुरेश रोमांचित काय। माता-पिता पूजे मन लाय।
भूषन-वसन भेंट बहु धरी। हाथ जोर जुग थुति विस्तरी॥

सुरेन्द्र ने जिनेन्द्र की अपूर्व स्तुति की थी।

भगवान जिनसेन कहते हैं :—

भो नाभिराज ! सत्य त्व उदयाद्रिर्महोदयः।
देवी प्राच्येव यज्ज्योतिः युष्मत्त परमुद् बभौ॥ ८१—१४॥
तुम जगमे उदयाचल भूप। पूरब दिशि देवी शुचि रूप।
उदय भए त्रिभुवन-रवि जहाँ। तुम महिमा वरनन बुधि कहाँ॥

इन्द्र ने भगवान के पिता से जो ये शब्द कहे, वे वास्तविक होने के साथ अत्यन्त महत्वास्पद भी हैं :—

देवधिष्ण्यमिवागारम इदमाराध्यमद्य वाम्।
पूज्यौ युवां च नः शश्वत् पितरौ जगतां पितुः॥ ८२॥

आज आपका राजभवन हम लोगों के लिए जिनालय समान पूज्य है। आप जगत् पिता के भी माता और पिता हो। अतः आप हम लोगों के लिए सर्वदा पूज्य हैं।

इन्द्र ने भगवान के जन्माभिषेक का वैभव, लोकोत्तरता, प्रभु की अपूर्व सामर्थ्य आदि का सजीव चित्रण जब माता त्रिशला तथा सिद्धार्थ नरेश के समक्ष किया, तब वे प्रमोद और विस्मय की चरम सीमा को प्राप्त हुए थे।

सुर समाज द्वारा सुरगिरि पर श्रेष्ठ वैभव तथा सौन्दर्य के साथ अद्भुत जन्माभिषेक का आनन्द हुआ था, किन्तु कुण्डपुर की जनता इन नाथ को पाकर आज कृतार्थ बनी है। राज परिवार त्रिभुवन पूज्य हुआ है। इससे क्या ये प्रभु का जन्मोत्सव पुनः नहीं मनावेंगे ?

इस प्रश्न के लिए अवकाश नहीं है। भगवान के पिता स्वयं इन्द्र से परामर्श करके उस जन्मपुरी को भी श्रेष्ठ महोत्सव पुरी बनाते हैं। पारस पुराण मे लिखा है, इन्द्र ने भगवान के पिता-माता से कहा :—

कही सकल पुरवली कथा, मेरू महोच्छव कीनो जथा।
तब निज नगर विषै भूपाल, जन्म उछाह कियो तिहि काल ॥
हरषत सब पुरजन परिवार, घर घर भए मङ्गलाचार।
घर घर कामिनि गावै गीत। घर घर होय निरत संगीत ॥
मगलीक बाजे बहु भेव बजन लगे सकल सुखदेव।
श्री जिन भवन न्हौन विस्तार, किए सकल मङ्गल आचार।
छिरक्यो चन्दन नगर मंझार रतन साथिया धरे संवार।
जाचकदान, सुजन सम्मान जथाजोग सब रीति विधान ॥

उस समय सब लोगों की पूर्णतया तृप्ति हुई थी। कवि कहते हैं—

पूरन आश भये सब लोय, दुःखी दीन दीखै नहिं कोय ॥

महापुराणकार का यह वर्णन अपूर्व है :—

"उस महोत्सव में नागरिक लोग देवों सदृश तथा नगर की नारियां अप्सराओं के समान लगती थीं। संपूर्ण दिशाएं सुगंधित धूप से व्याप्त हो गई थीं। संगीत, मृदंग आदि की मधुर ध्वनि सर्वत्र

गूंजती थी। नगर की पताकाएँ फहराते हुए देखकर ऐसा प्रतीत होता था, कि वह नगरी नृत्य कर रही हो।"

ततो गीतैश्च वादित्रैश्च समंगलैः।
व्यग्रः पौरजनः सर्वोप्यासीदानद निर्भरः॥ ६२-१४॥

इस प्रकार उस जन्मपुरी में कहीं गीत, कहीं वादित्रों की ध्वनि तथा विविध मंगल प्रवृत्तियां हो रही थीं; जिनमें समस्त पुरवासी संलग्न थे। इन कार्यों को करने से वे आनन्द रस से भरपूर हो रहे थे।

यह कथन विशेष गौरवपूर्ण है :—

न तदाकोप्यभूद् दीनो, न तदाकोपि दुर्विधः।
न तदाकोप्यपूर्णेच्छो न तदा कोप्य-कौतुकः॥ ६३-१४॥

उस जन्म नगरी में न कोई दीन था, न निर्धन था, न अपरिपूर्ण इच्छा वाला था, तथा ऐसा भी कोई नहीं था, जिसका हृदय आनन्द से परिपूर्ण न हुआ हो।

प्रथम महावीर जयंती समारोह—दिव्य समाज ने यथा शक्ति सुरगिरि पर उत्सव मनाया था, तो उस कुंडपुर की सौभाग्य शालिनी जनता ने भी आनंदोत्सव मनाने में तनिक भी कमी नहीं की थी।

यथार्थ में यह वास्तविक सर्व प्रथम महावीरजयन्ती का महोत्सव मनाया जा रहा था। देवों ने भगवान का जन्माभिषेक महोत्सव चैत्र शुक्ला चौदस को मनाया था। मेरु गिरि के जन्मोत्सव के पश्चात् कुण्डपुर में जन्मोत्सव हुआ था। जयधवलाटीका में लिखा है, "चैत्त-सुक्क-पक्ख-तेरसिए रत्तीए" चैत्र सुदी तेरस की रात्रि को भगवान का जन्म हुआ था। पूज्यपाद स्वामी ने निर्वाण भक्ति में लिखा है कि—

चैत्र शुक्ल चौदस को प्रभु का अभिषेक

हस्ताश्रिते शशांके चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशी-दिवसे।
पूर्वाण्हे रत्नघटै र्विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम्॥ ५॥

चैत्रशुक्ल चौदस को पूर्वाण्ह में जब चन्द्रमा हस्त नक्षत्र का आश्रय ले रहा था, तब देवेन्द्रों ने रत्नमयी कलशों से वीर भगवान का अभिषेक किया था।

त्रिविध पुण्य मूर्तियां :--पुण्यशीला प्रियकारिणी माता तथा विश्व पूज्य पिता सिद्धार्थ महाराज के निकट वीर जिनेन्द्र को देखकर सुरेन्द्र के मन में उत्साह तथा आनन्द का सागर लहराने लगा। वह देवेन्द्र इन त्रिविध पुण्य मूर्तियों का दर्शन करके अपार हर्ष को प्राप्त कर रहा था। अपनी जननी की गोदी में बाल जिनेन्द्र बैठे हों, समीप में उनके पिता विद्यमान हों, और वह स्थान हो जहाँ उन त्रिलोकीनाथ का जन्म हुआ हो, इस संपूर्ण दिव्य तथा पवित्र पुण्य सामग्री समुदाय ने सुरेन्द्र को आनन्द-विभोर कर दिया और इससे इन्द्र ने आनन्द नाम का नाटक किया।

नाटक :—इन्द्र ने सर्व प्रथम धर्म पुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ तथा काम पुरुषार्थ रुप फल को सिद्ध करनेवाला गर्भावतार सम्बन्धी नाटक किया और फिर जन्माभिषेक सम्बन्धी अभिनय किया। भगवान के पूर्वभवों को बताने वाला भी नाटक किया गया था।

तांडव नृत्य :—नाटक का पूर्व रंग प्रारम्भ करते समय इन्द्र ने पुष्पांजलि क्षेपण करते हुए 'ताण्डवारंभमेवाग्रे' सर्व प्रथम ताण्डव नृत्य प्रारंभ किया उसमें इन्द्र ने अपनी विक्रिया शक्ति का उपयोग करते हुए अद्भुत रस का श्रेष्ठ प्रदर्शन किया था।

नृत्य करते समय कभी वह एक दिखता था, कभी क्षण भर में अनेक हो जाता था। क्षण भर में लघु होता था, क्षण में विश्व-व्यापी सा दिखता था। क्षण भर में भूमि पर, क्षण भर में आकाश में पहुँच जाता था। उस नृत्य के विषय में महापुराणकार लिखते हैं :—

इन्द्रजालमिवेन्द्रेण प्रयुक्तमभवत् तदा ॥ १३१—१४ ॥

उस समय इन्द्र ने ऐसा नृत्य किया मानों इन्द्रजाल का खेल ही किया हो। इन्द्र द्वारा किया गया नाटक, नृत्य आदि कार्य श्रेष्ठ कलात्मक थे। देव गंधर्व आदि सब उसके साथी थे।

नाटक का ध्येय :-- उस नाटक का ध्येय आर्तध्यान, रौद्रध्यान, काम, क्रोधादि विकारों का पोषण नहीं था। उसके पीछे प्रेरणादायी शक्ति थी, अपार भक्ति तथा शुभ परिणाम, और प्राप्तव्य था असीम आनन्द और पुण्य का अक्षय भण्डार।

संभव है इन्द्र कलामय अद्भुत नृत्य करते हुए त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र से मन ही मन यह कहता हो, "प्रभो ! अनंतकाल से कलाहीन नृत्य जगत् में किए। अब अपना श्रेष्ठ नृत्य तथा नाटक का प्रदर्शन आपके समीप में हो रहा है। यदि आपको यह प्रिय है, तो पुरस्कार में मुक्ति सुख प्रदान कीजिए। यदि यह इष्ट नहीं है, तो कह दीजिए कि अब यह नृत्य का कार्य बन्द करो।"

आजकल विषय-वासना का पोषक गायन, वादन, नर्तन वृद्धिंगत हो रहा है। वे उक्त कलात्मक कृति से अपना समर्थन सोचेंगे, किन्तु ऐसा करना सत्य के प्रतिकूल होगा। भगवान जिनेन्द्र पुण्यमूर्ति थे। उनके समीप पवित्रता तथा पुण्य संचय की ही सामग्री का समुदाय था। उनके निमित्त से पापक्षय तथा पुण्यलाभ होते थे।

देवों का प्रस्थान : अभिषेक करते समय इन्द्र ने भगवान की सामर्थ्य को देखकर उन्हें वीर कहा था, पश्चात् उन प्रभु का नाम वर्धमान हो गया। उन वर्धमान कुमार के यहाँ पन्द्रह माह तक देवों का निरन्तर गमनागमन होता था। अब जन्म महोत्सव संपन्न हो गया। अतः सर्व देवगण अपने अपने स्थान पर चले गए।

परिचर्या का प्रबंध :—अपने दिव्य प्रदेश को जाने के पूर्व इन्द्र ने बाल जिनेन्द्र के योग्य श्रेष्ठ परिचर्या के लिए कुछ देवकुमारों को नियुक्त कर दिया। अब वर्धमान कुमार बालचन्द्र के समान बढ़ रहे थे। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

अथेन्द्रेण करांगुष्ठे निषिक्तममृतं पिबन् ।
पित्रोर्नेत्रामृताहारं वितरन् वर्धते जिनः ॥ १—६ ॥

इन्द्र द्वारा हाथ के अंगुष्ठ में स्थापित अमृत रस का पान करते हुए तथा अपने माता पिता के नेत्रों को आनन्दामृत का आहार कराते हुए वे भगवान वर्धमान हो रहे थे ।

जिनेन्द्र भक्ति में अपूर्व रस तथा मोक्ष प्राप्ति—तीर्थंकर भगवान की पदवी तीन लोक में अपूर्व, अनुपम तथा श्रेष्ठ है । उनके श्रेष्ठ पुण्य के कारण उत्कृष्ट वैभव, विभूति तथा आनन्द के अधिपति देव, देवेन्द्र आदि अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से उन प्रभु के दासानुदास बनते हैं । ऐसा करने में उन्हें महान आनन्द प्राप्त होता है ।

स्वर्ग के दिव्य भोगों, विविध विलासों में उन्हें सरसता और माधुर्य नहीं मिलता । जिनेन्द्र-चन्द्र के पाद पद्मों का आश्रय लेने से एक विलक्षण, कल्पनातीत और पवित्र अनुभूति प्रत्येक प्राणी के हृदय में होती है । तीर्थंकर वर्धमान भगवान, उसके जनक और जननी की सेवा भक्ति द्वारा सुरसमाज ने महान आनन्द और शांति प्राप्त की थी । इसीलिए वे स्वर्ग सदृश सौभाग्य और सौंदर्य के स्थल को छोड़ भगवान के समीप आते थे और अपनी दिव्य-भूमि को लौटने पर अंतःकरण पूर्वक उन वीर प्रभु को प्रणामांजलियाँ अर्पित करते थे ।

जिनेन्द्र की इस सेवा और आराधना का फल भी अपूर्व होता है । सौधर्मेन्द्र की इन्द्राणी इस निर्मल भक्ति और धर्म प्रभावना के प्रसाद से आगामी भव में नर-तन को प्राप्तकर मोक्ष की अधिकारिणी होती है । यही स्थिति सौधर्मेन्द्र की कही गई है । जिस सेवा का मेवा स्वर्गश्री से अनंतगुणी आनन्ददायिनी मुक्ति लक्ष्मी मिलती है उस ओर कौन बुद्धिमान चतुर और विवेकी प्राणी उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति न करेगा ?

वादिराज मुनि ने जिनेन्द्र भक्ति के संबंध में इन्द्र की सेवा का उल्लेख करते हुए बड़ी मार्मिक बात कही है :—

इन्द्रः सेवां तव सुकुरुतां किं तया श्लाघनं ते ।
तस्यैवेयं भवलयकरी श्लाघतामातनोति ॥
तं निस्तारी जनन जलधे सिद्धिकान्तापतिस्त्वं ।
त्वं लोकानां प्रभुरिति तव श्लाघ्यते स्तोत्रमित्थम् ॥२०॥ एकीभावस्तोत्र ॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी सेवा देवेन्द्र करता है, इससे आपकी क्या प्रशंसा हो सकती है ? उसकी यह सेवा संसार-भ्रमण का विनाश करती है, यह प्रशंसा की बात समझनी चाहिए। यदि आपकी स्तुति हो सकती है तो यही होगी कि आप संसार-समुद्र से पार करते हैं। आप सिद्धि लक्ष्मी के स्वामी हैं तथा त्रिलोकी नाथ हैं।

मिथ्या विचार—अपने को तार्किक और विशेष ज्ञानी और सुचतुर मानने वाला व्यक्ति कभी-कभी सोचता है कि भगवान के जीवन में देव-देवेन्द्रों का आगमन तथा उनके द्वारा की गई सेवा आदि का कथन न किया जाता तो चर्चा स्वाभाविक और वास्तविक बन जाती।

ऐसे लोग अपने समान लघुस्तर पर जिनेन्द्र के स्तर को उतारना उचित अनुभव करते हैं। वे इस बात की ओर दृष्टिपात नहीं करते कि किस कठिनता, त्याग, तपश्चर्या, और लोकोत्तर आत्मसाधना के द्वारा अनेक भवों के पुरुषार्थ और परिश्रम के पश्चात् यह तीर्थंकर प्रकृति नाम का कर्म प्राप्त होता है।

इन्हीं वर्धमान प्रभु के पूर्व जीवन पर दृष्टि देते समय हमारे समक्ष उनका भीषण सिंह का स्वरूप उपस्थित होता है, जो वास्तव में क्रूरता में यमराज का सहोदर था, किन्तु जिसने दो मुनीन्द्रों के दिव्य उपदेश से अहिंसा का प्रेम और जीव दया की दिव्य दृष्टि प्राप्त की थी तथा एक माह पर्यन्त आहार का परित्याग कर आत्मसाधना का उद्योग प्रारम्भ किया था।

उसी सिंह के जीव ने आगे के भवों में उन्नत अवस्थाएँ पाते हुए भी अपने उद्योग को वर्धमान रखा था और अब वही आत्मा वर्धमान तीर्थंकर होकर लोकोत्तर पुण्य, तेज, आकर्षण तथा आत्म-सामर्थ्य का

केन्द्र बने, तो इसमें क्या अस्वाभाविकता है, क्या आश्चर्य है ? क्या बुद्धिवाद के विरुद्ध कथन है ? जो बुद्धिवाद विवेक के पीयूष को पीकर पुष्टि प्राप्त करता है, वह प्रगति के पथ पर पुरुष को पहुँचाता है। इसके विपरीत बुद्धिवाद का अभिनय दिखाने वाला, विवेक और सद्विचार का शत्रु यदि तत्वचिन्तन के क्षेत्र में अपनी टाँग अड़ाता है, तो वह कल्याण के तट से दूर होता हुआ, अविद्या और मोह के सिन्धु में अपनी जीवन-नौका को भटकाता फिरता है।

महान मरुभूमि में रहकर जीवन विताने वाला तथा एरण्ड वृक्ष को ही महान वृक्ष राज सोचा करता है। वह बेचारा उस बड़े वट वृक्ष की कल्पना कैसे अपने लघु मस्तिष्क में उतार सकता है, जिस वट-वृक्ष के नीचे सैकड़ों प्राणी रहा करते हैं।

सिंधु सदृश आगम—सर्वज्ञ प्रणीत जिनागम की दृष्टि विशाल है। उसमें ऐसी बातें भी पाई जाती हैं जो कूपमंडूक बुद्धि वाले के गले नहीं उतर पाती। इसका यह अर्थ नहीं है कि सिन्धु के स्वरूप को बताने वाली चर्चा में सत्य से शत्रुता कर स्वाभाविकता और प्राकृतिकता के नाम पर दिव्य जीवन की काँट-छाँट की जाए। तब तो ऐसी स्थिति होगी, जैसी कुरूप, कुडौल तथा विकृत अंग वाले व्यक्ति को आदर्श बना, उसके अनुरूप सौंदर्य पुंज, विभूतिमान व्यक्ति के अंग प्रत्यंग की काट-छाँट कर उसे कुरूपों की कक्षा में बैठने योग्य बनाया जावे। इस संबंध में आत्मकल्याण की आकांक्षा करने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ प्रणीत, वीतराग, निर्ग्रन्थ गुरु परम्परा द्वारा प्रतिपादित प्ररूपण को अपने लिए मार्ग दर्शक स्वीकार करेगा।

बाल प्रभु की सुषमा :—इस विचारधारा द्वारा मानसिक विशुद्धता प्राप्त व्यक्ति यदि वर्धमान प्रभु के दिव्य जीवन पर दृष्टि देगा तो, उसे सभी बातें श्रद्धा, आदर, विश्वास और समृद्धि के योग्य मिलेंगी। आचार्य बताते हैं कि भगवान वर्द्धमान का जीवन क्रम-क्रम से बढ़ रहा है शैशव की अवस्था अद्भुत आनन्ददायिनी थी। स्वस्थ,

सुन्दर, सुसज्जित, सस्मित बालक वैसे ही दिव्य विभूति लगता है। राज-राजेन्द्रों का वैभव उसकी एक मुस्कान और मीठी किलकार के आगे रत्न रहित सा लगता है, तब उस शैशव की स्थिति में बालरूप वर्धमान के माधुर्य, आकर्षण और पवित्रता की कौन कल्पना कर सकता है? उन बालवय वाले प्रभु के साथ देव देवेन्द्र बालरुप धारण कर उन्हें आनंदित करते थे। यह कहना अधिक सत्य होगा, कि उन्हें आनन्दित करने के माध्यम से वे स्वयं श्रेष्ठ आनन्द को प्राप्त किया करते थे। बाल जीवन में शरीर की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का कार्य और उत्तरदायित्व स्वयं सेवार्थ समागत सुर समाज ने स्वीकार किया था। महापुराण में लिखा है :—

धात्र्योनियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरम् ।
मज्जने मण्डने स्तन्ये संस्कारे क्रीडनेऽपि च ॥ १६५-१४ ॥

इन्द्र ने बड़े आदर के साथ भगवान को स्नान कराने, आभूषण पहिनाने, दूध पिलाने, शरीर का संस्कार करने तथा खिलाने के कार्य में अनेक देवांगनाओं को धाय का कार्य सौंपा था।

शैशव :—शैशव अवस्था में भगवान को देखकर माता-पिता अवर्णनीय सुख प्राप्त करते थे। महापुराण में लिखा है :—

ततोऽसौ स्मितमातन्वन् संसर्पन्मणिभूमिषु ।
पित्रोर्मुदं ततानार्थ्ये वयस्यद्भुत् चेष्टितः ॥ १६६-१४ ॥

आश्चर्यप्रद चेष्टाओं को धारण करने वाले वे प्रभु अपनी प्रारंभिक अवस्था में भी मन्द-मन्द हंसते से और कभी मणिमयी भूमि पर गमन करते थे और अपने जनक और जननी को हर्षित करते थे—

जगदानंदि नेत्राणा उत्सवप्रदमूर्जितम् ।
कलोज्ज्वलं तदस्यासीत् शैशवं शशिनो यथा ॥ १६७ ॥

भगवान की वह शैशव अवस्था शशि समान थी कारण, शशि के समान वे विश्व के नेत्रों को आनन्दप्रद थे, महान उत्सव के कारण

बनते थे। चन्द्र अपनी कलाओं से दीप्तिमान है तो वे प्रभु अनेक पवित्र कलाओं के द्वारा दैदीप्यमान हो रहे थे।

श्रीमन्मुखाम्बुजेऽस्यासीत् क्रमान्मन्मभारती।
सरस्वतीव तद्बाल्यम् अनुकर्तुं तदाश्रिता ॥ १७० ॥

क्रमशः अंग-विकास :—उन प्रभु के श्री संपन्न मुखकमल से क्रमशः से अस्पष्ट वाणी प्रकट हुई, जो ऐसी प्रतीत होती थी, मानो भगवान की बाल्य अवस्था का अनुकरण करने के लिए स्वयं सरस्वती देवी ने उन बाल जिनेन्द्र का आश्रय लिया हो।

ज्ञान की दृष्टि से भगवान का विकास आश्चर्यप्रद था। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के सिवाय वे भवप्रत्यय अवधिज्ञान से समलंकृत थे। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष ज्ञान कहे गये हैं, किन्तु अवधिज्ञान एक देश प्रत्यक्ष है। उसके क्षयोपशम होने पर आत्मा दूर-दूर के पदार्थों का; काल की अपेक्षा दूरभूत, भविष्यत, तथा वर्तमानकाल की अगणित बातों को बिना श्रम के जानती है। ज्ञान की अपेक्षा भगवान महान शास्त्रज्ञों, कलावेत्ताओं तथा तत्वचिंतकों के आराध्य थे, किन्तु मनोभाव को व्यक्त करने की वाणी शारीरिक विकास पर आश्रित है। अंगों का पूर्ण विकास क्रम से होता है। अंगों का पूर्ण विकास नहीं होने से बाल जिनेन्द्र धीरे-धीरे चलते थे, और गिर पड़ते थे, इससे उनकी आत्म-सामर्थ्य को न्यून नहीं सोचना चाहिए। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष वश उनकी आत्मा अतुल शक्ति समलंकृत थी। आचार्य उन प्रभु का वर्णन करते हैं :—

स्खलत्पदं शनैरिन्द्र-नीलभूमिषु संचरन्।
स रेजे वसुधां रक्तैः अब्जैरुपहरन्निव ॥ १७१–१४ ॥

वे बाल जिनेन्द्र इंद्रनील मणि निर्मित भूमि पर डगमग-डगमग चलते थे, चलते चलते वे गिरते थे। उस समय ऐसा लगता था, कि वे देवाधिदेव वसुंधरा—पृथ्वी को कमलों का उपहार ही दे रहे हों।

कवि भूधरदास जी का बाल जिनेन्द्र का यह चित्रण बड़ा मधुर है : --

मनिमय आंगन माहि अनूप। विचरैं जिनपति बालसरुप ॥
बहुविधि देवकुमार मनोग, बालक रुप भए वय योग ॥
घुटियां गमन करैं तिन साथ, ज्यों नछत्रगन मे निशिनाथ ॥

कभी भगवान लेटकर ऊपर देखते थे। उस समय ऐसा लगता था मानो वे सिद्ध लोक को ही देख रहे हों, जहाँ उन्हें शीघ्र ही अपना निवास करना है। कवि कहते हैं :—

कबहीं सैनासन सोवन्त, ऊपर दिढ़ जिन यो जोवन्त।
अजौं मुक्ति मो केतक परै, मानो यह शंका मन धरै ॥

भगवान धीरे-धीरे पैर उठाकर चलते थे, उससे ऐसा प्रतीत होता था, कि कहीं उनके चरण विन्यास द्वारा पृथ्वी को पीड़ा तो न हो रही हो अथवा वह वर्धमान का भार करने में असमर्थ है। यथार्थ में देखा जावे तो कहना होगा कि पृथ्वीतल जिनेन्द्र के पगतल के स्पर्श मात्र से आभारी बनता जा रहा था, क्योंकि केवलज्ञान होने के पश्चात् ये वर्धमान भगवान फिर सदा के लिए भूतल का स्पर्श त्याग देंगे। कवि कहते हैं :---

कबहीं पुहुमीपै जिनराय, कंपित चरन ठवै इहि भाय।
सहै कि ना धरती मुझ भार, शके उर उपमा यह यह धार ॥

× तीर्थंकर की अन्य तीर्थंकर से भेंट नहीं होती, यह आगम प्रतिपादित नियम उस समय समझ में नहीं आता था, जब बाल-वर्धमान रत्ननिर्मित दीवाल में स्वयं को प्रतिबिम्बित देखते थे। कवि का कथन है कि :

× बौद्ध धर्म मे दो बुद्धो का परस्पर मिलना नहीं माना गया है। 'मिलिन्द प्रश्न' में बौद्ध भिक्षु नागसेन से राजा मिलिन्द ने पूछा है :—

(क्रमशः)

कबहीं रतनभीत में रूप, झलकैं ताहि गहैं जगभूप ।
जिनसों जिन न मिलैं सर्वथा, करत किधौं कहवत यह वृथा ॥

यहाँ उक्त कथन उत्प्रेक्षालंकार है, अतः आगम के कथन में बाधा नहीं सोचनी चाहिए।

बाल विनोद—उनके बाल्य-कालीन रसभरे पवित्र विनोद का यह चित्रण बड़ा मनोरम है—

कबहीं रतन रेत कर लेत, करैं केलि सुरकुमर समेत।
कबहिं माय बिन रुदन करेय, देखैं फेर विहँसि हँस देय॥

और भी प्रभु की बाल लीला देखिए—

कबहीं छोड़ शची की गोद, जननी अंक जायँ मनमोद।
मातासों मानै अति प्रीति, बाल अवस्था की यह रीति॥
यो जिन बालक लीला करैं, त्रिभुवन-जन-मन-मानिक हरैं।
क्रमसौं बालभारती नाम, श्रीमुख कमल लसी अभिराम॥

अपूर्व आत्म विकास—धीरे धीरे शैशव व्यतीत हुआ। अब भगवान पहिले से बड़े दिखने लगे। उनका शारीरिक विकास यथार्थ में आध्यात्मिक विकास के समक्ष प्रगतिगामी नहीं दिखता था। उनकी आत्मा का तेज, सामान्य श्रेणी के व्यक्ति की बात तो क्या, श्रेष्ठ योगीश्वर भी उनके आत्म-तेज में अपने लिए अद्भुत उपादेय सामग्री प्राप्त करते थे। उत्तरपुराण में गुणभद्राचार्य ने लिखा है कि आकाश

(शेषांश)

"यदि सभी बुद्ध एक ही राह बताते हैं, एक ही उपदेश देते हैं, एक ही बात कहते हैं! एक ही शिक्षा देते हैं तो संसार में एक साथ दो बुद्धों के इकट्ठे होने में क्या आपत्ति है?"

नागसेन भिक्षु उत्तर देते हैं :—

"यह लोक एक ही बुद्ध को एक बार धारण कर सकता है। एक से अधिक के गुणों को सम्हाल नहीं सकता।" (पृष्ठ २८९)

में गमन करने की अद्भुत क्षमता सम्पन्न दो श्रेष्ठ साधुराज उनके पुण्य दर्शन मात्र से प्रभावित हुए थे और उन्हें अपने लिए असाधारण दिव्य प्रकाश मिला था।

आचार्य कहते हैं :—

संजयस्यार्थसंदेहे सजाते विजयस्य च।
जन्मान्तरमेवैनमभ्येत्यालोक मात्रतः ॥ २८२—७४ ॥

सन्मति नामकरण—एक समय संजय और विजय नाम के दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को पदार्थ के विषय में कुछ सन्देह उत्पन्न हुआ था। वे बाल-जिनेन्द्र के निकट आए। उन्होंने उन प्रभु की दिव्य छवि का दर्शन ही किया था, उसका क्या फल हुआ ?

आचार्य कहते हैं :—

तत्संदेहगते ताभ्यां चारणाभ्या स्वभक्तित.।
अस्त्वेष ससन्मतिर्देवो भावीति समुदाहृतः ॥ २८३ ॥

उन शैशव अवस्था वाले वर्धमान भगवान के दिव्य दर्शन द्वारा उन मुनीन्द्र युगल की शंका दूर हो गई, इसलिए उन्होंने अपने अन्तःकरण की भक्ति पूर्वक उनको होनहार भगवान 'सन्मति' संज्ञा प्रदान की।

आध्यात्मिक प्रभाव वर्धमान चरित्र मे भी बाल-जिनेन्द्र के आध्यात्मिक प्रभाव और दिव्य तेज की चर्चा इन शब्दों में की गई है:—

तत्यापरेद्युरथ चारणलब्धियुक्तौ,
भर्तुर्यती विजय-सजयनाम-धेयौ।
तद्वीक्षणात्सपदिनिः सृतसशयार्थौ,
आतेनतुर्जगति सन्मतिरित्यभिरव्यां ॥ ६२—१७ पर्व

तदनन्तर एक दिन चारण ऋद्धिधारी संजय और विजय-नामक दो मुनि भगवान के दर्शन मात्र से तत्काल पदार्थ के विषय में उत्पन्न शंका से विमुक्त हुए। अर्थात वर्धमान प्रभु के दर्शन से उन्हें सत् मति-निर्मल बुद्धि प्राप्त हुई। अतः उन्होंने भगवान का नाम 'सन्मति' रखा।

नैसर्गिक ज्ञान विकास- इस प्रसंग में एक गम्भीर और महत्वपूर्ण शंका का समाधान सहज ही हो जाता है, कि पूर्व भवों में किए गए उग्र तपों के प्रसाद से निसर्गतः उनका क्षयोपशम अर्थात ज्ञान-शक्ति विश्व के श्रेष्ठ विद्वानों को विस्मय में डालती थी। इस प्रकार प्रभु बाल होते हुए भी ज्ञान की दृष्टि से त्रिभुवन के गुरु थे। अवधिज्ञान के द्वारा नेत्र, कर्ण, घ्राण, रसना आदि इन्द्रियों की सहायता के बिना त्रिकालवर्ती पदार्थों की अनेक पर्यायों को जानने की वे क्षमता रखते थे। ऐसे प्रभु को पाठशाला में भेजे जाने पर कौन उनका गुरु बनेगा? और उन्हें शिष्य रूप में स्वीकार करने की उपहास पूर्ण स्थिति का प्रदर्शन करेगा।+

कुछ लेखक भगवान को कुमारावस्था में पाठशाला में पढ़ने भेजते हैं। इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक स्तर पर यह बात विचार योग्य है, कि जिन बाल-वय वाले भगवान का दर्शनमात्र मुनीन्द्रों को ज्ञान प्रदाता बना, जो मुनीन्द्र बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों, शास्त्रियों और कलाकारों को बहुत काल तक शिक्षा दे सकते थे, ऐसे श्रेष्ठ तपस्वी जब बाल जिनेन्द्र के निकट सम्पर्क से अज्ञान-विमुक्त हुए और उन्हें दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ, तब भला उन जिनेन्द्र का कोई गुरु बनेगा या विश्व उनके चरणों के समीप आकर ज्ञान प्राप्त करेगा? भगवान के शिक्षण के लिए अध्यापक की व्यवस्था वास्तव में सूर्य को प्रकाश प्रदान करने की कला सिखाने के लिए जुगनू को गुरूजी का पद प्रदान करने सदृश बुद्धिमत्ता की बात होगी।

+ बुद्धत्व प्राप्ति के बाद जब बुद्ध काशी जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें उपक नामका एक परिव्राजक मिला। उसने पूछा, "मित्र, आपका गुरू कौन है?" बुद्ध ने कहा था, "न मेरा कोई आचार्य है, न मेरे समान दूसरा कोई है। देवताओं और मनुष्यों के साथ सारे संसार में मेरा जोड़ा कोई नहीं है।"

(मिलिन्द प्रश्न पृ. २८६)।

ऐसी कल्पना के गर्भ में यह विचार प्रतीत होता है कि भगवान तीर्थंकर नहीं हैं, वे तो हमारे सदृश ही अज्ञान, अविवेक आदि विकारों से आपूर्ण हैं। भगवान को अपनी योग्यता से प्राप्त पुरुषार्थ और तपस्या से उद्भूत उपलब्धियों के उच्चासन से नीचे उतारने का प्रयत्न अशोभन कार्य है। विशाल विश्व पर दृष्टि डालने वाले को अनेक उदाहरण ऐसे मिलेंगे कि जन्मान्तर के विशिष्ट संस्कारों के फलस्वरूप स्वयमेव विविध कलाओं में नैपुण्य और अद्भुत प्रवीणता प्राप्त होती है।

महापुराणकार लिखते हैं कि—"मति, श्रुति और अवधि, ये तीनों ही ज्ञान भगवान के साथ ही उत्पन्न हुए थे, इसलिए उन्होंने समस्त विद्याओं और लोक की स्थिति को अच्छी तरह जान लिया था। वे भगवान समस्त विद्याओं के ईश्वर थे इसलिए उन्हें समस्त विद्याएँ अपने आप ही प्राप्त हो गईं थीं, सो ठीक ही है क्योंकि जन्मान्तर का अभ्यास स्मरणशक्ति को पर्याप्त, पोषण प्रदान करता है—'ननु जन्मान्तराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलाम्।' जिनसेन स्वामी लिखते हैं—

कलासु कौशलं श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटवम्।
क्रियासु कर्मठत्वं च स भेजे शिक्षया विना॥ १८०–१४॥

वे भगवान शिक्षा के बिना स्वयमेव संपूर्ण कलाओं में प्रवीण, समस्त विद्याओं में निपुण और सम्पूर्ण क्रियाओं में कार्य कुशल थे।

महाकवि का यह कथन भी महत्वपूर्ण है—

वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वाक्प्रभोरभूत्।
येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद् गुरु.॥ १८१॥

वे भगवान सरस्वती के स्वामी होने से समस्त शास्त्रों के स्वयं वेत्ता हो गए थे। इसलिए वे समस्त जगत के गुरु हो गए थे।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने किसी धनपति के समीप विपुल धनराशि जमा करा दी हो और वह जब चाहे तब यथेच्छ द्रव्य प्राप्त कर लेता है। ऐसे धनीमानी को देख बेचारा निर्धन दाँतों तले अंगुली

दबाता हुआ सोच नहीं पाता कि क्यों उसके समीपवर्ती व्यक्ति की इच्छानुसार प्राप्त धन का प्रवाह परितृप्त करता है और वह गरीब का गरीब बना रहता है। इसी प्रकार पूर्वभव में तपस्या के प्रसाद से तीर्थंकर भगवान ने कर्मों के बैंक में जो क्षयोपशम की संपत्ति सौंप दी है, वह तीर्थंकर पर्याय में उन्हें प्राप्त होती है।

आठ वर्ष की वयमें अणुव्रत धारण—भगवान वर्धमान प्रभु अब आठ वर्ष के हो गए। आठ वर्ष के पूर्व मनुष्य संयम धारण करने के योग्य सामर्थ्य-रहित होता है। कर्मभूमि का मनुष्य आठ वर्ष की अवस्था के बाद ही सम्यक्त्व रूप रत्न को प्राप्त करने की योग्यता युक्त होता है। इसीलिए अब तक भगवान ने व्रत नहीं लिए थे। अब वे अणुव्रत धारण करते हैं।

गुणभद्र स्वामी ने लिखा है :—

स्वायुराद्याष्ट-वर्षेभ्यः सर्वेषां परतो भवेत्।
उदिताष्ट-कषायाणां तीर्थेशां देशसंयमः ॥ ३५-पर्व ५३ ॥

+सर्व तीर्थंकरों के अपनी आयु के आरंभ के आठ वर्ष के अनंतर ही देशसंयम होता है और उनके प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन रूप आठ कषायों का उदय पाया जाता है।

व्रत का रहस्य—इस देशसंयम को धारण कर अणुव्रती बनने से क्या लाभ होता है, यह आचार्य समझाते हैं :—

ततोस्य भोग-वस्तूनां साकल्येपि जितात्मनः।
वृत्तिर्नियमितैकाभूद्-संख्य - गुण - निर्जरा ॥ ३६ ॥

+ भगवान असाढ़ बदी षष्ठी को माता के गर्भ में आए थे। अतः उसी असाढ़ वदी षष्ठी को आठ वर्ष पूर्ण होने पर भगवान ने अणुव्रत लिए थे। आगम में गर्भ में आने से ही मनुष्यगति रूप उत्पाद मानकर जीवन गणना की जाती है।

अतः भोग्य सर्व प्रकार की सामग्री प्राप्त होते हुए भी इन जितेन्द्रिय भगवान की प्रवृत्ति नियमित रूप हो गई थी, जिससे असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती थी।

बाल क्रीड़ा—भगवान देशव्रती बन गए, किन्तु उनकी बाललीला तथा क्रीड़ाओं पर कौन नियंत्रण डाल सकता था? खेल-कूद में काल व्यतीत करना बाल जीवन का निसर्गज अधिकार सा है। भूधरदास कविवर कहते हैं:—

इहि विधि आठ वर्ष के भये, तब प्रभु आप अनुव्रत लिये।
देवकुमार रहैं संग नित्त, ते छिन-छिन रंजैं जिन चित्त॥

कभी देवगण विक्रिया द्वारा विविध रूप बनाकर प्रभु को संतुष्ट करते थे।

कबही गज तुरंग तन धरैं, तिन पै चढि प्रभु जन मन हरैं।
कबहीं हंस, मोर बन जांहि, तिन सौं जगपति केलि करांहि॥
कबहीं जल क्रीड़ा थल गमैं, कबहीं वन-विहार-भू रमैं।
कबहीं करैं किन्नरीगान, सो प्रभु सुजश सुनै निज कान॥

क्रीड़ाका हेतु:—निसर्गतः अद्भुत ज्ञान और विद्याओं के स्वामी होते हुए भी भगवान बाल क्रीड़ा में खूब संलग्न रहा करते थे। इसका रहस्य क्या था, इस पर महाकवि असग इन शब्दों में प्रकाश डालते हैं:—

संप्राप्यते न पुनरेव वपुः सुरूपं।
बाल्यं मया क्षपित-संसृतिकारणत्वात्॥
तस्मादिमां सफलयामि दशामितीव।
मत्वामरैः सह जिन पृथुकैः सरेमे॥ ६४-१७॥

मैंने संसार के कारणों का क्षय कर दिया है और मुझे मोक्ष प्राप्त करना है, इससे अब आगे सुरूप युक्त शरीर तथा यह बाल्य अवस्था नहीं प्राप्त होगी, इससे मैं इस दशा को सफल बनाऊँगा, ऐसा सोचते हुए ही मानो वे भगवान छोटे बालकों के साथ क्रीड़ा करते थे।

संगम देव द्वारा परीक्षा :–एक दिन भगवान समीपवर्ती उद्यान-वन में अनेक राजकुमारों के साथ क्रीडा कर रहे थे। वे वृक्ष पर चढ़ते उतरते खेल रहे थे। उस समय एक संगम नाम का देव वहां आया। उसने सौधर्मेन्द्र की सभा में वर्धमान जिन की वीरता की की प्रशंसा सुनी थी। उस कथन की परीक्षा करने की इच्छा उसके मन में जागृत हुई थी। उसने विशाल सर्पराज का रूप धारण कर लिया। वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

स विकृत्य फणा सहस्रभीमं फणिरूपं तरसा वटस्य मूलम् ।
विटपै सह वेष्टनेस्म बालास्तमथालोक्य यथायथं निपेतुः ॥ ६६ ॥

उस संगम देव ने सहस्रफण युक्त भीषण सर्प का रुप धारण कर शीघ्र ही वट वृक्ष के अधोभाग को वेष्टित कर दिया, यह देखकर सभी बालक पटापट गिरने लगे।

चरणौ विनिवेश्य लीलयासौ ।
भगवान्मूर्धनि तस्य भोगिभर्तु ॥
तरुतोऽवततार वीतशंको ।
भुवि वीरस्य हि नास्ति भीतिहेतुः ॥

उस समय वर्धमान कुमार ने लीलापूर्वक उस सर्पराज के मस्तक पर अपने दोनों पैर रखे और बिना किसी प्रकार के भय के वृक्ष से उतर पड़े। वह यथार्थ ही है, क्योंकि वीर पुरुष के लिए इस जगत् में भय का कोई भी कारण नहीं है।

इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए गुणभद्राचार्य ने लिखा है कि "कुमारः क्रीड़यामास मातृपर्यंकवत्तदा"—(२८४–७४) जिस प्रकार बालक माता की गोद में क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार वीर भगवान ने उस भीषण सर्पराज के साथ क्रीड़ा की थी।

महावीर नामकरण :—

अभयात्मतया प्रहृष्टचेता विबुधस्तस्य निजं प्रकाश्य रूपं ।
अभिषिच्य सुवर्णकुंभतोयैः स महावीर इति व्यधत्त नाम ॥ ६८ ॥

वर्धमान प्रभु की निर्भीक वृत्ति को देखकर संगम देव अत्यन्त हर्षित हुआ तथा उसने अपना दिव्य स्वरूप प्रगट किया। पश्चात् सुवर्ण के कलशों के जल से भगवान का अभिषेक किया और उनका नाम 'महावीर' रखा।

निर्विकार मन :—उस समय देश में, विदेश में, दिग में, दिगन्त में जहाँ देखो वहीं महावीर भगवान की चर्चा चला करती थी। दिव्यात्माओं के मध्य भी उनके जीवन की कथा चलती थी। उनके मनोभाव, उनका मृदुल व्यवहार, उनकी प्रतिभा तथा उनके लोकोत्तर पुण्य का स्मरण कर कुण्डपुर की जनता अपने को उस महानगरी में जन्म धारण करने के कारण महान भाग्यशाली मानती थी। यह सोचना, समझना वास्तविकतापूर्ण था। देवेन्द्र, देवियां, देवगण उस पुरी में सदा आते रहते थे, क्योंकि वीर प्रभु के पुण्य चरणों की छत्रछाया में जो रस मिलता था, जो आनन्द आता था, जो हृदय की नवस्फूर्ति तथा उज्ज्वल प्रेरणा प्राप्त हुआ करती थी, वह स्वर्ग लोक में सर्वथा असंभव थी। अनुपम सौन्दर्य की राशि सुर बालाओं का भी निरन्तर आना जाना लगा रहता था, किन्तु वीर प्रभु का हृदय पूर्णतया निविकार था। वे मातृजाति को माता प्रियकारिणी की श्रेणी का सोच मातृत्व बुद्धि रखते थे। वैसे विश्व का धार्मिक इतिहास यदि पक्षपात, भय तथा मोहभाव वा त्यागकर न्याय दृष्टि से देखा जाय, तो बड़े २ प्रसिद्ध महापुरुष, देव, देवता भी प्रसंग आने से शीलधर्म से डिगे हुए मिलेंगे। इसमें उनका दोष नहीं है। काम का विकार बड़े बड़े लोगों के हृदय की आँखों को फोड़ देता है। ऐसा व्यक्ति अन्धा बनकर कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, लोक लाज, धर्म, अधर्म को भूल जाता है तथा ऐसा कुकर्म कर बैठता है, जिससे उसकी सारी कीर्ति तथा तप की कमाई मिट्टी में मिल जाती है।

वीर प्रभु का शील अपूर्व था। वे पवित्रता की साक्षात् मूर्ति थे। उनका मन अत्यन्त निर्विकार था, निर्दोष था, तथा भव्य विचारों

से ओतप्रोत था। तीर्थंकर भगवान का निर्दोष शील देख मानतुंग आचार्य भक्तामर स्तोत्र में कहते हैं :—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभिः ।
नीतं मनागपि मनो न विकार मार्गम् ॥
कल्पान्तकाल - मरुता चलिता - चलेन ।
किं मंदराद्रि - शिखरं चलितं कदाचित् ॥ १५॥

इस संस्कृत श्लोक का पद्यानुवाद हिन्दी में इस प्रकार है :—

देवांगना हर सकीं मन को न तेरे।
आश्चर्य नाथ इसमें कुछ भी नहीं है ॥
कल्पान्त के पवन से उड़ते पहाड़।
पै मंदराद्रि हिलता तक है कभी क्या ? ॥

पवित्र व्यक्तित्व :—भगवान महावीर की पवित्र चित्तवृत्ति पर गुणभद्र स्वामी इस प्रकार डालते हैं :—

न गोमिन्यां न कीर्त्यां वा प्रीतिरस्याभवद्विभोः ।
गुणेष्विव सुलेश्यानां प्रायेण हि गुणाः प्रियाः ॥ २८६-७४ ॥

इन वीर प्रभु का प्रेम न तो लक्ष्मी पर था और न कीर्ति पर ही उनकी कोई दृष्टि थी; किन्तु सुलेश्या धारण करने वाले अर्थात् उज्ज्वल मनोभाव वाले सत्पुरुषों के समान उनका प्रेम गुणों पर ही था। वास्तव में महान आत्माओं को प्रायः गुण ही प्यारे लगते हैं।

विषय-विरक्त मनस्वी :—महावीर असाधारण नररत्न थे। वे उच्चकोटि के तत्व चिंतक तथा ज्ञान-ध्यान निरत महापुरुष थे। यौवन के आते ही युवक का मन युवती की ओर आकर्षित होता है, किन्तु महावीर के हृदय पर किसी रमणी का सौन्दर्य अथवा आकर्षण अपना स्थान नहीं बना सका। राज्य-शासन द्वारा अहंकार का पोषण भी उन्हें प्रिय नहीं था। संसार के परिभ्रमण से उनकी आत्मा पूर्णतया थक चुकी थी। भगवान ऋषभदेव ने चतुर्थकाल के आरंभ के तीन

वर्ष, आठ माह, पन्द्रह दिन पूर्व ही मोक्ष प्राप्त किया था। पूरा चतुर्थकाल व्यतीत हो गया, जो ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण था। अब पंचमकाल का आगमन अति समीप है।

वे देखते थे कि अनेक लोग हिंसा प्रचुर क्रियाकाण्ड में संलग्न हो अपना अहित कर रहे थे। उनका मन विषय भोगों से निसर्गतः अत्यन्त उदास रहा करता था। वे तो वे पूर्ण तरुण किन्तु उनकी गंभीरता तथा विचारकता वृद्धों के लिए भी आदर्श थी।

वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

अथ लंघित-शैशवः क्रमेण प्रतिपेदे नवयौवनं श्रिया सः।
भगवान्निजचापलं विहन्तुं स्वयमभ्युद्यत एव वर्धमानः ॥ ६६ ॥

क्रम से शैशव काल को व्यतीत करके अपनी चंचलता का परित्याग किया, उस समय वर्धमान भगवान के समीप तारुण्य रूप लक्ष्मी आई।

विवाह का प्रस्ताव :—सर्व प्रकार गुण संपन्न योग्य अवस्था प्राप्त पुत्र रत्न को देखकर माता प्रियकारिणी ने अपने अपूर्व आत्मज महावीर के योग्य सहधर्मिणी लाने का विचार अपने प्राणनाथ महाराज सिद्धार्थ से कहा। सिद्धार्थ नरेश ने महारानी प्रियकारिणी का समर्थन किया। माता प्रियकारिणी के महावीर वास्तव में अद्वितीय संतान थे। तीर्थंकर अपनी माता के एकमात्र पुत्र होते हैं। जिस जननी के यहाँ त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर का जन्म हो, उसकी कोख में आने की योग्यता वाला उस प्रकार का पुण्य दूसरे व्यक्ति में नहीं होता है। जिनेन्द्र के श्रेष्ठ पुण्य को महती क्षति पहुँचती है, यदि महावीर भगवान की माता को अन्य पुत्र उत्पन्न करने वाला माना जाय। माता का पुण्य सर्वदा वर्धमान रहता है, इसी से सर्वज्ञ प्रणीत प्रामाणिक परमागम में तीर्थंकर के भाई बहिन की उत्पत्ति का प्रतिपादन नहीं किया गया है।

भगवान का हृदय विषयों से अत्यन्त विरक्त रहता था। एक दिन पिता ने कहा :—

सभा सिंहासन एक दिन, बैठे सहज जिनेन्द्र।
सुर-नर में प्रभु यों दिपैं, ज्यों उडुगण में चन्द्र ॥
नेह सलिल भोजे वचन, सुनो कुमर जगराय।
एक राज-कन्या वरो करो उचित व्यवहार ॥
वंश वेलि आगे चले, सुख पावै परिवार ॥
नाभिराज की आश ज्यों, भरी प्रथम अवतार।
तथा हमारी कामना, पूरन करो कुमार ॥

ब्रह्मचारी रहने का संकल्प :—पिता के शब्दों को सुनकर विषय विरक्त भगवान ने कहा :—

पिता वचन सुनि प्रभु दियो, प्रति-उत्तर तिहि बार।
रिषभ देव सम मैं नहीं, देखो हिए विचार ॥

मेरा जीवन केवल बहत्तर वर्ष प्रमाण है। मेरी [illegible] तीर्थंकर के साथ तुलना नहीं हो सकती। उनकी आयु महान थी। भगवान के ये विचार मार्मिक है : -

अल्पकाल थिति अल्प सुख, अल्प प्रयोजन काज।
कौन उपद्रव संग्रहै समुझि देख नर-राज ॥

इस उत्तर को सुनकर महाराज सिद्धार्थ और प्रियकारिणी माता को निरुत्तर होना पड़ा। कवि कहते हैं :—

सुन नरेन्द्र लोचन भरे, रहे वदन बिलखाय।
पुत्र-ब्याह-वर्जन - वचन, किसे नहीं दुख दाय ॥

माता-पिता ने भगवान का विवाह यशोदा नाम की राज कन्या से करने का विचार किया था, किन्तु यह विचार भगवान की विरक्त मनोवृत्ति के कारण कार्यान्वित न किया जा सका।

इस सम्बन्ध में हरिवंश पुराण में यह महत्वपूर्ण चर्चा आई है, उससे यह स्पष्ट होता है कि यशोदा के साथ विवाह का विचार मात्र उठा था। गौतम गणधर राजा श्रेणिक से कहते हैं, "राजन ! क्या इस जितशत्रु राजा को तुम नहीं जानते ? इसके साथ भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ की छोटी बहिन का विवाह हुआ है। यह समस्त पृथ्वी में प्रसिद्ध है, महाप्रतापी एवं शत्रु मंडल का नाश करने वाला है। जिस समय महावीर प्रभु का जन्म हुआ था, और उनका जन्मोत्सव मनाया गया था, उस समय यह राजा कुंडपुर आया था और इंद्र के समान पराक्रमी इस राजा का कुंडपुर के नरेन्द्र ने अत्यन्त सन्मान किया था।" (६, ७)

यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर-विवाह-मंगलम् ।
अनेक-कन्या-परिवार मारुहत्समीक्षितुं तुंग-मनोरथं तदा ॥

राजा जितशत्रु की स्त्री का नाम यशोदया था। उससे यशोदा नाम की राज-कन्या उत्पन्न हुई थी। राजा जितशत्रु अनेक कन्याओं के साथ पुत्री यशोदा का भगवान महावीर के साथ विवाह करना चाहता था।

स्मितेऽथ नाथे तपसि स्वयंभुवि प्रजातकैवल्य विशाल-लोचने ।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षिति विहाय स्थितवांस्तपस्ययम् ॥ ६-पर्व ६६ ॥

भगवान महावीर बाल्य अवस्था से ही उदासीन थे, इसलिए उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली और कैवल्य-विभूति प्राप्तकर संसार के कल्याणार्थ धर्मोपदेश देते हुए पृथ्वी पर विहार करने लगे। यह देखकर जितशत्रु ने भी दीक्षा धारण कर ली।

अमुष्य याताद्य तपोबलान्मुनेरयास-कैवल्यफला मनुष्यता ।
मनुष्यभावो हि महाफल भवे भवेदयं प्राप्तफलस्तपः फलात् ॥ १७ ॥

उस तपस्या के प्रभाव से मुनिराज जितशत्रु को मनुष्यता का फल स्वरूप आज केवल ज्ञान प्राप्त हो गया है। संसार में यह मनुष्यत्व

रूपी वृक्ष महाफल प्रदान करने वाला है, इसी से तप द्वारा केवल ज्ञान रूपी और मोक्ष रूपी फल प्राप्त होते हैं।

इस कथन से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है, कि यशोदा के साथ महावीर प्रभु के विवाह करने का माता-पिता आदि का मनोरथ था, किन्तु विरक्त भगवान रमणी के राग-चक्र में नहीं फंसे। भगवान वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ने जिस प्रकार स्त्री-सुख से मुंह मोड़कर ब्रह्मचर्य से कुमार काल में ही महान प्रीति दिखाई, उसी पवित्र श्रृंखला में वर्धमान कुमार भी सम्मिलित किये गये।

इन प्रभु का अन्तःकरण विषयों से विरक्त था, अतः वैभव तथा प्रभुता की लालसा से मुख मोड़ते हुए इन्होंने राज्य लक्ष्मी की ओर तनिक भी ममता न दिखाई। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इनका हृदय केवलज्ञान रूप साम्राज्य श्री तथा आध्यात्मिक लक्ष्मी की उपलब्धि के लिए व्याकुल हो चुका था। शान्ति, प्रेम, पवित्रता तथा आनन्द के साथ इनका काल व्यतीत हो रहा था।

वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

भगवाननमरोपनीत–भोगान्स निनायानुभवन्भवस्य हंता।
त्रिगुणान्दशा-वत्सरानवाब्ज-सुकुमारांघ्रि-युगः कुमार एव ॥ १०१ ॥

जिनके नवीन कमल के समान सुकुमार चरण–युगल संसार के नाश करने वाले हैं ऐसे इन भगवान के देवों के द्वारा लाए गए दिव्य भोगों को भोगते हुए तीस वर्ष व्यतीत हो गए।

जन्मान्तर की स्मृति से वैराग्य जागरण :—सहसा जन्मान्तर की स्मृति हो गई। उससे उन्होंने पूर्व जीवन के रहस्य को अपने भावी जीवन निर्माण के लिए मार्ग-दर्शक बनाया। जिस जीव ने अच्युतेन्द्र की पर्याय में श्रेष्ठ इंद्रिय जनित आनन्द भोगे, और फिर तृप्ति न मिली, उसे क्या अब इन भोगों के द्वारा तृप्ति प्राप्त होगी? विषयों में आनन्द की कल्पना अज्ञानता तथा अविवेक की पराकाष्ठा है, क्योंकि यह प्रयत्न

त्रिकाल में सफल नहीं होने वाला है। बालू में जब तेल नहीं है, मृग मरीचिका में जब जल नहीं है, तब वहां उनको खोजने का प्रयत्न कैसे विवेकपूर्ण कहा जायगा?

इस जन्मान्तर की स्मृति से भगवान वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ इन कुमार ब्रह्मचारी तीर्थंकरों की आत्माएं भी विषयों से विरक्त हुई थीं। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

संतिकुंथु-वासुपुज्जा सुमइकुथं सुव्वुदादि-पंचजिणा।
णिय-पच्छिम - जम्मणं उपओगा जाद - वेरग्गा ॥ ६०७-८ ॥

शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, वासुपूज्य, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पारसनाथ तथा वर्धमान इन तीर्थंकरों को अपने-अपने पिछले जन्मों के स्मरण से वैराग्य प्राप्त हुआ।

बालयतियों का वैराग्य : पांच बाल यतियों में प्रथम वासुपूज्य भगवान विरक्त होकर इस प्रकार गंभीर तत्व चिन्ता में निमग्न हो गए थे :—

+ "मैं अनादिकाल से जन्म मरण रूप वन में परिभ्रमण करता रहा हूँ। अब काल-लब्धि आदि के सुयोग से महान गुणमय समीचीन मार्ग प्राप्त हुआ है, इसलिए अब मुझे श्रेष्ठ गति की ओर प्रस्थान करना चाहिए।

+ अनादौ जन्मकान्तारे भ्रांत्वा कालादि-लब्धितः।
सन्मार्गं प्राप्तवांस्तेन प्रगुणं यामि सद्गतिं ॥ ३२ ॥
अस्तु कायः शुचिः स्थास्नुः प्रेक्षणीयो निरामयः।
आयुश्चिरमनाबाधं सुखं संतत-साधनम् ॥ ३३ ॥
किन्तु प्रुवो वियोगोऽत्र रागात्मकमिदं सुखम्।
रागी बध्नाति कर्माणि बंधः संसारकारणम् ॥ ३४ ॥
चतुर्गतिमयः सोपि ताश्च दुःख - सुखावहाः।
ततः किममुनेत्येतत्याज्यमेव विचक्षणैः ॥ ३५-पर्व ५८ उ.पु. ॥

मेरा शरीर पवित्र है, सुदृढ़ है, दर्शनीय है, रोगमुक्त है, आयु भी अधिक है, सुख की सामग्री भी निरन्तर प्राप्त होती है, किन्तु एक दिन इस सब सामग्री का वियोग अवश्यंभावी है। इंद्रियों के द्वारा प्राप्त सुख रागभाव पर निर्भर है। इस रागात्मक सुख में तन्मय रागी जीव कर्मों का बंध करता है। यह कर्मबन्ध संसार का कारण है। यह संसार चतुर्गति स्वरूप है। ये गतियाँ सुख दुःख देनेवाली हैं। इस संसार से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? चतुर व्यक्ति का कर्तव्य है कि इस संसार का त्याग कर दे।"

द्वितीय बालब्रह्मचारी तीर्थंकर मल्लिनाथ के वैराग्य की जागृति राग को जगाने वाले विचित्र वातावरण में हुई थी।

उत्तर पुराण में लिखा है कि मल्लिनाथ भगवान ने देखा कि उनके विवाह के लिए मिथिला नगर सजाया जा रहा था। जगह-जगह उन्नत तोरण बांधे जा रहे थे। अनेक प्रकार की रंगावली बनाई जा रही थी। जगह २ पुष्पों की वर्षा हो रही थी। वाद्य ध्वनि हो रही थी। उस समय उन्हें अपराजित नाम के अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र की अवस्था में भोगे गए सुखों का स्मरण हो आया। आचार्य लिखते हैं :—

मल्लिर्निज-विवाहार्थं भूयो वीक्ष्य विभूषितम् ।
स्मृत्वाऽपराजितं रम्यं विमानं पूर्वजन्मनः ॥ ४० ॥
सा वीतरागता प्रीतिस्तत्रजाता महिमा च सा ।
कुतः कुलो विवाहोयं सतां लज्जा-विधायकः ॥ ४१ ॥
विडंबनमिदं सर्वं प्रकृतं प्राकृतैर्जनैः ।
निंदयन्निति निर्विद्य सोऽभूनिष्क्रमणोद्यतः ॥ ४२ ॥ पर्व ६६ ॥

मल्लिनाथ ने अपने विवाह के हेतु मिथिलापुरी को अत्यन्त सुसज्जित देखा। उसी समय अपने पूर्व जन्म के अपराजित नाम के रमणीय विमान का स्मरण हो गया। अपराजित नाम के अनुत्तर विमान में देवांगनाओं का संबंध नहीं था। कहाँ वह वीतरागतापूर्ण

सुख और उससे प्रगट हुई महिमा और कहां वह सत्पुरुषों को लज्जा उत्पन्न कराने वाला विवाह ; यह सब विडम्बना मात्र है। पहले महापुरुष इसकी निन्दा करते आये हैं। इस प्रकार विरक्त होकर वे दीक्षा लेने को तैयार हो गए।

इनके पश्चात् बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों में नेमिनाथ भगवान का पवित्र नाम स्मरण किया जाता है। उनका विवाह राजमती राजकुमारी के साथ निश्चित हो चुका था और वे नेमिनाथ वर के रूप में वधू की प्राप्ति के लिए द्वारिका गए थे। उस समय उनकी दृष्टि एक घेरे में घिरे हुए करुण चीत्कार करने वाले पशुओं की ओर गई और जब सारथी ने यह कहा, "नाथ ! आपके विवाह में सम्मिलित होने वाले मांस-भक्षी राजाओं आदि के लिए भोजन हेतु इन पशुओं का उपयोग होगा।" तब इस समाचार को ज्ञात कर दयासागर नेमिनाथ की दृष्टि विवाह से विमुख हो गई। उस समय उन्हे अपने विवाह के कार्य में विघ्न करने की राजनैतिक कूटनीति का पता चला। इससे मन में विकार के परिणाम उत्पन्न होना स्वाभाविक था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। वैराग्य की ज्योति राग की श्यामलभूमि में उत्पन्न हो गई।

उस समय भगवान को पूर्वजन्म की स्मृति हो गई। उन्हें ज्ञात हुआ, कि वे पहिले भव में जयंत विमान में अहमिन्द्र थे। स्त्री संपर्क जनित सांसारिक सुख रूप बीमारी से वे अनुत्तर विमानवासी अहमिन्द्र विमुक्त थे। वहां का अपूर्व आनन्द तथा धार्मिक सरस जीवन स्मृति पथ के समक्ष आ गया। वहां तत्व चर्चा, जिनेन्द्र भक्ति आदि के साथ व्यतीत होने वाला काल तथा विविध पवित्र संस्मरणों से राजीमती के साथ विवाह के स्वप्न की सारशून्यता हृदय में अंकित की और ब्रह्मचर्य का प्रेमभाव प्रबल हो गया। गुणभद्र स्वामी लिखते हैं 'समतीताम भवानुस्मृति-वेपितः' (१६८, पर्व ७१) पूर्व भवों की स्मृति से उनकी आत्मा कांप उठी। आचार्य कहते हैं :

स्वदुःखेनापि निर्विण्णः भूयते न जनः परः।
परदुःखेन संतोमी त्यजंत्येवमहोश्रियं ॥ १७३-७१ ॥

लोग अपनी विपत्ति से भी विरक्त नहीं होते देखे जाते हैं, यह महान आश्चर्य है कि नेमिनाथ सरीखे सत्पुरुष दूसरों के भी दुःखों से ऐसी महान विभूति का त्याग करते हैं। नेमिनाथ भगवान धन्य हुए। राजमती भी उनका पदानुसरण कर कृतार्थ हो गई। आचार्य लिखते हैं-

संध्येव भानुमस्ताद्रावनु राजमतिश्च तम्।
ययौ वाचापि दत्तानां न्यायोऽयं कुलयोषिताम् ॥ १७२-७१ ॥

जिस प्रकार संध्या सूर्य का अनुगमन करती हुई अस्ताचल को जाती है, इसी प्रकार राजमती भी भगवान नेमिनाथ के पीछे ही तपश्चरण के लिए गई, क्योंकि वचन के द्वारा भी दी गई कुलवती स्त्रियों का यही न्याय है।

चतुर्थ ब्रह्मव्रती तीर्थंकर पार्श्वनाथ भगवान जब तीस वर्ष के थे, तब साकेत नगरी के नरेश जयसेन की ओर से प्रभु के जन्मोत्सव पर भेट लेकर दूत आया था। भगवान ने उस दूत से साकेत की विभूति के विषय में प्रश्न किया। "साकेतस्य विभूतिं तं कुमारः-परिपृष्ठवान्"-(१२०, ७३ पर्व) उत्तर में दूत ने उस नगरी के पूर्व शासक ऋषभनाथ भगवान आदि का वर्णन किया। उसे सुनते ही भगवान गंभीर चिंतन में निमग्न हो गए। वे सोचने लगे;

सुनि दूत वचन वैरागे, निज मन प्रभु सोचन लागे।
मैं इन्द्रासन सुख कीने, लोकोत्तम भोग नवीने ॥
तब तृपति भई तहां नांही, क्या होय मनुष पद मांही।
जो सागर के जल सेती, न बुझी तिषना तिस एती ॥
ये भीम भुजंग सरीखे, भ्रम भाव उदय शुभ दीखे।
चाखत ही के सुख मीठे, परिपाक समय कटु दीठे ॥
ज्यों खाय धतूरा कोई, देखे सब कंचन सोई।
धिक् ये इन्द्री सुख ऐसे, किंप बेल लगे फल जैसे ॥

भगवान अपने विषय में विचार करते हैं :—

बालापन सुख सम जैसे, हम खोये ये दिन ऐसे ।
संयम बिन काल गमायो, कछु लेखे में नहिं आयो ॥
ममतावश तप नहिं कीनो, यह कारज कोय न कीनो ।
अब खाली दीन न कीजे, चारित चिंतामणि लीजे ॥

इस प्रकार भगवान वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ तथा ×पार्श्वनाथ इन तीर्थंकर चतुष्टय के वैराग्य जागरण की कथा है ।

× उत्तर पुराण से यह स्पष्ट होता है कि भगवान पार्श्वनाथ ३० वर्ष की अवस्था में संसार से विरक्त हुए थे । जब वे सोलह वर्ष के थे, तब अपनी सेना के साथ क्रीड़ा निमित्त नगर के बाहर गए थे । वहाँ वन में उनके नाना राजा महीपाल रानी के वियोग से दुःखी हो तापसी के रूप में पंचाग्नि तप कर रहे थे । भगवान ने उस तापसी को प्रणाम नहीं किया । इससे वह क्षुब्ध हो गया और उसने अग्नि प्रदीप्त करने के लिए लकड़ी काटने के हेतु बड़ी भारी कुल्हाड़ी उठाई । उस समय अवधिज्ञानी कुमार पार्श्वनाथ ने कहा, "इस लकड़ी को मत काटो-इसमें प्राणी बैठे हैं । ' तापसी ने कहना नहीं सुना । कुल्हाड़ी के आघात से लकड़ी में बैठे हुए सर्प-सर्पिणी के दो टुकड़े हो गए । इसके पश्चात् भगवान अपने राजभवन को लौट आए । सर्प और सर्पिणी भगवान के निमित्त से समतापूर्वक मरणकर धरणेन्द्र-पद्मावती हुए । उस समय भगवान को वैराग्य नहीं हुआ था । वे चौदह वर्ष घर में और रहे थे ।

भगवान पार्श्वनाथ की बखतावर कृत पूजा में नाग-युगल की मृत्यु के निमित्त से भगवान के वैराग्य का जो उल्लेख है, वह आगम के अनुकूल नहीं है अतः यह कथन संशोधन योग्य है ।

चढ़े गजराज कुमारन संग, सुदेखत बंगलनी सुतरंग ।
लख्यो इक रंक करै तप घोर, चहुँदिशि आगि बलै अति जोर ॥
कहे जिननाथ अरे सुन भ्रात, करै बहु जीवन की मत घात ।
गह्यो तब कोप कहे कित जीव, जलो तब नाग दिखाय सजीव ॥
लख्यो यह कारण भावन भाय, नये दिव ब्रह्मऋषीश्वर आय ।

वर्धमान प्रभु का वैराग्य—महावीर भगवान के वैराग्य का कोई बाह्य कारण नहीं था, जन्मान्तर की स्मृति हो जाने से उनका चित्त राग के पिंजरे के बाहर आकर तपोवन वासी वैराग्य-सिंह स्वरूप प्राप्त करने की ओर उत्कण्ठित हो गया। सिंह चिह्नांकित पुरुषोत्तम का पुरुषसिंह बनने का उद्योग पूर्णतया स्वाभाविक माना जायगा।

वर्धमान भगवान ने सोचा केवल बहत्तर वर्ष की आयु प्राप्त करके तीस वर्ष बिना सकल संयम के खो दिए+ अब एक क्षण भी प्रमाद करने के लिए शेष नहीं है। पूर्व में विषयों की आराधना द्वारा कैसा पतन हुआ और त्याग वैराग्य आदि धर्म के अंगों का शरण ग्रहण करके किस प्रकार उन्होंने सिंह की पर्याय में धर्म पालन करके उन्नत अवस्था प्राप्त की, यह सर्व वृत्तान्त उनके स्मरण गोचर हो गया।

आध्यात्मिक क्रान्ति की दिव्य बेला—अब वर्धमान के जीवन में आध्यात्मिक क्रान्ति होने की पुण्य बेला आई है।

+भगवान पार्श्वनाथ तथा महावीर भगवान तीस वर्ष की अवस्था में वैराग्य भाव युक्त हुए थे।

तपोवन की ओर

कर्मों का तीव्र उदय होने पर दिया गया उपदेश विपरीत परिणमन करता है, किन्तु कर्मोदय मन्द होने पर जीव स्वयं कल्याण के पथ में प्रवृत्ति के उन्मुख बनता है। जन्मान्तर के स्मरण द्वारा वर्धमान भगवान का मन विषयों से अत्यन्त विमुख हो चला और वे तपोवन का विचार करने लगे, क्योंकि वे मोक्ष प्राप्त करना चाहते थे।

तपोवन गमन का साध्य—कोई व्यक्ति सोचते हैं, तपोवन की ओर मुख करना आवश्यक नहीं है। घर में रहते हुए भी आत्म-साधना बन सकती है। कवि कहता है :—

बनेपि दोषाः प्रभवंति रागिणां।
गृहेषु पंचेन्द्रिय-निग्रह स्तपः ॥
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते।
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

रागी व्यक्तियों का वन में भी दोष पीछा नहीं छोड़ते हैं। घर में भी पांचों इन्द्रियों के दमन रूप तप बन सकता है। जो निर्दोष आचरण करता है, उस विरागी के लिए गृह भी तपोवन है।

यह कथन मानसिक कल्पना मात्र पर आश्रित है। वास्तव में अनुभव किया जाय, तो गृहस्थ के आकुलतापूर्ण पराधीन तथा मानसिक चंचलतापूर्ण जीवन का रहस्य उपरोक्त धारणा को धराशायी बनाए बिना न रहेगा।

जल में यदि हमें अपने मुख का प्रतिबिम्ब देखना है, तो हमें उसमें चंचलता उत्पादक पवन के प्रहारों से उसे बचना होगा। इसी प्रकार आत्मदर्शन की प्राप्ति के लिए चंचलता तथा प्रमाद जनक

सामग्री का परित्याग भी आवश्यक होगा। परिग्रह का अल्पतम भी सम्पर्क आत्मा को श्रेष्ठ रूप में सम्यकचारित्र की उपलब्धि में विघ्नकारी बन जाता है।

> काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो घुसे।
> एक रेख काजर की लागे पै लागे॥

यह सूक्ति परिग्रह सम्पर्क पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। मन सहज चंचल रहता आया है, उसका चिरंतन अभ्यास ऐसा ही है। उस मन को बन्दर की उपमा दी गई है। चंचल बन्दर को मदिरा पिलाकर तथा बिच्छू से कटवाकर चुप देखने की कल्पना समान परिग्रह का सम्पर्क तथा गृहवास है।

> जेती लहर समुद्र की तेती मन की दौर।
> सहजहि हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर॥

गृहवास से आत्माश्रयी वृत्ति की क्षति—परिग्रह आदि सामग्री का संग्रह इस बात का सूचक है, कि इस संग्रहकर्त्ता के भावों में पर्याप्त दुर्बलता है, जिससे यह स्व-निर्भरता के स्थान में परावलम्बन के मार्ग को अपनाता है। आत्मा ज्ञानमूर्ति तथा चैतन्यपुंज है। उसका पर पदार्थों का आश्रय लेना तथा स्वाश्रयी वृत्ति से विमुख होना इस बात का ज्ञापक है, कि वह आत्म प्रकाश से शून्य है। विषयासक्त मन अविद्या के चक्कर से नहीं छूट पाता।

लोक सम्पर्क या लौकिक वस्तुओं का संसर्ग होने पर आत्म-ज्योति का प्रकाश जैसा शुभ्र तथा दीप्तिमान होना चाहिए, वैसा नहीं हो पाता। तैल में कचरा मिश्रित रहने पर दीपक का प्रकाश भी मलिनता युक्त होता है। बुद्धि की निर्मलता के लिए बाह्य सामग्री के विषय में सुचतुर व्यक्तियों का मार्ग तथा शुद्ध खान-पानादि का महत्वपूर्ण स्थान है। विषयासक्त तथा भोगी व्यक्ति मिथ्या बातों में लोगों को फँसाते हुए अपना और दूसरों का पतन करते हैं। अविनाशी

शांति और आनन्द की उपलब्धि हेतु प्रमाद त्यागकर साहस को धारण करते हुए अधिक से अधिक स्वाश्रयी तथा स्वोन्मुख बनने का प्रयत्न आवश्यक है।

विशुद्ध ध्यान—अब वर्धमान भगवान विशुद्ध ध्यान की उपलब्धि करना चाहते हैं, जिस ध्यान की अग्नि में समस्त कर्मराशि-पाप कर्म तथा पुण्य कर्म दोनों पूर्णतया भस्मीभूत हो जाते हैं।

आचार्य योगीन्द्रदेव ने ज्ञानांकुश में कहा है :—

नास्ति ध्यानसमो बन्धु र्नास्ति ध्यानसमो गुरुः।
नास्ति ध्यानसमो मित्रं, नास्ति ध्यानसमो तपः॥

ध्यान के समान कोई बन्धु नहीं है, ध्यान के समान गुरु नहीं है, ध्यान के समान मित्र नहीं है, ध्यान के समान तप भी नहीं है। उनका यह कथन महत्वपूर्ण है : —

श्रूयते ध्यानयोगेन संप्राप्तं पदमव्ययम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कुर्याद् ध्यानं बुधै र्जनैः॥

ऐसा कथन आता है, कि ध्यान के योग से अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त हुआ है; अतः सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बुद्धिमानों को ध्यान करना चाहिए।

ध्यान की सामग्री—ध्यान की महिमा तो स्वीकार करते हैं; उसके लिए ये पंच कारण कहे गए हैं :—

वैराग्यं तत्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं सम-भावना।
जयः परीषहाणां च पंचैते ध्यानहेतवः॥

वैराग्य भाव, तत्वों का ज्ञान, निर्ग्रन्थ अवस्था, साम्य-भावना तथा परीषहों-कष्टों पर विजय प्राप्त करना ये पांच ध्यान के कारण हैं।

प्रभु की मनोदशा—इससे वैराग्य ज्योति से दीप्तिमान वर्धमान भगवान निर्ग्रन्थ पद को प्राप्त करने का विचार कर रहे हैं। माता-

पिता का प्रेम, कुंडपुर की जनता का ममत्व आदि मोहमयी बन्धन इस नर-सिंह के स्वयं शिथिल हो रहे हैं।

पूर्व भवों के संस्मरणों से प्रबुद्ध वह आत्मा यह सोचती है, कि पूर्व जन्मों में कौन-कौन उस पर्याय में माता, पिता आदि कुटुम्बीजन नहीं हुए। सबका साथ छूटा। ऐसा ही माता त्रिशलादेवी, पिता सिद्धार्थ तथा अन्य इष्ट जनों का साथ भी छूटेगा। ऐसी स्थिति में देवेन्द्रों द्वारा लाई गई प्रिय सामग्री भी रस शून्य दिखने लगी।

पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में लिखा है :—

जगद्देहात्म-दृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव वा।
स्वात्मन्येवात्म-दृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥ ४९ ॥

देह में आत्म-दृष्टि धारण करने वालों को यह जगत् विश्वास योग्य तथा रमणीय प्रतीत होता है, किन्तु आत्मा में ही आत्मदृष्टि धारण करने वालों को यह जगत् न विश्वास योग्य प्रतीत होता है और न वह मधुर ही लगता है।

आत्म-निरीक्षण :— अब वे प्रभु परिग्रह के जाल से मुक्त हो समता रूपी सुधारस का पान करने को उत्कंठित हैं। वे सोचते हैं :—

तीनकाल इस त्रिभुवन मांहि जीव संघाती कोई नाँहि।
एकाकी सुख दुःख सब सहै, पाप पुन्य करनी फल लहै॥

जन्मान्तर के अनुभवों से उपरोक्त बात वे प्रत्यक्ष जानते थे। तत्त्वज्ञ होने से वे विचारते थे :—

जितने जग संजोगी भाव, ते सब जियसों भिन्न सुभाव।
नितसंगी तन ही पर सोय, पुत्र सुजन पर क्यों नहिं होय॥

भगवान तीर्थंकर थे, अतः वे कर्मबंधन विमुक्त नहीं थे। उनके रागादिक परिणामों के अनुसार सतत कर्मों का बंध होता था। तीर्थंकर हैं, इसलिए कर्मों के पंजे से वे छूट गए हैं, ऐसी विशेष कृपा (Special favour) की कथा जैन तत्त्वज्ञान के प्रतिकूल है।

आत्म निरीक्षण करते समय उन्हें यह स्पष्ट हो गया था, कि किस प्रकार कर्म जाल उनको पराधीन बना रहा है। उन्होंने आस्रवादि के विषय में विचार किया।

मिथ्या अविरत जोग कषाय, ये आस्रव कारन समुदाय।
आस्रव कर्मबंध को हेत, बंध चतुरगति के दुख देत॥
समिति गुप्ति अनुप्रेक्षा धर्म, सहन परीषह संजम पर्म।
ये संवर कारन निर्दोष, संवर करै जीव को मोष॥
तपबल पूर्वकर्म खिर जाहि, नये ज्ञानबल आवैं नांहि।
यही निर्जरा सुखदातार, भवकारन तारन निरधार॥

वैराग्य का प्रकाश होने पर तीर्थंकर भगवान के तत्व-चिंतन की एक झलक तिलोयपण्णत्ति में इस प्रकार दी है, "नरकों में पचनेवाले नारकियों को क्षणमात्र भी सुख नहीं है। उन्हें सदा दारुण दुःख ही भोगने पड़ते हैं।

विषयों में लुब्ध होकर जीव जो कुछ पाप करता है, उसका उदय आने पर नरकों में तीव्र वेदनाओं को पाकर निराश हो रुदन करता है।" आचार्य कहते हैं कि विरक्त तीर्थंकर इस प्रकार सोचते हैं :—

खणमित्ते विसयसुहे जे दुक्खाइं असंखकालाइं।
पविसंति घोरणिरए ताण समो णत्थि णिब्बुद्धो॥ ६१४-४॥

जो क्षणमात्र टिकने वाले विषय सुख के लिए असंख्यातकाल तक दुःखों का अनुभव करते हुए घोर नरकों में प्रवेश करते हैं, उनके समान निर्बुद्धि दूसरा नहीं है।

यदि नरक गति नहीं मिली तो पशु पर्याय में जीव कष्ट पाता है :—

भोत्तूण णिमिसमेत्तं विसयसुहं विसय-दुक्ख-बहुलाइं।
तिरयगदीए पावा चेट्ठंति अणंतकालाइं॥ ६१६॥

पापी प्राणी क्षण मात्र विषय सुख को भोगकर विषम एवं प्रचुर दुःखों को भोगते हुए अनन्तकाल तक तिर्यंचगति में रहते हैं।

अंधो णिवडइ कूवे वहिरो ण सुणेदि साधु-उवदेसं।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं ॥ ६१५ ॥

यदि अंधा कूप में गिरता है, बहिरा साधु का उपदेश नहीं सुनता है, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है, किन्तु जो व्यक्ति देखता, सुनता है, वह भी यदि नरक में पड़ता है, तो आश्चर्य की बात है।

मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर भी इसे सुख नहीं मिला :—

मादा पिदा कलत्त पुत्ता बंधू य इंदजाला य॥
दिट्ठपणट्ठाए खणे मणस्स दुसहाइं सल्लाइं ॥ ६४० ॥ - ४

माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बंधुजन ये सब इंद्रजाल के समान क्षण भर में देखते देखते नष्ट होते हुए मन के लिए दुस्सह शल्य हैं।

देवगति में सुख को प्राप्त हुआ जीव उस सुख के विनाश की चिन्ता रूप भावों से सदा महान मानसिक दुःखों का अनुभव किया करते हैं।

प्रभु का निश्चय :- चारों गतियों में दुःख ही दुःख देखकर भगवान अपने हृदय में यह निश्चय करते हैं।

चइदूण चउ-गदीओ दारुण-दुव्वार-दुक्खखाणीओ ।
परमाणंद - णिहाणं णिव्वाणं आसु वच्चामो ॥ ६४२ ॥

इसलिए दारुण और दुर्निवार दुःखों की खानिभूत इन चारों गतियों को छोड़कर हमें उत्कृष्ट आनन्द के भण्डार रूप मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए।

लौकान्तिकों का आगमन :—उसी समय लौकान्तिक देव आये। उन्होंने प्रथम ही कल्पवृक्ष के पुष्पों से भगवान के चरणों की पूजा की। + लौकान्तिक देवों के आगमन से भगवान के वैराग्यभाव पुष्ट

+ इतनैं लोकांतिक सुर आय पुहुपांजलि दे पूजे पाय।
ब्रह्मलोकवासी गुनधाम देव रिषीश्वर जिनको नाम॥

(क्रमशः)

होते हैं तथा विश्व भर को पता चल जाता है, कि अब इन प्रभु की तपकल्याणक की अपूर्व वेला समीप आ गई है।

वे देवर्षि भगवान वर्धमान प्रभु से कहने लगे—

धनि विवेक यह धन्य सयान, धनि यह औसर दयानिधान ॥
जान्यो प्रभु संसार असार। अथिर अपावन देह निहार।
इंद्रिय सुख सुपने सम दीस, सो याही विधि हैं जग ईस ॥

उन देवों की यह विनय यथार्थ है :—

जग प्रमाद-निद्रा वश होय, सोवत है सुधि नांही कोय।
प्रभु धुनि-किरन पयासै जबै, होय सचेत जगे जन तबै ॥
यह भव दुस्तर पारावार दुख जल-पूरित वार न पार।
प्रभु उपदेश पोत चढि धीर, अब मुख सों जैहैं जन तीर ॥

लौकान्तिक देवों की प्रार्थना को महापुराण में इस प्रकार निबद्ध किया गया है। सारस्वत आदि लौकान्तिक देवर्षि कहते हैं :—

भुवनस्योपकाराय कुरूद्योगं त्वमीशितः।
त्वां नवाब्दमिवासेव्य प्रीयन्तं भव्यचातका ॥ ६६–१६ ॥

हे प्रभो ! आप त्रिभुवन के उपकारार्थ उद्योग कीजिए। ये भव्य जीव चातक सदृश हैं। वे नवीन मेघ समान आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं। उन्हें संतुष्ट कीजिए।

जय त्वमीश कर्मारीन्, जय मोहमहासुरम्।
परीषहभटान् हत्वान् विजयस्व तपोबलात् ॥ ६८–१६ ॥

(शेषांस)

सब पूरव-पाठी बुधवंत, सहज सोम मूरति उपसंत।
बनिताराग हिए नहिं वहैं, एक जन्मधरि शिवपद लहैं ॥
तीर्थंकर जब विरकत होय, हर्षवंत तब आवैं सोय।
और कल्याणक करें प्रनाम, सदा सुखी निवसें निजधाम ॥

पारस पुराण अध्याय ७

हे ईश ! आप कर्मशत्रुओं को जीतिये, मोह रूप महान असुर को पराजित कीजिये। आप अपने तपोबल से परीषह रूपी उन्मत्त सुभटों पर विजय प्राप्त कीजिए।

उत्तिष्ठतां भवान् मुक्त्यै भुक्तै-र्भोगैरलं-तराम्।
न स्वाद्वन्तरमेषु स्याद् भूयोप्यनुभवेऽङ्गिनाम् ॥ ६६ ॥

हे स्वामिन्! अब आप मोक्ष के लिये उठिये। उद्योग कीजिए तथा अनेक बार भोगे गए इन भोगों को छोड़ दीजिए, क्योंकि बार-बार भोगे जाने पर भी इन भोगों के स्वाद में तनिक भी अंतर नहीं आता है।

देव पर्याय में साक्षात् उच्च भोगों का रसास्वादन करने वाले इन परम विवेकी लौकान्तिकों की उपरोक्त मार्मिक वाणी को भगवान ने गंभीरता से सुना और अपने स्वयं के अनुभव से मिलाया, तो वह कथन परिशुद्ध सत्य रूप प्रतीत हुआ।

हरिवंश पुराणोक्त यह प्रार्थना भी मार्मिक है। × देवर्षि समुदाय कहता है।

प्रभो! यह संपूर्ण जगत् भयंकर दुःख ज्वाला से संतप्त हो रहा है; इसके हितार्थ आप शीघ्र ही धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति करें, जिससे यह जगत् आप के द्वारा प्रकटित धर्मतीर्थ में स्नान करके महामोह रूपी मैल को धोकर लोक के अग्रभाग में विराजमान परम सुख के स्थान मोक्ष लोक में चला जाय। महाकवि की पुण्य वाणी इस प्रकार है :—

त्वं वर्तय त्रिभुवनेश्वर धर्मतीर्थं।
यत्रायमुग्रभव दुःख - शिखि - प्रतप्तः ॥
स्नात्वा जनस्त्यजति मोहमलं ।
समस्तमन्हाय याति च शिवं शिवलोकमग्र्यम् ॥ ५२—१६ सर्ग ॥

× लौकान्तिक देवों की संख्या राजवार्तिक में ४७८०६ बताई गई है। इनका प्रभु के समीप जाकर वैराग्य का समर्थन अत्यन्त गौरव तथा महत्व की बात है।

इस प्रकार प्रार्थना के रूप में वैराग्य भावना को विशेष स्थिरता प्रदान करते हुए हंसों की तरह अपने शरीर की कांति से आकाश मार्ग को प्रकाशित करते हुए —"हंसा इव नभोवीथीं द्योतयन्तो-" (महापुराण ७१-१७) वे लौकान्तिक देव ब्रह्म स्वर्ग को चले गए।

तावच्च नाकिनो नैक-विक्रियाः कंपितासनाः।
पुरोऽभूवन् पुरोरस्य पुरोधाय पुरन्दरम् ॥ ७२-१६ ॥

इतने में ही अपने आसनों के कंपायमान होने से भगवान के तपकल्याणक का निश्चय कर देवगण अपने-अपने इंद्रों के साथ अनेक विक्रियाओं को धारणकर प्रकट होने लगे।

कुंडपुर में पुनः सुर मण्डली समुद्र की तरह दिखाई पड़ने लगी। जन्मकल्याण के समय जो मनोभाव थे, उससे भिन्न परिणाम इस समय हो रहे थे, क्योंकि अब वर्धमान भगवान मोह रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए तपोवन की ओर प्रस्थान करने वाले हैं। अब उनका पूर्णतया स्वाधीन जीवन रहेगा। अब न सुरलोक के वस्त्रा-भूषण उनके लिए आवश्यक होगें और न देवों के द्वारा लाया आहारादि उनके लिए उपयोगी होगा। अब वे तपस्वी बनने जा रहे हैं। वे मुनियों के आराध्य देव बनेंगे।

× इंद्रादिक देवों ने अत्यन्त विरक्त भगवान का क्षीर सागर के जल से अभिषेक किया। अभिषेक पूर्ण होने पर बड़े विनय के साथ आभूषण, वस्त्र, मालाएं और मलयागिरि चन्दन से प्रभु का अलंकार किया। यही प्रभु का अंतिम शृङ्गार था। पौद्गलिक वैभव की उनको अंतिम प्रणामांजलि थी।

× ततो परिनिष्क्रान्ति-महाकल्याण-संविधौ।
महाभिषेक मिन्द्राद्याश्चक्रुः क्षीरार्णवाम्बुभिः ॥ ७४ ॥
अभिषिच्य विभुं देवा भूषयांचक्रुरादताः।
दिव्यैर्विभूषणैर्वस्त्रै र्माल्यैश्च मलयोद्भवैः ॥ ७५ ॥ महापु० सर्ग १७

हरिवंश पुराण में लिखा है :—

सौधर्माद्यैः सुरै रेत्य कृतो-भिषव-पूजनः ।
आरुह्य शिविकां दिव्यां मुह्यमान्नां सुरेश्वरैः ॥ ५० ॥
उत्तरा - फाल्गुनीष्वेव वर्तमाने निशाकरे ।
कृष्णस्य मार्गशीर्षस्य दशम्यामगमद्वनम् ॥ ५१ ॥

सौधर्मादि स्वर्ग के देवों ने कुण्डपुर आकर वर्धमान जिनेन्द्र का अभिषेक किया, पूजा की। तदनंतर भगवान सुरेन्द्रों के द्वारा धारण की गई दिव्य पालकी में बैठे। उस समय अगहन वदी दशमी थी तथा चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में विद्यमान था।

महापुराणकार कहते हैं:—

परां विशुद्धिमारूढ़ः प्राक् पश्चाच्छिविकां विभुः ।
तदा करोदिवाभ्यासं गुण - श्रेण्यधिरोहणे ॥ ८७ ॥१६ ॥

उत्तरपुराण में उस पालकी का नाम चंद्रप्रभा लिखा है :—

चंद्रप्रभाख्य-शिविका – मधिरूढो दृढव्रतः ।
ऊढां परिवृढै नृणां ततो विद्याधराधिपैः ॥ २९९ ॥
ततश्चानिमिषाधीशैश्चलच्चामरसंहतिः ।
प्रभ्रमद्भ्रमरारावैः कोकिलालापनैरपि ॥ ३०० ॥
आव्हयद्वा प्रसूनौघैः प्रहसद्वा प्रमोदतः ।
पल्लवैरनुरागं वा स्वकीयं संप्रकाशयत् ॥ ३०१ ॥
नाथः षंडवनं प्राप्य स्वयानादवरुह्य सः ।
श्रेष्ठः षष्ठोपवासेन तत्प्रभापटलावृते ॥ ३०२ ॥
निविश्योत्तरमुखो धीरो चंद्र-रत्नशिलातले ।
दशम्यां मार्गशीर्षस्य कृष्णायां शशिनि श्रिते ॥ ३०३ ॥
हस्तोत्तरद्वयोर्मध्यं भागं चापास्तलक्ष्मणि ।
दिवसावसितौ वीरः श्रेयमाभिमुखोऽभवत् ॥ ३०४ ॥ पर्व ७४ ॥

उस अवसर पर जिनेन्द्र देव ने अपने अंतःकरण में महान विशुद्धि प्राप्त की। पश्चात् वे पालकी पर आरुढ़ हुए। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों वे प्रभु गुणस्थानों की श्रेणी पर चढ़ने का अभ्यास ही कर रहे हों। +

पदानि सप्त तामूहु: शिबिकां प्रथमं नृपाः।
ततो विद्याधरा निन्यु: व्योम्नि सप्त-पदान्तरम् ॥ ६८ ॥

भगवान की पालकी को सर्वप्रथम भूमिगोचरी राजाओं ने सात पैंड पर्यन्त धारण किया, उसके पश्चात् विद्याधरों ने सात पैंड तक आकाश में पालकी धारण की।

स्कन्धारोपिता कृत्वा ततोऽ मूःमविलम्बितम्।
सुरासुरा व्यमूःपेतुः आरुढ–प्रमदोदया. ॥ ६६ ॥

तदनंतर वैमानिक और भवनत्रिक देवों ने अत्यन्त हर्षित होकर वह पालकी अपने कंधों पर रखी और शीघ्र ही उसे आकाश में ले गये।

पारस पुराण में उपरोक्त कथन इन शब्दों द्वारा कहा गया है: —

पहले भूमि-गोचरी राय, सात पैंड लीनी सुख दाय।
फिर विद्याधर राजा रले, पैंड सात ही ते ले चले॥
पीछे इंद्रादिक सुरसंघ, कांधे धरी चले पुर लंघ।
ना अति निकट न दीसै दूर नभ मारग देखैं जन भूर॥

अद्भुत दृश्य:—महावीर भगवान चंद्रप्रभा पालकी में विराजमान हैं। देवेन्द्र उस पालकी को कंधे पर रखें ढो रहे हैं। इसका चित्र कल्पना के द्वारा अपनी मनोभूमिका में लाकर कोई देखे, तो उसे ऐसा लगेगा

+ करणानुयोग रूप जिनागम के अनुसार भगवान के भाव पंचमगुण स्थान के ही माने जायगे। परिग्रह त्याग होने के अनंतर उनके अप्रमत्त तथा पश्चात् प्रमत्तसंयत नामका छठवां गुणस्थान होता है। परिग्रह धारण किए हुए को संयत सोचना वीतराग शासन के विपरीत है।

कि दया के देवता भगवान के रूप में पालकी में विराजमान हैं और सर्व इंद्रादि के रूप में त्रिलोक का वैभव, विभूति और पुण्य उन अहिंसा मूर्ति प्रभु की हृदय से सेवार्थ तत्पर है। यथार्थ में यह रत्नत्रय धर्म का प्रभाव है। उस रत्नत्रय धर्म के प्रभाव से इस श्रेष्ठ समृद्धि की प्राप्ति हुई थी, किन्तु अब इसे भी ये जीर्ण तृण की भांति सार रहित सोचते हुए त्याग करने का निश्चय कर आगे बढ़ रहे हैं।

शंका :—कोई पूछ सकता है, हस्त में आगत विभूति को छोड़ने के पीछे क्या रहस्य है? इन्हें और कौनसी विभूति चाहिए, जिसके हेतु यह करतल गत वैभव त्यागा जा रहा है?

समाधान :—विचार करने पर ज्ञात होगा, कि ये प्रभु नकली, क्षणिक सुख के स्थान में सिद्धों के सुख के हेतु अब उद्यत होकर महान उद्योग प्रारंभ करने वाले हैं।

भगवज्जिनसेन स्वामी उस सुख का स्वरूप इन शब्दों द्वारा समझाते हैं :—

यद्दिव्यं यच्च मानुष्यं सुखं त्रैकाल्य-गोचरम्।
तत्सर्वं पिंडितं नार्घः सिद्धक्षण सुखस्य च ॥ २१५ ॥ ११ पर्व ॥

जो दिव्य सुख तथा मानवीय सुख त्रिकाल सम्बन्धी है, उसे इकट्ठा करके यदि सिद्धों के क्षण भर के आनन्द से तुलना की जाय, तो वह उसके बराबर नहीं होता है।

सिद्धावस्था के सुख में क्या विशेष बात है यह कहते हैं :—

सिद्धानां सुखमात्मोत्थं अव्याबाधमकर्मजम्।
परमाल्हाद-रूपं तत् अनौपम्यमनुत्तरम् ॥ २१६ ॥ पर्व ११ ॥

सिद्धों का सुख इंद्रियाधीन नहीं है, वह आत्मा से उत्पन्न है, वह बिना बाधा के रहने से अव्याबाध है, कर्मों के क्षय से प्राप्त होता है। वह परम आह्लाद रूप है, अनुपम है और सर्वश्रेष्ठ है।

अपूर्व बात :—भगवान पालकी में विराजमान हैं। इंद्र पालकी को लेजा रहे हैं। जब भगवान का जन्म कल्याणक हुआ था, उस समय इंद्र ने यह कार्य नहीं किया था। विरक्त भगवान की इस रूप में सेवार्थ उद्यत सुर-राज को देखकर यह प्रतीत होता है कि सुरपति की दृष्टि में तप के लिए तत्पर जिनेन्द्र का जीवन अत्यन्त आदरणीय तथा स्पृहणीय है।

सम्यक्त्व - समलंकृत सुरेन्द्र से पूछा जाय, कि त्रिभुवन में तुमको सर्व प्रिय कौनसी वस्तु लगती है, तो वह सहस्र मुखों से कहेगा "सकल संयम, परिपूर्ण महाव्रत, विशुद्ध सम्यक् चारित्र।" जब तक वह चारित्र नहीं प्राप्त होता है, तब तक वह चारित्र वालों के चरणों की चरण रज से अपने जीवन को पवित्र करता है। भगवान जिनेन्द्र का यह महोत्सव संयमभाव की समाराधना का अपूर्वोत्सव था।

प्रस्थान वेला की झांकी :—उस मंगल वेला में यक्ष जाति के देव पुष्प वर्षा कर रहे थे। शीतल पवन बह रही थी। देवों के बंदीजन उच्च स्वर से प्रस्थान समय के मंगल पाठ पढ़ रहे थे। देवगण प्रस्थान सूचक भेरियाँ बजा रहे थे।

मोहारिविजयोद्योगसमयोऽयं जगद्गुरोः ।
इत्युच्चैर्घोषयामासुः तदा शक्राज्ञयाऽमराः ॥ १०३-१७ ॥

उस समय इंद्र के आदेशानुसार देवगण जोर-जोर से घोषणा कर रहे थे, कि यह जगत् के स्वामी जिनेन्द्र के मोह रूपी शत्रु के विजय सम्बन्धी उद्योग का काल है।

जिस समय भगवान पालकी पर बैठे थे, उस समय करोड़ों देवकिंकरों के हाथों में स्थित दण्डों की ताड़ना से इन्द्रों के करोड़ों दुंदुभि बाजे आकाश में व्याप्त होकर बज रहे थे। देवांगनाएं उस समय नृत्य-गान में निमग्न थीं।

गायन्तीषु सुकंठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् ।
श्रवःसुखं च हृद्यं च परिनिःक्रमणोत्सवम् ॥ ११० १७ ॥ म. पु.

उस समय मधुर कण्ठ वाली किन्नरी देवियाँ कर्ण प्रिय तथा मनोहर तपः कल्याणोत्सव सम्बन्धी गीत मधुर स्वर से गान कर रहीं थीं।

भगवान बड़े वैभव के साथ अमूल्य रत्नों से बनी हुई दिव्य पालकी पर विराजमान होकर कुण्डपुर के बाहर निकले उस समय का अपूर्व वैभव दर्शनीय था। जगत् की दृष्टि से वह उत्सव वैभवपूर्ण दिखता था, किन्तु वैराग्यमूर्ति उन प्रभु के लिए वह सर्व सामग्री सार शून्य-सी दिखती थी। वे धीरे-धीरे नगर के बाहर विद्यमान नाथ वन में पहुँचे। ×

दीक्षा शिला—उस वन में देवों ने एक शिला पहले से स्थापित की थी। वह रत्न शिला चन्दन के मांगलिक छींटों से युक्त थी। उस पर इन्द्राणी ने अपने हाथ से रत्नों के चूर्ण से चौक वगैरह बनाए थे। उस शिला पर वस्त्रों से सुन्दर मण्डप बनाया गया था। उस शिला के चारों ओर धूप की सुगन्ध फैल रही थी। उसके समीप ही अनेक मङ्गलद्रव्य रूपी सम्पदाएं विद्यमान थीं। उस शिला पर भगवान को देवेन्द्रों ने उतारा। वह शिलापट्ट पाण्डुक शिला का स्मरण कराता था। उस शिला पर भगवान वीर प्रभु आसीन हुए।

× हरिवंशपुराण में दीक्षा वन का नाम ज्ञातृ वन कहा है—"वीरो ज्ञातृवनेऽश्रयत्" (२१८ पर्व ६०)। वर्धमान चरित्र में वन को नागखण्ड कहा है—"भगवान वनमेत्य नागखण्डं त्रिदशेन्द्रै रवतारितः स यानात्" (११३— सर्ग १७) उत्तरपुराण में वन का नाम 'षंडवन'—खण्डवन कहा है—"नाथः षण्ड-वनं प्राप्य स्वयानादवरुह्य सः" (३०२, पर्व ७४)। तिलोयपण्णत्ति में दीक्षा नक्षत्र उत्तरा कहा है, तथा उत्तरपुराण में हस्त और उत्तरा नक्षत्रों का मध्यकाल कहा है। जब हस्त और उत्तरा में चन्द्र स्थित था, तब मगसिर कृष्णा दशमी के सायंकाल में भगवान ने दीक्षा ली, ऐसा निर्वाण भक्ति में कहा है।

सांत्वनापूर्ण उपदेश प्रभु ने उपस्थित लोगों को, देवों को, नागेन्द्रों को, मनुष्यों को यथायोग्य सांत्वनापूर्ण उपदेशों से परितृप्त किया। भगवान ने अपने बन्धुवर्ग से पुनः अनुज्ञा हेतु निवेदन किया। वे वर्धमान भगवान उस समय अध्यात्ममूर्ति थे। उन्हें आत्मा ही आत्मा दिख रही थी। रत्नत्रय धर्म तथा उत्तम क्षमादि परिणाम उन्हें अपने सच्चे और शाश्वतिक बन्धु अनुभव में आरहे थे। लौकिक बन्धुओं को वे रागभाव का मूल मानते थे। "बन्धवो बन्धमूलम्"।

मार्मिक उद्बोधन—उन्होंने अपनी माता त्रिशला तथा पिता सिद्धार्थ महाराज की ओर दृष्टि देते हुए कहा "आप हमारे हमारे इस पुद्गल-मय शरीर के जनक तथा जननी हैं। हमारी आत्मा आपके निमित्त से उत्पन्न नहीं हुई है। हमारी चैतन्यमय आत्मा अनादि निधन है। यह आप दोनों भली प्रकार जानते हैं। आज हमारी आत्मा में ज्ञान ज्योति अज्ञान भाव को दूर कर प्रदीप्त हुई है। वह आत्मा अपने अनादि जनक के समीप जाना चाहती है। इस कारण हम आपसे आज्ञा चाहते हैं, कि आप हमारी आत्मा को छोड़ दें।" +

अपने बंधुओं से भगवान ने कहा, "हे इस शरीर से सम्बन्ध रखने वाले बंधुजनों की आत्माओं ! इस आत्मा का आपके साथ कोई भी संबंध नहीं है। इससे पूछे गये आप लोग हमें अपनी आत्मा के निज बंधुओं के समीप जाने की अनुज्ञा दीजिए।" इस प्रकार आध्यात्मिक विचारों के समुज्ज्वल प्रकाश में भगवान ने सबको सच्ची सांत्वना

+ अहो मदीय शरीरजनकस्यात्मन्, अहो मदीय शरीर जनन्यात्मन् नायं मदात्मा युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं। तत आपृष्टौ युवामिम मात्मानं विमुंचत। अयमात्माऽद्योद्भिन्न ज्ञानज्योति रात्मानमेवात्मनोऽनादि जनक मुपसर्पति। तथा अहो मदीय शरीर बंधुजन-वर्तिन आत्मानः अयं मदात्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीथ तत आपृष्टा यूयं (इमात्मानंविमुंचत)– (सागार धर्मामृत संस्कृत टीका पृ० १९३ अध्याय ७—३४)

दी। इस शुद्ध और सची तर्क प्रणाली के विरुद्ध कहने योग्य कोई भी बात न रहने से सब निरुत्तर थे।

विश्ववंद्य कुण्डपुर—अद्भुत परिस्थिति थी। अब वर्धमान महाराज लौटकर फिर राजभवन में नहीं आवेंगे। इनके तपोवनवासी बनने के बाद देव, देवेन्द्र, देवांगनाओं का भी वहां आगमन होने का कोई कारण नहीं है। कुण्डपुर मोह की भाषा में प्रकाश के स्थान में अंधकार से आक्रान्त हो गया। तत्वज्ञान की दृष्टि में वर्धमान भगवान के तपस्वी बनने के कारण कुण्डपुर विश्ववंद्य हो गया। कुण्डपुर में जन्म लेने वाली महिमाशील आत्मा ही निर्ग्रन्थ तपस्वी होने जा रही है। श्रेष्ठ वैभवशाली आत्मा श्रेष्ठ त्याग करने को है। वह अपरिग्रह वृत्ति को अंगीकार कर रही है।

अब वर्धमान भगवान रूप धर्मसिंह गृहस्थी के बंधन से मुक्त हो क्षण भर में दिगम्बर मुनि बनने को तैयार हो गये हैं। उनके संयम में बाधा डालने वाली कषाय प्रत्याख्यानावरण दूर होने को है। वर्धमान प्रभु की आत्मा में विशुद्धता वर्धमान हो रही है।

वे साम्य भाव से समलकृत हैं। "मित्ती मे सव्वभूदेसु"—सर्व जीवों के प्रति मेरे हृदय में मैत्री भाव है। "वैरं मज्झं ण केणवि" मेरा किसी के प्रति तनिक भी द्वेषभाव नहीं है, ऐसी साम्य भावना के साथ यवनिका के बीच में महावीर वर्धमान ने मोहनीय कर्म का नाश करने के लिए वस्त्र, आभूषण, माला आदि का त्याग किया।

उन्होंने अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया। अब वे निर्ग्रन्थ वन गए। उस समय साक्षी रूपमें सिद्ध भगवान, देवगण तथा स्वयं उनकी आत्मा थी। महापुराण में "त्रिसाक्षिकम्" शब्द का प्रयोग आया है। महावीर भगवान ने उत्तर की ओर मुख करके दीक्षा ली थी। तिलोय पण्णत्ति में लिखा है, कि वीर जिनेन्द्र ने अकेले ही दीक्षा ग्रहण की थी।

मग्गसिर-बहुल-दसमी-अवरण्हे उत्तरासु णाधवणे ।
तदिय-खवणम्मि गहिदं महव्वदं वड्ढमाणेण ॥ ६६७–४ ॥

वर्धमान भगवान ने मगसिर कृष्णा दशमी के दिन सायंकाल में उत्तरा नक्षत्र के रहते नाथवन में तृतीय भक्त के साथ महाव्रतों को ग्रहण किया। उक्त ग्रंथ में यह भी लिखा है :—

णेमी मल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेस जिणा रज्जचरम्मि ॥ ६७०–४ ॥

भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थंकरों ने कुमारकाल में और शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

केशलोच—परिग्रह का त्याग करने के अनन्तर उन्होंने सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करके केशों का लोच किया। उत्तर पुराण में लिखा है :—

सुराधीशः स्वहस्तेन तान् प्रतीक्ष्य महा-मणि।
ज्वलत्पटलिका-मध्ये विन्यस्याभ्यर्च्य मानितान् ॥ ३०८ ॥
विचित्रतरवस्त्रेण पिधाय विधृतान् सुरैः।
स्वयं गत्वा समं क्षीरवारिराशौ न्यवेशयत् ॥ ३०९–७४ ॥

इन्द्र ने वे सब केश अपने हाथ से चुनकर उठा लिए थे और मणियों के देदीप्यमान पिटारे में रखकर उनकी पूजा की, आदर सत्कार किया, अनेक तरह के वस्त्रों में उन्हें लपेट कर रखा और फिर स्वयं सब देवों के साथ जाकर उन्हें क्षीर सागर में छोड़ दिया।

शंका—मलिन केशों का तथा आभूषणादि का इंद्रों ने क्यों सत्कार किया ?

समाधान—महापुराणकार के इन शब्दों में समाधान किया गया है :—

महतां संश्रयान्नूनं यान्त्यर्च्यां मलिना अपि।
मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्ता श्रितैर्गुरुम् ॥ २१०–१७ ॥

वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना ।
तान्यप्यनन्यसामान्यां मिन्युरत्युन्नतिं सुराः ॥ २११ ॥

महापुरुषों का आश्रय करने से मलिन (नीच) पुरुष भी पूज्यता को प्राप्त हो जाते हैं, यह बात बिलकुल ठीक है, क्योंकि भगवान का आश्रय करने से मलिन (काले) केश भी पूजा को प्राप्त हुए थे।

भगवान ने जिन वस्त्र आभूषण तथा माला वगैरह का त्याग किया था, देवों ने उन सबकी भी असाधारण पूजा की थी।

सामायिक चारित्र वह मार्ग शीर्ष कृष्णा दशमी धन्य हो गई, जब वर्धमान प्रभु ने अहिंसा की श्रेष्ठ साधना द्वारा मुक्ति के लिए सुदृढ़ निश्चय करके उस ओर सम्यक्प्रवृत्ति भी प्रारम्भ कर दी। उन्होंने सामायिक चारित्र को स्वीकार किया, जिसमें समस्त पाप प्रवृत्तियों का पूर्णतया परित्याग किया जाता है। जिनसेन स्वामी कहते हैं:—

कृत्स्नाद् विरम्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमम्।
व्रत - गुप्ति- समित्यादीन् तद्भेदानाददे विभुः ॥ २०२–१७ ॥

भगवान ने पाप क्रियाओं का पूर्णतया त्याग करके सामायिक संयम का आश्रय ग्रहण किया था। उसके भेद रूप व्रत, गुप्ति तथा समिति आदि को भगवान ने धारण किया था।

गोम्मटसार जीव काण्ड में सामायिक संयम का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

सगहिय सयल-संजम-मेयम-मजम-मणुत्तरं दुरवगम्मं।
जीवोसमुव्वहंतो सामाइय – संजमो होदि ॥ ४७० ॥

मैं पंच महाव्रतादि की धारण करने रूप सकल-संयम को अहरूप से स्वीकार करता हूँ। मैं सर्व सावद्य का त्याग करता हूँ। इस प्रकार संयम को अभेद रूप से धारण करना सामायिक संयम है। यह अपूर्व है, कठिनता से प्राप्त होता है। इसे धारण करने वाला जीव सामायिक संयमी होता है।

संयम का स्वरूप जीवकाण्ड में इस प्रकार स्पष्ट किया है: —

वद-समिदि-कसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालण-णिग्गह-चाग-जओ संजमो भणिओ ॥ ४६५ ॥

अहिंसादि व्रतों को धारण करना, ईर्या आदि समितियों का पालन करना, क्रोध, मान, माया, लोभ रुप कषायों का निग्रह करना, मन, वचन तथा काय रूप दण्डों का त्याग करना तथा पंचइंद्रियों का जीतना संयम कहा गया है "सं–सम्यक् यमनं संयमः—सम्यक् प्रकार से जो नियम है, वह संयम है।

शंका :—सामायिक चारित्र को सावद्य योग त्याग रुप कहा है। इस सम्बन्ध में राजवार्तिक में अकलंक स्वामी ने प्रकाश डालते हुए शंका उठाई है, सामायिक चारित्र निवृत्ति रुप होने से गुप्ति रुप होगा?

समाधान :– ऐसा नहीं है। इस चारित्र में मानसिक प्रवृत्ति का सद्भाव पाया जाता है। गुप्ति का लक्षण निवृत्ति रुप है। अकलंक स्वामी के बहुमूल्य शब्द इस प्रकार हैं; "स्यादेतन्निवृत्तिपरत्वात्सामायिकस्य गुप्तिप्रसंग इति, तन्न। किं कारणं? मानस-प्रवृत्तिभावात्। अत्र मानसीप्रवृत्तिरस्ति, निवृत्तिलक्षणाद् गुप्ति रित्यस्ति भेदः" (पृ. ३४०, अध्याय ६, सूत्र १८)

अनगारधर्मामृत की टीका में कहा है कि इस सामायिक संयम में बादर संज्वलन-कषाय का संबंध रहता है, फिर भी इसके धारण करने वाले मुमुक्षु के अभेदरुप से सभी व्रतों का धारण हो जाता है। कहा भी है --

क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोहणम् ।
कषाय-स्थूलतालीढ़ स सामायिकसयमः ॥

भगवान ने सामायिक चारित्र में जो पंच महाव्रतों को स्वीकार किया है, उनका स्वरुप इस प्रकार कहा गया है :—

"पंच-महव्वदाणि। तत्थ पढमं महव्वदं पाणादि-वादादो वेरमणं, विदियं महव्वदं मुसावादादो वेरमणं, तिदियं महव्वदं अदत्त-दाणादो

वेरमणं, चउत्थं महव्वदं मेहुणादो वेरमणं, पंचमं महव्वदं परिग्गहादो वेरमणं" । (प्रतिक्रमण-पीठिका-दण्डक)—पांच महाव्रत हैं । प्रथम महाव्रत में प्राणातिपात अर्थात् प्राणघात का त्याग है, दूसरे महाव्रत में मृषावाद असत्य भाषण का त्याग है, तृतीय महाव्रत में अदत्तादान अर्थात् चोरी का, चतुर्थ महाव्रत में मैथुन का त्याग अर्थात् स्त्री संपर्क का त्याग, + पांचवां महाव्रत परिग्रह का त्याग रूप है ।

भगवान वर्धमान जिनेन्द्र ने निर्वाण दीक्षा लेकर व्रतादि से अपने जीवन को समलंकृत किया । इस निर्वाण दीक्षा के द्वारा ही निर्वाण प्राप्त होता है । अब वे समयसार रूप हो गए । पुरुषार्थ-सिध्यु-पाय में अमृतचंद्रसूरि ने लिखा है, हिंसादि का पूर्णतया त्याग करने वाला साधु समयसार स्वरूप है—

'निरतः कार्त्स्न्य-निवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोयम्' ॥ ४१ ॥ अब वे प्रभु आत्मानंद में निमग्न हैं । त्याग के द्वारा अद्भुत शांति मिली है ।

अपूर्व शांति लाभ—वर्धमान भगवान ने संयम से जीवन को समलंकृत करके जो शांति प्राप्त की है, वह कुण्डपुर के राजभवन में नहीं मिली थी । सुरेन्द्रों के द्वारा अर्पित पौद्गलिक पदार्थों का आश्रय लेना तथा उनकी सेवा का सम्बन्ध शरीर से था । बाह्य सामग्री आत्मा को क्या दे सकती है ?

बहिर्दृष्टि व्यक्ति सोचता है, कि राजभवन के वैभव विमुक्त हो दिगम्बर मुद्रा को धारण कर जङ्गल में भूतल पर स्थित रहने में

+ बौद्ध धर्म में परिग्रह त्याग रूप व्रत के स्थान में मादक पदार्थ के त्याग को पांचवा शील कहा गया है । पंचमशील का नियम लेते समय यह वाक्य कहा जाता है "सुरा-मैरेय-मज्ज-पम्पदट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि "—सुरा-मैरेय, मद्य के सेवन करने से मैं विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ ।

अपार कष्ट होता होगा ? किन्तु वास्तविकता इससे दूर है। अब भगवान का भेद-विज्ञान का प्रदीप अच्छी तरह दीप्तिमान हो रहा है। इसके प्रकाश में वे आत्मा को ही अपना मानते हैं। आत्मा को अपना कहना भी ठीक भाव नहीं है। मैं आत्मा हूँ; 'अहमेव अहं' यह वे अनुभव कर रहे थे।

एकत्व स्वरूप का चिंतवन—"अहमेको"—मैं एक हूँ। "न मे कश्चित्"—कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है। "नैवाहमपि कस्यचित्"—मैं भी किसी का नहीं हूँ। वे यह भी चिंतवन करते थे :—

'णाहं होमि परेसिं, ण मे परे संति, णाणमहमेक्को।' मैं पर पदार्थों का नहीं हूँ। पर पदार्थ मेरे नहीं हैं। मैं तो अकेला हूँ। मैं ज्ञानमय हूँ।

इस विचार से क्या होता है, इस सम्बन्ध में जिनागम का का कथन अत्यन्त मार्मिक है :—

'इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि आदा'। इस प्रकार जो ध्यान में आत्मा का चिंतवन करता है, वह अपनी आत्मा का ध्यान करने वाला है।

इस चिंतन से दूसरा लाभ जीवन के श्रेष्ठ ध्येय मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ की प्राप्ति है। आगम में कहा है :—

इदि जो झायदि झाणे सो मुच्चइ अट्ठकम्मेहिं ॥

इस प्रकार जो ध्यान में चिंतवन करता है, वह आठ कर्मों से मुक्त होता है। सर्व परिग्रहत्यागी मुनीश्वरों के ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्म-रूपी ईन्धन भस्म हो जाता है।

गृहस्थ भी ऐसी पवित्र चर्चा करता है। वह क्षणभर ऐसे विचारों को कर भी लेता है; किन्तु दूसरे ही क्षण आकुलता तथा परिग्रह का जाल पर पदार्थों की ओर खेंचकर उसकी दुर्गति करता है। इसी कारण महापुरुष अकिंचन मन, अकिंचन काय और अकिंचन वृत्ति को आत्मा

की निधि बनाते हैं। अकिंचन भावना और परिग्रह का संग्रह परस्पर विरुद्ध प्रवृत्तियां हैं। योगी जन ऐसे भूल भरे मार्ग को नहीं अपनाते। वे एकत्व का चिंतवन करते हैं तथा उसके अनुसार सामर्थ्य भर पुरुषार्थ करते हैं।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने मोक्ष पाहुड मे लिखा है :—

> उड्ढद्ध-मज्भलोये केई मज्भं ण अहममेगागी ।
> इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥ ८१ ॥

उर्ध्व, मध्य तथा अधोलोक में कोई भी पदार्थ मेरा नहीं है। मैं अकेला हूँ। इस भावना के द्वारा योगी शाश्वतिक सुख को प्राप्त करता है।

इस अकिंचन भावना अथवा एकत्व दृष्टि को समुचित संपोषण दिगम्बर वृत्ति द्वारा प्राप्त होता है। परिग्रह के सम्पर्क वाले जीव के उज्ज्वल विचारों पर विकारी भावों का प्रहार कौन रोक सकता है? यह विषय गम्भीर अनुभव तथा चिंतन पर आश्रित है। सूत्र पाहुड में लिखा है, कि सर्व परिग्रह का त्याग किये बिना तीर्थंकर भगवान भी सिद्धि के स्वामी नहीं बनते हैं :—

> ण वि सिज्भइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।
> णग्गो वि मोक्ख-मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥ २३ ॥

जिन शासन में कहा है कि वस्त्रधारण करने वाले यदि तीर्थंकर हैं, तो उनको भी सिद्धि नहीं मिलती है। मोक्ष का मार्ग दिगम्बरत्व है। अन्य सब उन्मार्ग हैं।

भावशून्य दिगम्बरत्व की समीक्षा—जिनागम उस दिगम्बरत्व को हितकारी कहता है, जो मिथ्यात्व आदि विकारी भावों से विमुक्त है। आगम में लिखा है, कि भाव रहित दिगम्बरत्व कष्ट का कारण है। उससे मुनित्व नहीं प्राप्त होता है। भावशून्य दिगम्बरत्व की समीक्षा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं :—

दव्वेण सयल-णग्गा णारय-तिरिया य सयल संघाया।
परिणामेण असुद्धा ण भाव-सवणत्तणं पत्ता ॥ ६७ ॥

बाह्य रूप की दृष्टि से सम्पूर्ण जीव नग्न रहते हैं। नारकी, तिर्यंच तथा इतर जीवों का समुदाय भी नग्न रहता है; किन्तु अशुद्ध परिणाम युक्त होने से वे भाव मुनिपने को प्राप्त नहीं होते।

णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसार-सागरे भमई।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिण-भावण-वज्जियं सुइरं ॥ ६८ ॥

त्याग सम्बन्धी भावना रहित नग्न जीव संसार रूपी सागर में भ्रमण करता है और दुःख प्राप्त करता है। नग्न होने मात्र से बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है।

सम्यक् पथ—इस कथन को शिरोधार्य करते हुए कोई व्यक्ति मुनियों के २८ मूलगुणों में अचेलता-वस्त्र परित्याग को अनावश्यक कह सत्ताईस गुणों की मान्यता को अपनाने लगे, तो उसे उन्हीं कुन्दकुन्द स्वामी के इन शब्दों द्वारा उनका यथार्थ अभिप्राय निश्चय करना चाहिए:—

भावेण होइ णग्गो बाहिर लिंगेण किं च णग्गेण।
कम्म-पयडीण-णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

भाव रूप से नग्नता उचित है, केवल नग्नता युक्त बाह्य वेष क्या करेगा? कर्म प्रकृतियों का समुदाय भाव नग्नता सहित द्रव्य दिगम्बरत्व द्वारा नष्ट होता है।

बाह्य त्याग का कारण - बाह्य वस्त्रादि का त्याग भगवान महावीर ने क्यों किया? इस सम्बन्ध में जिनागम कहता है:—

भावविसुद्धि णिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतर - गंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥ भावपाहुड ॥

भावों की विशुद्धि का हेतु होने से बाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। अन्तरंग परिग्रह युक्त व्यक्ति के बाह्य परिग्रह का त्याग मोक्ष रूप फल को नहीं प्रदान करता है।

यदि बाह्य पदार्थों से ममत्व नहीं है, तो उनका रक्षण, व्यवस्था, उपयोग आदि क्यों किया जाता है ? कोई-कोई कहते हैं, महावीर भगवान ने प्रारंभ में इंद्र द्वारा प्रदत्त वस्त्र-देव दूष्य रखा था, पश्चात् उसे छोड़ दिया। इस सम्बन्ध में समीक्षा करने पर यह प्रश्न होता है, 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम' कीचड़ में पैर डालकर उसे पीछे धोने की अपेक्षा क्या यह उचित नहीं है, कि प्रारम्भ से ही उसे त्याग दिया जाता ? इन्द्र ने यदि वस्त्र दिया और पहिले परिग्रह मात्र का त्याग किया गया था, तब उस प्रतिज्ञा के विरुद्ध उसको रखना, उससे वस्त्र सम्बन्धी कार्य लेना आदि क्या अन्तरंग में ममता का सद्भाव स्पष्टतया नहीं सिद्ध करते हैं ? यदि वस्त्रादि रखते हुए भी अपरिग्रह भाव रह सकता है, तो धन-धान्यादि रखते हुए उसे अपना न मानने का वचनालाप करने वाला क्यों न अपरिग्रही होगा ? अतत्व की एक बिन्दु भी समस्त तत्वज्ञान को नष्ट भ्रष्ट कर देती है। इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक उदाहरण है। उससे यह स्पष्ट होगा, कि थोड़ा भी अशुद्ध तर्क महान अनर्थ करते हुए व्यक्ति का मुंह नहीं मोड़ सकता।

वेदान्त कहता है, यह चर अचर जगत ब्रह्म स्वरूप है। वही सत्य है। उसके सिवाय समस्त विश्व मिथ्या है—'सर्वं खलु इदं ब्रह्म', 'सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या'। इस तत्व को स्वीकार करने में हमारा स्वयं अनुभव बाधक है। ब्रह्माद्वैत का साधक जो वाक्य होगा, उसकी दृष्टि से साध्य तथा साधन रूप द्विविधता स्वीकार करनी पड़ेगी।

कहते हैं, एक दुराचारिणी स्त्री ने यह बात सुन ली कि सारा विश्व ब्रह्मरूप है और वह ब्रह्म ही सत्य है। उस ब्रह्म के सिवाय अन्य नहीं है। अतः वह कहती है, मैं अपने पति तथा अपने प्रेम - पात्र अन्य पुरुष में कोई भेद नहीं देखती। दोनों ही एक हैं, क्योंकि वे दोनों ब्रह्म-रूप हैं। तब क्यों लोग मुझे असती कहकर बुरा बताते हैं ? इसी आशय को संस्कृत का कवि इस प्रकार कहता है :—

ब्रह्मैव सत्यम मखिलं न हि किंचि दन्यत् ।
तस्मान्न मे सखि परापर - भेदबुद्धिः ॥
जारे तथा निजवरे सदृशोऽनुरागो ।
व्यर्थं कि-मर्थमसतीति कदर्थयन्ति ॥

इसी प्रकार अपरिग्रहत्व को धर्म का अंग मानते हुए भी सुभीते के अनुसार वस्त्रादि को धारण करते हुए मूर्छा का अभाव बताकर अपने को अपरिग्रही मानने वाले व्यक्ति ऐसी दृष्टि तथा परिस्थिति को उत्पन्न करते हैं, कि जिसमें श्रेष्ठ निराकुल ध्यान असंभव बन जाता है। मौलिक अपरिग्रह की बात ही दूसरी है, यदि मानसिक परिग्रह रहता है, तो बाह्य परिग्रह रहित होते हुए भी जीव बंधन के जाल से नहीं बच पाता, तब बाह्य परिग्रह का साथ और जुट जाय, तो फिर मानसिक नैर्मल्य और शुद्ध आत्म तत्व की भावना कैसे बनेगी ?

एक कहावत है, "जिस मार्ग जाना नहीं, वहां का रास्ता पूछने आदि का क्या प्रयोजन है ?" इसी प्रकार यदि अन्तरंग से पदार्थों के प्रति वीतराग वृत्ति अपनाई गई है, तो फिर बाहरी सामग्री का रखना, उसे संभालना, उसके नष्ट होने पर दूसरे की आकांक्षा करना आदि कार्य किस लिए हैं ? मोक्ष की प्राप्ति के लिए मोक्ष की इच्छा को भी त्यागना आवश्यक कहा गया है। यह कथन उन मुनिराज की अपेक्षा कहा गया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थों का पहले ही त्याग कर दिया है। इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के जाल में जकड़े हुए गृहस्थ की दृष्टि से मोक्ष की अभिलाषा आरंभ में आवश्यक है। आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक में + कहा है, कि मोक्ष की अभिलाषा जिस भव्य के जगी है, वही धर्म तत्व सुनने का पात्र है। आगे जाकर वे ही आचार्य कहते हैं।

मोक्षेपि यस्य नाकांक्षा स मोक्ष मधिगच्छति ।
इत्युक्तत्वाद्धितान्वेषी कांक्षां न क्वापि योजयेत् ॥२१॥ स्वरूप संबोधन ।

+ यथा व्याधि-निवृत्तिज-फल-श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य चिकित्स्यस्य प्रसिद्धौ चिकित्सामार्ग-विशेष-प्रतिपित्सोत्पद्यते तथात्मद्रव्यप्रसिद्धौ श्रेयोमार्ग-प्रतिपित्सेति । तस्मात् साधीयसी मोक्षमार्गव्याख्या स्वायंभवीति ॥ त० रा० पृ० १ ॥

जिस मुनीश्वर के हृदय से मोक्ष की भी इच्छा निकल जाती है अर्थात् अन्य इच्छाओं का तो अभाव है ही, मोक्ष की भी इच्छा नहीं है; वह मोह की पर्याय रूप इच्छा से विमुक्त योगी मोक्ष को प्राप्त करता है। इस आगम की वाणी को ध्यान में रखते हुए हितान्वेषी को किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार एकान्त पक्ष को छोड़कर विवेक के प्रकाश में कार्य करना चाहिए। मुनिपद की उच्च अवस्था को लक्ष्य में रखकर उनके लिए कथित उपदेश को, जो गृहस्थ अपने लिए निरूपित आगम व्यवस्था की अवज्ञा करते हुए अपनाने का नाटक दिखाता है, उसे दर्शन मोहनीय कर्म की पुलिस पकड़कर अपने कारावास में डाल देती है। मुनियों के मूल गुणों का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है। पंच-महाव्रत, पंचसमिति, पंच इंद्रियों का निरोध, केशलोच, समता, वंदना आदि छह आवश्यक, अचेलता अर्थात् दिगम्बरपना, अस्नानव्रत, भूतल पर शयन करना, दन्त धावन नहीं करना, खड़े होकर करपात्र में आहार करना तथा दिन में एक ही बार आहार करना ये अट्ठाईस मूल गुण महाव्रती साधु के हैं। सभी साधुओं के हैं। ऐसा नहीं है कि तीर्थंकर महावीर वर्धमान प्रभु मुनि बने हैं, तो उनको कोई रियायत (Concession) दी गई हो। न्याय की नींव पर अवस्थित जैनशासन पक्षपात या विशेष रियायत देने का नाम नहीं जानता है। गुण और पात्रता का मूल्यांकन यहां किया गया है। चक्रवर्ती भरत महान परिग्रही थे, किन्तु उन्हें परिग्रह त्यागकर शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करने में देर नहीं लगी।

उत्तर पुराण में लिखा है—

> आदि-तीर्थकृतो ज्येष्ठपुत्रो राजसु षोडश ।
> ज्यायांश्चक्री मुहूर्तेन मुक्तोयं केस्तुलां व्रजेत् ॥ ४६—७४ पर्व ॥

आदि नाथ तीर्थंकर का ज्येष्ठ पुत्र, सोलहवां मनु तथा प्रथम चक्रवर्ती भरत दीक्षा लेने के पश्चात् अंतमुहूर्त में केवली हो गया था।

उसकी तुलना कौन कर सकता है? पांच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकरों ने भी इतने शीघ्र सिद्धि नहीं पाई। वासुपूज्य भगवान का छद्मस्थ काल एक वर्ष था, मल्लिनाथ भगवान का छह दिन, नेमिनाथ का छप्पन दिन, पार्श्वनाथ का चार माह तथा महावीर भगवान का बारह वर्ष प्रमाण छद्मस्थ काल कहा गया है। (ति० प० पृ० २२७)

सापेक्ष दृष्टि की आवश्यकता—जिनवाणी के सापेक्ष निरुपण को यदि भुला दिया जाय, तो मनुष्य विपत्ति के चक्र में फंसे बिना न रहेगा। एक स्नान के विषय को ही एकान्तवादी की दृष्टि से देखा जाय, तो बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी।

सागार धर्मामृत में लिखा है कि+स्त्री सेवा, कृषि सेवा आदि के कारण संक्लिष्ट गृहस्थ को शिर से अथवा कण्ठ पर्यन्त स्नान के पश्चात् अर्हन्त देव की स्वयं पूजा करनी चाहिए। यदि स्नान नहीं किया है, तो दूसरे के द्वारा भगवान की पूजा को करवावे। इस नियम को भूलकर कोई प्रमादी स्नान बिना किए मुनि आदि सत्पात्रों के दान हेतु यदि आग्रह करते हुए कहे कि मैंने तो मुनिराज के अस्नान व्रत को स्वीकार किया है। स्वयं स्नान न करके आहार लेने वाले मुनिराज को स्नान न करते हुए भी मेरे आहार देने के अधिकार में क्यों दोष माना जायगा? अस्नानपना तो जैसे मेरे है, वैसे मुनि मे है। दोनों में भेद मानना पक्षपात है।

यह तर्क अविवेक पर आश्रित है। मुनि और गृहस्थ में महान भेद है। मुनिराज स्नान का त्याग करते हैं, क्योंकि स्नान से उनके अहिंसा-महाव्रत में दूषण आता है आदि। उग्र संयम के द्वारा तपस्वी पवित्र होता है। वह तपस्वी जल से स्नान नहीं करता है, किन्तु व्रत, शीलादि गुणरूपी जल से वह अपने को अधिक शुद्ध बनाता है।

+स्त्र्यारंभ-सेवा-संक्लिष्टः स्नात्वा ऽ ऽ कण्ठमथा-शिरः।
स्वयं यजेतार्हत्पादानस्नातोऽन्येन याजयेत् ॥३४-२॥ सागारधर्मामृत

इसी प्रकार शुभोपयोग आदि के विषय में एकान्तवाद घुसकर परिहास-पूर्ण स्थिति को उत्पन्न करता है।

प्रवचनसार में लिखा है, कि निर्वाण का कारण शुद्ध उपयोग है :—

> सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
> सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥ २७४॥

शुद्धोपयोगी के हीं साधुपना है। शुद्धोपयोगी के ही दर्शन और ज्ञान कहे गए हैं। शुद्धोपयोगी के ही निर्वाण कहा है। शुद्धोपयोगी ही सिद्ध भगवान होते हैं। उस शुद्धोपयोगी को नमस्कार है।

शुद्धोपयोग—इस शुद्धोपयोए की महिमा को सुनने वाला गृहस्थ भी शुद्धोपयोग का स्वप्न देखता है, यद्यपि गृहस्थावस्था में शुद्धोपयोग का सद्भाव असंभव है। उपयोग को निर्मल बनाने के हेतु ही भगवान वर्धमान ने सर्व प्रकार के परिग्रहों का परित्याग किया तथा उसके उद्योग में वे लगे हैं। महावीर भगवान को अपना उपयोग शुद्ध करने में द्वादश वर्ष व्यतीत हो गए। कषायों का पूर्णक्षय हुए बिना उपयोग अशुद्धता-विमुक्त कैसे होगा ?

जब तक पूर्ण निर्मलता उपलब्ध नहीं होती है, तब तक मलिन उपयोग से आत्मा की रक्षा उचित कही गई है। महावीर भगवान ने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को दीक्षा ली, किन्तु केवलज्ञान प्राप्त होने में उन्हें द्वादश वर्ष लगे। इस मध्यवर्ती काल में उनका उपयोग शुद्ध नहीं रहा। यदि अंतर्मुहूर्त पर्यन्त शुद्धोपयोग हो जाय, तो केवलज्ञान उत्पन्न होता है। द्वादश वर्ष पर्यन्त केवलज्ञान न होना सूचित करता है, कि तीर्थंकर होते हुए भी कुछ ऐसी मानसिक अवस्था है, जो ध्येय प्राप्त करने में विलम्ब करा रही है। मल्लिनाथ भगवान उस मोहजन्य मलिनता को छह दिन में दूर कर सके थे। पार्श्वनाथ प्रभु को उस कार्य में चार माह लगा था। नेमिनाथ जिनेन्द्र ने छप्पन दिन में वह कार्य संपन्न किया था। आन्तरिक अंतर्द्वन्द्व की अवस्था अद्भुत रहती है। उस आन्तरिक

संतुलन की स्थापना का उद्योग करके समता का स्थायी साम्राज्य स्थापित करना महान कठिन कार्य है। उसके लिए व्रती साधक सर्व-प्रथम अशुभ उपयोग को दूर कर शुभ उपयोग का आश्रय लेता हुआ बढ़ने का यथा संभव प्रयत्न करता है।

भावपाहुड में लिखा है: —

त्रिविध परिणाम—

भावं तिविहपयारं सुहासुह सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह-धम्म जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

भाव तीन प्रकार है, शुभ, अशुभ तथा शुद्ध। आर्तध्यान, रौद्रध्यान अशुभ हैं। धर्मध्यान शुभ भाव ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

शुक्लध्यान शुद्धभाव की श्रेणी में आता है। जब तक निर्विकल्प-समाधि के उच्च परिणमन द्वारा शुक्लध्यान को प्राप्त कर क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं होता है, तब तक शुभ परिणाम रूप धर्मध्यान का शरण ग्रहण करना एकमात्र कर्तव्य शेष रहता है। इस काल में भरत क्षेत्र में शुक्लध्यान का अभाव होने से जीव को धर्मध्यान का आश्रय लेने का आगम में उपदेश है।

रयणसार में कुन्द-कुन्द स्वामी ने लिखा है:—

अज्जवि-सप्पिणि भरहे धम्मज्झाणं पमादरहिदमिति।
जिणुद्दिट्ठं ण हु मण्णइ मिच्छा दिट्ठी हवे सो हु ॥ ६० ॥

इस अवसर्पिणीकाल में भरत क्षेत्र में मुनीश्वरों के प्रमाद रहित धर्मध्यान जिनेन्द्र देव ने कहा है। इसे जो नहीं मानता है, वह मिथ्यात्वी है।

शंका: धर्मध्यान शुभ भाव कहा गया है। उस शुभ भाव से बंध होता है। मोक्ष का कारण शुभ भाव नहीं है।

समाधान: यह बात पूर्ण सत्य है, किन्तु जब तक शुद्धभाव के योग्य स्थिति नहीं उत्पन्न होती है, तब तक अशुभ भाव के दुःखद और

गंदे गर्त में गिरने के बदले शुभभाव रूप नन्दन वन में निवास क्या बुरा है ?

आचार्य कहते हैं :—

असुहावो णिरयादो सुहभावादो दु सग्ग सुह-माश्रो ।
दुह-सुह-भावं जाणह जं ते रुच्चेदणं कुणाहो ॥ ६१ ॥

अशुभ भाव से नरकादि कुगति होती है। शुभ भाव से स्वर्ग का सुख प्राप्त होता है। दुःख और सुख की प्राप्ति अपने भावों पर निर्भर है। हे जीव ! जो तुझे प्रिय लगे, उसे कर।

भाव पाहुड़ में कुन्द-कुन्द स्वामी ने लिखा है :—

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मोत्तूण ।
रुद्दट्ट झाइयाई इमेण जीवेण चिरकालं ॥ १२१ ॥

तू आर्त्त और रौद्र ध्यानों का त्यागकर तथा धर्म और शुक्ल नामके ध्यानों का चिंतवन कर। इस जीव ने चिरकाल से आर्त और रौद्र ध्यानों का चिंतवन किया है।

इस विवेचन के प्रकाश में यह ज्ञात हो जाता है कि शुद्धोपयोग द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। शुक्लध्यानी के शुद्धोपयोग होता है। उस शुद्धोपयोग के अभाव में शुभोपयोग रूप धर्मध्यान के हेतु उद्यत रहना चाहिए। धर्मध्यान रूप शुभोपयोग का फल पुण्य बंध है तथा सुगति की प्राप्ति है। आर्त रौद्र ध्यानों का फल पाप का बंध है तथा नरकादि गति की प्राप्ति है। अतः पुण्य के कारण रूप शुभोपयोगात्मक धर्मध्यान में मुनिजन उपयोग तब तक लगाते हैं, जब तक शुक्लध्यान तथा शुद्धोपयोग के अनुकूल साधन-सामग्री नहीं मिलती है। शुक्ल-ध्यान की अपेक्षा पुण्य बंध का हेतु धर्मध्यान अग्राह्य है, किन्तु पाप बंध के हेतु आर्त-रौद्र रूप अशुभ ध्यानों की अपेक्षा वह ग्राह्य है। सामान्य गृहस्थ के लिए पुण्य ग्राह्य है। अतः तत्व विचार करते समय अनेकान्त दृष्टि को नहीं भुलाना चाहिए।

श्रमण महावीर का ध्यान :—इस सम्पूर्ण विवेचन को ध्यान में रखते हुए हम तपोवन में महावीर भगवान के चरणों के पास पहुँचते हैं, तो उन्हें आत्मध्यान में निमग्न पाते हैं। यह ध्यान कौन सा है ? यह ध्यान शुक्लध्यान तो है नहीं। शुक्लध्यान उन्हें द्वादश वर्ष के अन्त में मिलेगा। अभी ये प्रभु तीस वर्ष के हैं। उस समय ये ब्यालीस वर्ष के होंगे। भगवान धर्मध्यान रूप शुभोपयोग युक्त हैं। यह ध्यान बारह वर्ष तक चलेगा। आर्त तथा रौद्र ध्यान की बीमारी को उन्होंने दूर कर दिया है। उन्होंने चारित्र रूपी औषधि ग्रहण की है। जब एकाग्रतापूर्ण ध्यान रहित अवस्था होती है, तब वे प्रभु द्वादश अनुप्रेक्षा आदि शुभोपयोग को धारण करते हैं। अशुभोपयोग से वे दूर रहते हैं।

कर्माणि हि महारोगाः नश्यति यत्प्रयोगतः।
सच्चारित्रौषधायास्मै ददामि कुसुमांजलिम्॥

जिसके उपयोग करने से कर्मरूपी महारोग दूर हो जाते हैं, उस सम्यक् चारित्र रूपी औषधि के लिए मैं पुष्पांजलि अर्पण करता हूँ।

हरिवंशपुराण में भगवान नेमिनाथ की दीक्षा का वर्णन करते हुए बताया है, कि छद्मस्थकाल के छप्पन दिन पर्यन्त उन्होंने धर्मध्यान में अपना उपयोग लगाया था।

धर्म्य-ध्यान-प्रकारं स ध्यायन्नेमि र्यथोचितम्।
षट्-पंचाशदहोरात्र-कालं सुतपसा-नयत्॥ १११—सर्ग ५६

उन नेमिनाथ भगवान ने भले प्रकार धर्मध्यान के भेदों का ध्यान करते हुए उच्च तपस्या द्वारा छप्पन दिन-रात व्यतीत किये थे।

इसी प्रकार वर्धमान भगवान का काल धर्मध्यान में व्यतीत हो रहा था। आर्तध्यान तथा रौद्र ध्यान दुर्गति के कारण हैं, इससे वे प्रभु अपनी रक्षा करते थे।

आर्त ध्यान :—आर्ति का अर्थ पीड़ा है। जिस ध्यान में पीड़ा सहनी पड़े, वह आर्तध्यान है। यह कृष्ण नील, तथा कपोत रूप

अशुभत्रिक लेश्याओं में होता है। इसके बाह्य चिह्न हैं; रोना आदि। दूसरे की लक्ष्मी देख आश्चर्य में डूब जाना, विषयों में आसक्ति रखना अंतरंग लक्षण है।

अपनी आत्मा का आर्तध्यान तो स्वयं वेद्य है, दूसरे का आर्तध्यान अनुमान गम्य है, यथा अप्रिय पदार्थों की उत्पत्ति न हो ऐसी चिंता, उसकी उत्पत्ति होने पर उसके वियोग का विचार, प्रिय पदार्थ के वियोग न होने का ध्यान, प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर पुनः उसकी प्राप्ति का ध्यान में चार भेद हैं। इस आर्तध्यान का आधार प्रमाद है, फल तिर्यंच गति है। यह क्षायोपशमिक भाव है। यह मिथ्यात्व से छटवें गुणस्थान पर्यन्त रह सकता है।

रौद्र ध्यान :—क्रूर जीव को रुद्र कहते हैं। उसके ध्यान का नाम रौद्र ध्यान है। हिंसा में आनन्द मानना हिंसानन्द, परिग्रह में आनन्द मानना परिग्रहा-नन्द, चोरी में आनन्द मानना चौर्यानन्द और झूठ बोलने मे आनन्द मानना मृषानन्द नामक रौद्र ध्यान है। इसके लक्षण अंतरंग मे कठोर भाव और बाह्य में लक्षण क्रूर वचन आदि हैं। यह भी कृष्ण, नील, कापोत रूप अशुभत्रिक लेश्याओं में कहा गया है।

यह प्रथम से पंचम गुण स्थान पर्यन्त होता है। यह अंतर्मुहूर्त पर्यन्त रहकर अन्य रूपता धारण करता है। यह क्षायोपशमिक भाव रूप है। भावलेश्या और कषायों से औदयिक भावरूप रौद्र ध्यान भी होता है। इसका फल नरक गति है—"उत्तरं फलमेतस्य नारकी गति रुच्यते"। अतः हरिवंशपुराणकार कहते हैं :—

परिहृत्यार्त-रौद्रे द्वे पाप-ध्याने मुमुक्षवः।

धर्म्य-शुक्लधियः सतु शुद्ध-भिक्षादि-भिक्षवः॥ २९—सर्ग ५६

शुद्ध आहारादि ग्रहण करने वाले मुमुक्षु साधुओं को आर्त तथा रौद्र रूप पाप ध्यानों का परित्याग करके धर्म्य और शुक्ल ध्यान में उपयोग लगाना चाहिए।

बाह्य निमित्त—इन आराध्य ध्यानों के योग्य सामग्री एकान्त प्रदेश, प्रासुक क्षेत्र, सुदृढ़ संहनन, योग्य कालादि कहे गए हैं।

धर्म ध्यान—बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों के स्वरूप को धर्म कहते हैं, उससे च्युत न होकर जो ध्यान करना है, वह धर्मध्यान है। आगम के अर्थ में चित्त लगाना, शील तथा गुणों के समुदाय में अनुराग आदि अभ्यंतर लक्षण हैं। जमाई, छींक, डकार आदि का न आना, श्वासोच्छ्‌वास की मन्दता एवं शरीर की निश्चलता इसके बाह्य लक्षण हैं। यह दश प्रकार कहा गया है।

दस भेद—मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति प्रायः संसार का कारण है, उससे मेरा कब छुटकारा होगा, यह विचार करना अपाय विचय है। इसकी उत्पत्ति पीत पद्म तथा शुक्लरुप शुभ लेश्याओं में होती है। मेरे ज्ञान, वैराग्य आदि पवित्र भावों की उत्पत्ति कैसे होगी, यह विचारना उपाय विचय धर्म्य ध्यान है। जीव के स्वरूप का विचार करना जीव विचय हैं। धर्म, अधर्मादि अचेतन द्रव्यों का स्वरूप चिंतवन करना अजीव विचय है। अष्ट कर्मों के विपाक रुप उदय का विचार करना विपाक विचय है। शरीर की अपवित्रता, विषयों की निस्सारता का विचार करना वैराग्य विचय है। चारों गति में मरकर परिभ्रमण करना महा कष्टप्रद है। इसका विचार करना भवविचय हैं। तीनों लोकों के आकार आदि का विचार संस्थान विचय है। पदार्थों का जो स्वरूप जिनेन्द्र देव ने कहा है, वह सत्य है, अन्यथा नहीं है यह विचारना आज्ञा विचय है। तर्कशील व्यक्ति का स्याद्वाद की प्रक्रिया द्वारा सन्मार्ग का ध्यान करना हेतु विचय है।

यह चतुर्थगुणस्थान से सप्तम गुणस्थान पर्यन्त होता है। अकलंक स्वामी राजवार्तिक में लिखते हैं "धर्म्यं ध्यानं श्रेण्यो नेष्यते" (पृ. ३५४, अध्याय ९, सूत्र ३६) यह धर्मध्यान श्रेणी में नहीं पाया जाता है।

इस धर्म ध्यान के उक्त दश भेदों का समावेश तत्वार्थसूत्रकार ने आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय इन चतुर्विध ध्यानों में किया है – "आज्ञापाय-विपाक-संस्थान-विचयाय धर्म्यम् " (३६-६)

चार भेद :—आगम में इस ध्यान को इस प्रकार भी चतुर्विध रुप बताया है :—

पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिंतनम् ।
रुपस्थं सर्वचिद्रूपं रुपातीतं निरंजनम् ॥

मंत्र वाक्य में स्थित पदस्थ धर्मध्यान है । स्वात्म-चिंतन पिण्डस्थ ध्यान है । सर्वचिद्रूप का विचार रूपस्थ ध्यान है, रुपातीत निरंजन का ध्यान रुपातीत धर्मध्यान है ।

ध्यान में चित्त कहां लगावे ? :—अपना ध्यान इस साधक को कहाँ लगाना चाहिये, इस विषय में ज्ञानार्णव में यह कथन किया गया है :—

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे ।
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रू-युगान्ते ।
ध्यान-स्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे ।
तेष्वेकस्मिन्विगत–विलयं चित्तमालम्बनीयम् ॥ १३–अध्याय ३० ॥

निर्मल बुद्धिवाले मुनीन्द्रों ने इस देह में ये स्थान के योग्य कहे हैं । नेत्र युगल, कर्णयुगल, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, सिर, हृदय, तालु, भ्रू युगल का अंत ये दस स्थान हैं । इनमें से किसी भी स्थान में व्यग्रता को त्यागकर चित्त लगाना चाहिए ।

आत्मध्यानी योगी जब इस पवित्र कार्य में संलग्न हो जाता है, तब उसके राग, द्वेष, मोह, क्रोध, कामादि विकार स्वयं शान्त होने लगते हैं । तीर्थंकर भगवान दीक्षा-लेने के अनंतर इस अंतर्जगत् में मुख्यतया विचरण करते हैं । वे अपने भावों को विशुद्ध करने के उद्योग में निरन्तर निरत रहते हैं ।

भगवान के मौन का रहस्य :—दीक्षा लेते समय वे जीवन भर के लिए मौन व्रत लेते हैं। उन्हें 'महामौनी' कहा गया है। जिनसेन स्वामी ने कहा है, "आकेवलोदयान्मौनी"—केवलज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त भगवान मौन रखते हैं। तीर्थंकर भगवान श्रेष्ठ साधु बनते हैं। उनके समस्त कार्य उत्तम ही होते हैं। मन, वचन, काय द्वारा वे महान तप करते हैं। शरीर द्वारा घोर तप करते हैं। चरमोत्तम शरीरी तथा वज्रवृषभनाराच संहनन रहने से उनकी सामर्थ्य अपार रहती है। मौन धारण कर वे वाणी की चंचलता का परित्याग करते हैं। मनोजय के उद्योग में वे सर्वदा सावधानी के साथ उद्यत रहते हैं। भगवान के मौ[redacted] ग्रहण करने का कारण मोक्षपाहुड में कुन्दकुंद स्वामी इस प्रकार बताते हैं :-

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणग दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केणह ॥ २९ ॥

चक्षु इंद्रिय के द्वारा जो रूपवान पदार्थ दिखाई पड़ता है, वह पूर्णतया ज्ञान विरहित है। जो ज्ञानमयी आत्मा है, वह दृष्टिगोचर नहीं होती, अतः मैं किसके साथ बातचीत करूं ?

वे वस्तु स्वरूप के विचार में निरन्तर लगे रहते थे। जितना विशाल यह बहिर्जगत् है, उससे भी अधिक विशाल वह अंतर्जगत है। इस अंतर्जगत् के भीतर ही बहिर्जगत् का समावेश होता है। अंतर्जगत् ज्ञानात्मक ज्योति से सर्वदा प्रकाशित रहता है।

दीक्षा लेते समय विरक्ति का बल अधिक होने से वीतरागता की ज्योति बलवती दिखती है। इसी कारण देश संयमी जब सकल संयमी बनता है, तब उसके परिणाम छटवें गुणस्थान का उल्लंघन कर अप्रमत्त संयत नाम के सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है :—

सासण पमत्तवज्जं अपमत्तंत्त समल्लियइ मिच्छो।
मिच्छत्तं बिदियगुणो मिस्सो पढमंचउत्थं च ॥ ५५७ ॥

अविरदसम्मो देसो पमत्तपरिहीणमप्पमत्तंतं ।
छट्ठाणाणि पमत्तो छट्ठगुणं अप्पमत्तोदु ॥ ५५८ ॥

मिथ्यात्व गुणस्थान वाला जीव सासादन तथा प्रमत्त गुणस्थान को छोड़कर अप्रमत्त पर्यन्त चार गुणस्थानों को प्राप्त होता है। दूसरे गुणस्थान वाला गिरकर प्रथम गुणस्थान को ही प्राप्त होता है। मिश्र वाला चतुर्थगुणस्थान को प्राप्त करता है अथवा वह गिरकर प्रथम गुणस्थान को भी प्राप्त होता है। अविरत सम्यक्त्वी तथा देशसंयमी ये दोनों प्रमत्तगुणस्थान को छोड़कर अप्रमत्त पर्यन्त जाते हैं। प्रमत्त गुणस्थान वाला अप्रमत्त गुणस्थान को तथा नीचे पांच स्थानों को, इस प्रकार छह स्थानों को प्राप्त करता है। अप्रमत्त गुणस्थान वाला छठवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। 'दु' शब्द से उपशमक, क्षपक, अपूर्वकरण को और मरण की अपेक्षा देवअसंयत को इस प्रकार कुल तीन गुणस्थानों को प्राप्त होता है।

उपसामगा दु सेढि आरोहंति य पडंति य कमेण।
उवसामगेसु मरिदो देवतमत्तं समल्लियई ॥ ५५९ ॥

अपूर्व करणादि उपशम श्रेणी वाले उपशम श्रेणी पर क्रमसे चढते भी हैं तथा उतरते भी हैं। उपशम श्रेणी में मरे हुए जीव महान ऋद्धिं धारी देव भी होते हैं। अतः चढ़ने की अपेक्षा ऊपर का और उतरने की अपेक्षा नीचे का तथा मरण की अपेक्षा चौथा इस तरह उपशम श्रेणी के तीन २ स्थान होते हैं। उपशांत कषाय के दसवां और चौथा दो ही स्थान हैं।

भगवान का विचार—भगवान आत्म भावना में निमग्न होकर सोचते हैं "णाहं देहो"-मैं शरीर नहीं हूँ, "ण मणो"-मैं मन नहीं हूँ, "ण चेव वाणी"- मैं वाणी भी नहीं हूँ, "ण कारणं तेसिं"—मैं उनका कारण भी नहीं हूँ। आगम में कहा है :

जो आदभावणमिदं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥

जो मुनि नित्य उद्योगशील होकर आत्मभावना को करता है, वह अल्पकाल में सर्व दुःखों से छुटकारा पाता है।

आत्म-भावना की सच्ची पात्रता—इस आत्मा की भावना करने की यथार्थ सामर्थ्य मुनि अवस्था प्राप्त महापुरुष के पाई जाती है। परिग्रह रूपी पिशाच द्वारा ग्रस्त गृहस्थ उस यथार्थ आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाता है। गृहस्थ 'द्वन्द्व-शतार्तः'—सैकड़ों झंझटों से घिरा रहता है। वह पुद्गल की सेवा में रहता है। वह आत्मा की बड़ी २ बातें बना सकता है, किन्तु निर्विकल्प समाधि का निर्मल निर्झर क्या कहलाता है, यह वह बेचारा नहीं जानता। गृहवासी महावीर भगवान क्षायिक सम्यक्त्वी थे, देशव्रती थे, किन्तु मुनि बनने पर जो आत्मरस पान का उन्हें आनन्द आ रहा है, वह शांति तीर्थंकर होते हुए, स्वप्न में भी नहीं मिली। सच्चे परिग्रही त्यागी दिगम्बर श्रमण की मानसिक विशुद्धता अपूर्व होती है।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

> जो सव्व-संग मुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
> सो सव्व-दुक्ख मोक्खं पावइ अचिरेण कालेण॥

जो संपूर्ण परिग्रह का त्याग करके अर्थात् दिगम्बर मुनि होकर आत्मा के द्वारा आत्मा का ध्यान करता है, वह शीघ्र ही संपूर्ण दुःखों से छुटकारा पाता है।

भगवान महावीर गृहस्थ अवस्था में रहते हुए सम्यक्त्वी होने से आत्म ज्योति समलंकृत थे। उस अवस्था में तीस वर्ष व्यतीत करने पर भी उन्हें वह वस्तु नहीं मिली, जो दिगम्बर मुद्रा धारण करके निश्चिन्त हो आत्म भावना द्वारा सहज ही अल्पकाल में प्राप्त हो गई। आत्म भावना तथा सर्व संग परित्याग का संबंध मणि कांचन योग है।

वस्त्रादि धारण करके साधु का रूप प्रदर्शन करने वाले अनेक लोक प्रसिद्ध व्यक्तियों से यदि आत्म-चिंतन तथा आत्मभावना की

चर्चा की जाय, तो उस क्षेत्र में वे अपठित बालक के समान विचित्र बातें बताते हैं। परिग्रह त्याग पूर्वक महाव्रती की आत्मभावना अपूर्व सामर्थ्य संपन्न होती है। उससे अद्भुत सिद्धियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं।

तप से अपूर्व लाभ :—महावीर भगवान को क्या ऋद्धि-सिद्धि दिगम्बर बनने पर प्राप्त हुई, इस विषय में वर्धमानचरित्र में लिखा है :—

अचिरादुपलब्ध-सप्तलब्धि. स मन.पर्ययबोध मभ्युपेत्य ।
रुरुचे वितमाः परं रजन्यामन-वाप्तै-ककलो यथा मृगाकः ॥११८-१७॥

दीक्षा लेने के पश्चात् शीघ्र ही बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस व क्षेत्र ये सात ऋद्धियां उत्पन्न हो गई तथा मनः पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। उससे वे वर्धमान प्रभु इस प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार रात्रि में सम्पूर्ण कला को प्राप्त करने वाला चन्द्रमा अन्धकार रहित होकर चमकता है।

सुन्दर उत्प्रेक्षा :—इस मनःपर्यय के विषय में गुणभद्राचार्य यह कल्पना करते हैं, कि संयम ने केवलज्ञान आगामी उत्पन्न करने का पक्का वचन दिया और उसके ब्याने के रूप में अभी मनः पर्यय ज्ञान दिया है। लोक में कोई सौदा किया जाता है, तो उसके पूर्व में ब्याना देने की पद्धति है। वैसे ही यहाँ संयम ने मनः पर्ययज्ञान प्रदान द्वारा अपनाया है। कवि की वाणी इस प्रकार है :—

चतुर्थो ऽप्यवबोधोस्य संयमेन समर्पितः ।
तदैवांत्यावबोधस्य सत्यंकार इवेशितुः ॥ ३१२—७४ ॥

उसी समय भगवान को चतुर्थ ज्ञान-मनः पर्यय उत्पन्न हुआ, वह संयम के द्वारा केवल ज्ञान रूप अन्तिम ज्ञान देने के लिए ब्याने के समान था। इस मनः पर्यय ज्ञान के द्वारा दूसरे के मनोगत विचारों को जानने की शक्ति उत्पन्न हो गई थी।

मनःपर्यय की विशेषता :—

मन.पर्ययज्ञान के विषय में गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है :—

चिंतिय-मचिंतियंवा अद्धं चिंतिय-मणेय-भेयगयं ।
मण पज्जवंति उच्चइ जं जाणइ तं खु णर-लोए ॥ ४३८ ॥

जिस प्रकार पहले चिंतवन हो चुका है, वह चिंतित और जिसका भविष्य में चिंतवन किया जायगा वह अचिंतित तथा जिसका पूर्ण रूप से चिंतवन नहीं हुआ है, ऐसा अर्ध चिंतत ऐसे अनेक भेद युक्त अन्य जीव के मन में अवस्थित पदार्थ को जो जानता है, वह मनःपर्यय ज्ञान कहा गया है। इसकी उत्पत्ति और प्रवृत्ति मनुष्य लोक में ही कही गई है। इसका क्षेत्र विष्कंभ रूप अढ़ाई द्वीप कहा गया है।

सव्वंग-अंग-संभवचिण्हादुप्पजदे जहा ओही ।
मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पजदे णियमा ॥ ४४२ ॥

जैसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्व अंग से और गुणप्रत्यय अवधि शरीरगत नाभि से ऊपर पाए जाने वाले शंखादि चिह्नों से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मनः पर्ययज्ञान विकसित अष्टदल वाले कमल के समान आकार वाले द्रव्य मन से उत्पन्न होता है।

भवप्रत्यय अवधिः—अब महावीर भगवान चार ज्ञान धारक हो गए। अवधि तो पहले ही था। भगवान के अवधिज्ञान के विषय में लिखा है:—

भव-पच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो ।
गुणपच्चइगो णर-तिरियाणं संखादिचिण्हभवो ॥ ३७१ ॥

भवप्रत्यय अवधि देव, नारकी तथा तीर्थंकर के होता है। 'चरमभव-तीर्थंकरस्यापि भवति'—चरमभव युक्त तीर्थंकर के भी होता है। यह सर्व अंगों से उत्पन्न होता है। मनुष्य तथा तिर्यंचों के पाया जाने वाला अवधिज्ञान गुण प्रत्यय कहलाता है। वह शंखादि चिह्नों से पैदा होता है। "नाभेरुपरि-शंख-पद्म-वज्र-स्वस्तिक-झष-कलशादि-शुभ चिह्न-लक्षितात्म - प्रदेशस्थावधिज्ञानावरण-वीर्यान्तराय - क्षयोपशमोत्पन्न मिति"—नाभि के ऊपर शंख, कमल, वज्र, स्वस्तिक, मछली, कलश इत्यादिक के आकार रूप शुभ चिह्न युक्त आत्म प्रदेशस्थ जो अवधि

ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। (संस्कृत टीका पृ. ७६८)

भगवान चार ज्ञान के स्वामी हो गए, यह महत्व की बात है। सप्त ऋद्धियों के अधीश्वर हो गए, किन्तु इन विशेषताओं से उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहता है। मौनव्रती आत्मनिष्ठ योगी बाहर के जगत् वालों से संपर्क स्थापित करने वाली वाणी का उपयोग नहीं करता है। आत्मा जैसी २ उज्ज्वल बनती जाती है, वैसी वैसी सिद्धियां आदि उसके पास दौड़कर बिना बुलाई आती हैं। त्याग धर्म की महिमा महान है। निस्पृह वृत्ति वाले सत्पुरुष के समीप प्रकृति अपना अद्भुत भण्डार और वैभव अर्पण करती है, किन्तु वह आत्मा विरागता के पथ से न डिगती हुई वर्धमान बनती है। आत्मा एक है, ज्ञान स्वरूप है। उसके सिवाय उसका और क्या है ? गुण समुदाय गुणी में रहते हैं। जीव द्रव्य अपनी सीमा के बाहर की वस्तु को अपना करने का जब अध्यवसान करता है, तब वह अपने आध्यात्मिक ऐश्वर्य और सौन्दर्य से बहिर्भूत होता है।

नाथ वनः महावीर मुनीन्द्र स्वयंबुद्ध साधुराज हैं। उनकी आत्मा अपना मार्ग निर्धारण करने में दूसरे की अपेक्षा नहीं करती करती है। उन्होंने दीक्षा लेकर कुण्डपुर के निकटवर्ती तपोवन को सचमुच में 'नाथ' वन बना दिया। वह वन अनाथ जीव को 'नाथ' बनने की प्रेरणा करने वाला बन गया। असंयमी जीवन पर संयम की 'नाथ' उस वन में ही तो मनोवृत्ति पर लगाई गई थी। दीक्षा के दूसरे दिन मार्गशीर्ष एकादशी आई। प्रभात में सूर्य का प्रकाश हुआ। यतीश्वर महावीर ने प्रस्थान कर दिया। आज सच्ची एकादशी है। + एकादशी को हिन्दू समाज में उपवास का दिन गिनते हैं। आज भगवान का उपवास है।

+ एक कवि ने रोचक तथा विनोदपूर्ण पद्य इस एकादशी को अभाव

(क्रमशः)

विश्व के प्रभु : -अब वे कुण्डपुर के नहीं हैं। संसार उनको कुण्डपुर का भगवान कहता है। कुण्डपुर उन्हें अपना कहता है तथा कहता रहेगा, किन्तु भगवान अब विश्व के हैं। उन्होंने विश्व की प्राकृतिक मुद्रा—दिगम्बर वृत्ति को अंगीकार कर प्रकृति का स्वरूप शिशुत्व प्राप्त किया है।

वे निर्विकार मनस्वी साधु कुण्डपुर की ओर पीठ करके और आगे बढ़े। वे आगे बढ़े जा रहे हैं; कहाँ जायंगे? किसे मालुम? अब ये बातें नहीं करते? भव्यों का अदृष्ट—सुदैव उन्हें अपनी ओर खेंच रहा है।

मध्याह्न की बेला आई। भगवान सामायिक में निमग्न हो गए। वे स्वानुभूति के रस पान में निमग्न हैं। सामायिक का समय पूर्ण होने पर वे फिर आगे बढ़े।

संध्या होने पर प्रभाकर अस्ताचल पर पहुँच गया। भगवान भी एक जगह रुक गए। वे भूतल पर स्थित हो गए। अब उनके पास

(शेषांश)

का दिन मानकर लिखा है। कोई कवि महोदय गरीबी के मार से मरे जा रहे थे। एक दानी राजा के पास धन-लालसा से पहुँचे। राजा का उनकी ओर ध्यान नहीं गया। कवि ने राजा की सेवा में अपनी प्रार्थना प्रश्न के रूप में की और पूछा—

राजन्! त्वत्कीर्ति-चंद्रेण तिथयः पौर्णिमा कृताः।
मद्गेहान्नबहिर्याति तिथिरेकादशी कुतः ॥

राजन्, आपकी कीर्ति चन्द्रमा ने सर्व तिथियों को पूर्णिमा बना दिया, क्योंकि आपके दान से सबकी परितृप्ति हुई है, किन्तु इसका भला क्या कारण है, जो मेरे घर से एकादशी तिथि बाहर नहीं जाती है और वह वहाँ जमकर जमी है।

राजा समझ गए कि बेचारा पंडित मुसीबत का मारा है। उन्होंने उसकी इच्छा को पूर्ण करके वहाँ से अभाव की प्रतीक एकादशी को दूर भगाया।

न इन्द्र है, न देवता है और न कोई साथी है। उन्हें कुछ चाहिए भी नहीं। वे अकिंचन हैं। अकिंचनता के प्रेमी हैं और शाश्वतिक अकिंचनता को प्राप्त करके सिद्धीश्वर–भगवान सिद्ध बनने वाले हैं। रात्रि के समय भ्रमण साधु के लिए उचित नहीं है। उस समय गमन करने से विश्व बंधुत्व रूप सिद्धान्त की क्षति होती है। जीव दया नहीं पल सकती है। और भी दोष हैं, जिनसे बचने के लिए श्रेष्ठ अहिंसा की साधना में उद्यत दिगम्बर जैन मुनि रात्रि को बिहार नहीं करते हैं।

किन्हीं का कथन है, कि महावीर निद्राजय तप का अभ्यास करते थे। रात्रि को जब नींद सताती, तब वे इधर उधर घूमने निकल जाते थे। यह विचार अहिंसा की साधना के विपरीत है। उनका साध्य है अहिंसा और इस प्रकार की तपस्या उसकी साधिका है। अहिंसा का व्याघात करते हुए निद्रा नहीं लेने का क्या प्रयोजन है? जैसे कोई व्यक्ति धन लाभ के लिए व्यापार करता है। यदि किसी व्यापार से धन के लाभ के स्थान में हानि हो, तो उसे उस घाटे के व्यवसाय को बदलना होगा। सामान्य साधु भी जब रात्रि को गमन नहीं करते, तब श्रेष्ठ तपस्वी तीर्थंकर के विषय में ऐसी कल्पना उनका अवर्णवाद है।

भगवान महावीर ने रात्रि व्यतीत होने के पश्चात दूसरे दिन प्रभात में प्रस्थान किया।

प्रथम आहार :—आज मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी है। वे प्रभु कूल राज्य में आ गए। वहाँ के नरेश वर्धमान भगवान के असाधारण भक्त हैं। लगभग दस बजे भगवान आहार प्राप्ति के हेतु निकले।

सर्वत्र साधु-भक्त श्रावकों ने 'नमोस्तु' 'नमोस्तु' की ध्वनि करते हुए उन मुनिनाथ को पड़गाहने का प्रयत्न किया। उस दिन का आहार तीर्थंकर वर्धमान मुनीश्वर का प्रथम आहार था। उस दिन उन उत्तम पात्र को आहार देने का अपूर्व सौभाग्य स्वयं कूल नरेश को प्राप्त हुआ।

लोकोत्तर दृश्य—उस समय का दृश्य अलौकिकता से परिपूर्ण था। ये तीन लोक के नाथ वर्धमान मुनीन्द्र अंजुली बांधकर खड़े हैं। मुनिराज सर्वदा दान देते हैं। प्रेम का दान देते हैं, अभय का दान देते हैं। उनसे सबको पवित्रतम वस्तुओं की प्राप्ति होती है। इस समय उनके हाथों की अंजुली के ऊपर आहार दान देने वाले नरेश का हाथ था। कूल नरेश ने क्षीर मिश्रित अन्न का आहार प्रभु को महान भक्ति, श्रद्धा, प्रेम तथा विनय के साथ अर्पण किया। हरिवंश पुराण में लिखा है :—

वर्षेण पारणाद्यस्य जिनेन्द्रस्य प्रकीर्तिता।
तृतीय-दिवसेऽन्येषां पारणा प्रथमा मता॥ २३७॥
आद्येनेक्षुरसो दिव्यः पारणायां पवित्रितः।
अन्यैर्गोक्षीर – निष्पन्न – परमान्नमलालसैः॥ २३८॥ ६०

आदिनाथ भगवान ने एक वर्ष बाद पारणा की थी। अन्य तीर्थंकरों ने तीसरे दिन प्रथम पारणा की थी।

आदिनाथ भगवान ने दिव्य और पवित्र इक्षुरस से पारणा की थी तथा अन्य तीर्थंकरों ने गो के क्षीर से निष्पन्न मधुर अन्न को लालसा रहित होकर लिया था।

उत्तर पुराण में इस प्रकार कथन आया है :—

अथ भट्टारकोप्यस्मा दगा-त्कायस्थितिं प्रति।
कूलग्राम - पुरीं श्रीमत्व्योमगामि - पुरोपमम्॥ ३१८॥–७४
कूलनाम महीपालो दृष्ट्वा तं भक्ति - भावतः।
प्रियंगु - कुसुमांगाभः त्रिःपरीत्य - प्रदक्षिणम्॥ ३१९॥
प्रणम्य पादयोर्मूर्ध्ना निधि वा गृहमागतः।
प्रतीक्ष्यार्घादिभिः पूज्यस्थाने सुस्थाप्य सुव्रतम्॥ ३२०॥
गंधादिभि र्विभूष्यैतत् – पादोपांत – महीतलम्।
परमान्नं विशुध्याऽस्मै सोऽदिते–ष्टार्थ-साधनम्॥ ३२१॥

अथानंतर शरीर की स्थिति में हेतु रूप आहार ग्रहणार्थ वे महावीर भट्टारक निकले तथा स्वर्ग की नगरी के समान कूलग्राम नाम की नगरी में पहुँचे। प्रियंगु-पुष्प के समान कांति को धारण करने वाले वहाँ के कूल नामके राजा ने बड़ी भक्ति से उनका दर्शन करके तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और उनके चरणों में मस्तक झुकाकर उनको नमस्कार किया। उसने भगवान को घर में आई निधि के समान माना।

उस नरेश ने श्रेष्ठ व्रतों से अलंकृत उन प्रभु को उच्च स्थान पर विराजमान किया तथा अर्घादिक से उनकी पूजा की। उनके चरण के समीप की भूमि को सुगंध पूर्ण द्रव्यादि से अलंकृत की और अत्यन्त निर्मल भावों से उनको इष्ट अर्थ का साधक श्रेष्ठ अन्नाहार समर्पण किया।

प्रथम आहार दाता का सौभाग्य—तीर्थङ्कर को सर्वप्रथम आहार देकर कूल नरेश+ दान-तीर्थङ्कर महाराज श्रेयांस की पुण्य श्रेणी में सम्मिलित हो गए। उनकी शीघ्र मुक्ति निश्चित हो गई। हरिवंश पुराण में लिखा है:—

तपस्यिताश्च ते केचित्सिद्धास्तेनैव जन्मना।
जिनांते सिद्धिरन्येषां तृतीये जन्मनि स्मृताः॥ २५२–६०॥

उन जिनेश्वर को सर्वप्रथम आहार देने वालों में अनेक तो उसी भव में तप को अंगीकार कर मोक्ष गए और अन्य तीसरे भव में मोक्ष जाते है।

उस भाग्यशाली दातार के भवन मे महान पात्र के लाभ जनित पुण्य के उत्कर्षवश रत्नों की वर्षा होती है। भगवान भगवती अहिंसा के प्राण स्वरूप हैं। उनकी सेवा करने वाले के सम्मान में भगवती वसुन्धरा पर रत्नों की वर्षा पूर्णतया उपयुक्त है।

+ हरिवंश पुराण में भगवान का आहार स्थल 'कुंडपुर' लिखा है (२४३-सर्ग ६०) आहारदाता का नाम 'वकुलसधा' वकुल आया है (२४८)

जिस समय पापमयी प्रवृत्तियां पराकाष्ठा को पहुँचती है, उस समय आकाश से अग्नि, विष आदि की वर्षा होती है।

× उत्तर पुराण में बताया है कि पष्ठम काल के अंत में पाप की प्रचुरता होने से एक सप्ताह अग्नि की बर्षा होगी, फिर एक सप्ताह शीतल जल बरसेगा, फिर एक सप्ताह क्षार जल की वृष्टि होगी, फिर एक सप्ताह विष की वर्षा होगी, सात दिन अग्नि की वर्षा होगी, सात दिन धूलि बरसेगी और अन्तिम सातवें सप्ताह में धूम की बर्षा होगी। (उत्तर पुराण पर्व ७६ श्लोक ४५१-४५२) इस प्रकार ४९ दिन पर्यन्त प्रलय होगी। अतः पुण्यराशि धर्म तीर्थङ्कर की अपूर्व सेवा करने वाले सत्पुरुष का प्रांगण रत्नों से परिपूर्ण हो जाय, यह उपयुक्त और उचित ही है।

तिलोयपण्णत्ति (अ. ४, पृ. २२७) में लिखा है - दान विशुद्धि की विशेषता को प्रगट करने के निमित्त देव मेघों से अंतर्हित होते हुए रत्नवृष्टिपूर्वक दुँदुभि बाजों को बजाते हैं। उस दान का उद्घोष होता है—"यह दान धन्य, यह पात्र धन्य और यह दाता धन्य है।" सुगंधित और शीतल वायु बहती है और आकाश से दिव्य पुष्पों की वर्षा होती है।"

पंचाश्चर्यों की उपयुक्तता :— भगवान धर्म तीर्थङ्कर महावीर प्रभु के पंचकल्याणक होंगे, पंचम क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक हुआ, पंचम गति (मोक्ष) को वे प्राप्त करेंगे, उनको प्रथम आहार देने वाले का पंच परावर्तन रुक जाता है, उससे गृहस्थाश्रम में पंचसूना

× महर्षि ऋषिपुत्र रचित निमित्तशास्त्र मे अशुभ निमित्तों के द्वारा सकटपूर्ण भविष्य का कथन किया गया है। उसमें लिखा है :—

जहाँ आकाश से रक्त की वर्षा होती है, वहाँ दो माह में अनिष्टफल दिखाई पड़ता है। मास की वर्षा होने पर १ माह में अनेक प्रकार के उत्पात यथा परचक्र भय, भीषण मारी रोग, नगर का नाश, देश का विनाश आदि होते हैं। (पृ. १६-१७)

क्रिया (चक्की, चूल्हा आदि क्रियाओं) जनित दोषों का क्षय होता है तथा पञ्च परमेष्ठी के प्रति परम प्रीति पैदा होती है। ऐसी दिव्यात्मा के आहारदान के समय पंचाश्चर्यों का होना उचित लगता है।

मुनिदान की महिमा—निर्ग्रन्थ साधु को आहार देने की महिमा को प्रगट करने वाले कुंद-कुंदस्वामी की यह वाणी अत्यन्त मार्मिक तथा महत्वपूर्ण है :—

जो मुणि-भुत्त-वसेसं भुंजइ सो भुंजए जिणुवदिट्ठं।
संसार-सार सोक्खं कमसो णिव्वाण-वर-सोक्खं॥ २२—रयणसार॥

जो भव्य जीव मुनिराज को आहार दान देने के पश्चात् शेष बचे हुए मुनि-भुक्त-शेषान्न का आहार करता है, वह इस संसार में सार रूप सुखों को प्राप्त होता हुआ क्रम से निर्वाण का श्रेष्ठ सुख पाता है। निर्ग्रन्थ साधु के निमित्त से गृहस्थ का अवर्णनीय कल्याण होता है। सागारधर्मामृत में लिखा है, कि श्रीषेण राजा ने निर्ग्रन्थ मुनि को आहार दिया था, उससे वह अनेक प्रकार के सुखों को भोग-भूमि में भोगता हुआ अंत में सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ की श्रेष्ठ अवस्था का अधिपति बना था। (७०, अध्याय २)

मुनि सेवा का अपूर्व फल।—आचार्य समंतभद्र स्वामी की यह मंगलवाणी चिरस्मरणीय है :—

उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात्कीर्तिं स्तपोनिधिषु॥ ११५॥ रत्नकरंड॥

तपोनिधि मुनियों को प्रणाम करने से उच्च गोत्र मिलता है; उन्हें यथाविधि दान देने से भोग, उनकी उपासना द्वारा पूजा, उनकी भक्ति करने से सुन्दर रूप तथा स्तवन करने से कीर्ति प्राप्त होती है।

आदिनाथ तीर्थङ्कर ने एक वर्ष के पश्चात् पारणा की थी, अन्य तीर्थङ्करों ने हरिवंश पुराण के कथनानुसार तीसरे दिवस पारणा की थी। इस सम्बन्ध में जैन धर्म का यथार्थ क्या सिद्धान्त है ?

महापुराण में लिखा है : -

दोष - निर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमाः ।
प्राणसंधारणायायम् आहारः सूत्रदर्शितः ॥ ७-२० ॥

वात-पित्तादि दोषों को दूर करने के लिए उपवासादि करना चाहिए और प्राणों के संधारण हेतु आहार का ग्रहण करना सूत्र में बताया गया है। कायक्लेश द्वारा कर्मों का क्षय होता है, अतः समर्थ मुनीश्वर आतापन योगादि दुर्द्धर तप करते हैं। इस सम्बन्ध में आगम का यह मार्गदर्शन स्मरणीय है : -

कायक्लेशो मतस्तावन्न संक्लेशोऽस्ति यावता ।
सक्लेशे ह्यसमाधान मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥ ८-२० ॥

काय क्लेश उतना ही करना चाहिए, जितने में संक्लेश न हो। संक्लेश होने पर चित्त अशान्त हो जाता है तथा इससे प्रतिज्ञात मार्ग से पतन भी हो जाता है।

इन्द्रियों पर सम्यक्-नियंत्रण भी हो जाय तथा शरीर की यात्रा भी बराबर होती जाय, इस सम्बन्ध में संतुलन आवश्यक है। 'शक्तितः त्याग-तपसी'-सोलह कारण भावनाओं में कही गई है। शक्ति के अनुसार त्याग, शक्ति के अनुसार तप योग्य है।

इस तत्व को न जानने के कारण पूर्व तथा पश्चिम के लेखक प्रायः महावीर भगवान के मार्ग को उग्र तपस्या का पथ कहते हुए बुद्ध द्वारा प्रदर्शित पथ को मध्यम मार्ग कहते हैं।

मध्यम मार्ग – यदि बिना संकोच के सत्य को समक्ष रखा जाय, तो कहना होगा कि जैन आचार, जैन विचार आदि में मध्यम पथ ही बताया है अनेकान्त तत्वज्ञान क्या है ? एक दूसरे पर आक्रमण करने वाली दृष्टियों के अतिरेक को दूर कर मध्यस्थ तत्व को स्थापित करना ही अनेकान्त है। संयम के क्षेत्र में भी अतिरेकवाद को अग्राह्य कहा है। भगवान का शासन भगवज्जिनसेन स्वामी के इन संतुलित शब्दों में निबद्ध किया गया है :—

न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।
नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्चवल्भनैः ॥ ५ ॥
वशे यथा स्युरक्षाणि नो-धावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमां ॥ ६–२० ॥

मोक्षाभिलाषी मुनियों को यह शरीर न केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले तथा मधुर मनचाहे भोजनों से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

किन्तु जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वश में रहें और कुमार्ग की ओर न दौड़ें, उस प्रकार मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए।

शंका—जैन तत्वज्ञान के रहस्य से अपरिचित कोई तर्क शास्त्री पूछता है; आपके शास्त्र में देह और देही-शरीर और आत्मा में पृथक् पना प्रतिपादित किया गया है। इस आत्मा और शरीर को भिन्न मानने वाली दृष्टि को भेद-विज्ञान यह विशिष्ट संज्ञा दी गई है, उसे मोक्ष का मुख्य हेतु कहा है। इसलिए आपके यहाँ साधु पद स्वीकार करने पर आहार को ग्रहण करने का आत्मा की दृष्टि से क्या अभिप्राय है?

समाधान—आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि लक्षण की अपेक्षा जीव और शरीर का भेद है; किन्तु कर्मबन्ध की अपेक्षा जीव और कर्म में कथंचित् अभेद भी है। आगम की यह गाथा पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत की है—

बंधं पडिएयत्तं लक्खणदो हवइ तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावोऽणेयंतो होइ जीवस्स ॥

बंध की अपेक्षा जीव और कर्मों का ऐक्य है, किन्तु लक्षण की अपेक्षा दोनों में भिन्नता है। इसलिए जीव कर्मबंध की अपेक्षा कथंचित् मूर्तिमान है और लक्षण की अपेक्षा कथंचित् अमूर्तिमान है। पूज्यपाद स्वामी के ये शब्द महत्वपूर्ण है—

नायमेकान्तः अमूर्तिरेवात्मेति, कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदादेशात्स्यान्मूर्तः। शुद्धस्वरूपापेक्षया स्या दमूर्तः। (सर्वार्थ सिद्धि अध्याय २, सूत्र ७, पृ० ६५)।

शरीर आत्मा में सर्वथा भेद पक्ष में बाधा - इस अनेकान्त दृष्टि के प्रकाश में आत्मा और शरीर में कथंचित् भिन्नता है और कथंचित् अभिन्नता भी है। जो एकान्त रूप से शरीर तथा आत्मा में सर्वथा भेद मानते हैं, वे भयंकर चक्कर में आ जाते हैं। किसी का प्राण लेने वाला हत्यारा सहज ही कह सकता है, कि मैंने शरीर को क्षति पहुँचाई है। सर्वथा भिन्न जीव का मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा है। ऐसी स्थिति में अहिंसा धर्म की पुण्यबेल क्षण भर में सूख जाएगी। शास्त्र में कहा है—

आत्मशरीर विभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कायवधे हन्त कथं तेषां संजायते हिंसा ॥

जो अविवेकी व्यक्ति आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद कहते हैं, उनके यहाँ शरीर के वध से किस प्रकार हिंसा उत्पन्न होगी ?

सर्वथा अभेद पक्ष में दोष—जीव और शरीर में कथंचित् भेद के स्थान में सर्वथा अभेद पक्ष मानने पर भी विपत्ति आए बिना न रहेगी। कहा भी है—

जीववपुषोर भेदो येषामैकान्तिको मतः शास्त्रं।
काय विनाशे तेषां जीवविनाशःकथ वार्यः ॥

जिनके शास्त्र में शरीर और आत्मा में सर्वथा एकत्व माना गया है, उनके मत में शरीर का विनाश होने पर आत्मा का विनाश भी स्वीकार करना पड़ेगा।

एकान्त पक्ष से हानि—जीव को सर्वथा नित्य स्वीकार करने पर भी उसी प्रकार सदाचार के क्षेत्र में कठिनाई उत्पन्न होगी, जिस प्रकार स्थिति इस जीव को एकान्तरूप से क्षणिक मानने पर होती है। कहा भी है—

जीवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्यापरिणामिनः ।
क्षणिकस्य स्वयं नाशात् कथं हिंसोपपद्यताम् ॥

यदि जीव नित्य है, तो वह अपरिणामी भी होगा। उसका नाश नहीं हो सकता, अतः प्राणघात का दोष नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत यदि जीव सर्वथा अनित्य है, तो ऐसा क्षण क्षण में नष्ट होने वाला जीव स्वयं नाश को प्राप्त होता है, उसकी हिंसा का दोष कभी भी न लगेगा ?

अतः जीव के स्वरूप के विषय में एकान्त दृष्टि के स्थान में अनेकान्त दृष्टि को स्थान देना सम्यक् होगा। दया प्रेमी को जीव और शरीर में कथंचित् एकत्व, कथंचित् अनेकत्व भाव को अपने हृदय में स्थान देना उचित होगा।

जो कल्याण चाहता है, उसका क्या कर्तव्य है, यह कहते हैं :—

षड्जीव-निकाय वधं यावज्जीवं मनोवचः कायैः ।
कृत-कारितानुमननै रुपयुक्तः परिहर सदा त्वम् ॥

हे भव्य ! पंच स्थावर तथा एक त्रसकाय रूप षट्काय के जीवों के समुदाय की हिंसा का तू मन, वचन, काय तथा कृत, कारित और अनुमोदना के सभी भंगों से यावज्जीव सर्वथा परित्याग कर। (अनगार-धर्मामृत हिन्दी टीका पृ. २६१-२६२ अध्याय ४)

शरीर रक्षा हेतु आहार :—इस प्रकार जीव और शरीर में अभिन्नता को किसी दृष्टि विशेष से स्वीकार करते हुए, शरीर की रक्षा को भी कर्तव्य माना गया है। शरीर को अन्नादि उचित मात्रा में आगमानुसार प्राप्त होने पर वह आत्म कल्याण में सहायता प्रदान करता है। अतः महापुराणकार कहते हैं :—

सिद्ध्यै संयम-यात्रायाः तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः ।
ग्राह्यो निर्दोष आहारो रसासंगात् विनर्षिभिः ॥ ६-२० ॥

इसलिए संयम रूपी यात्रा की सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति चाहने वाले मुनियों को रसों में आसक्त न होकर निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए।

इसी दृष्टि को समक्ष रखकर भगवान का आहार हुआ था।

आहार के अनंतर वे वीतराग ऋषिराज नगर के बाहर गये और मध्याह्न की सामायिक क्रिया में संलग्न हो गये।

दान की अनुमोदना से पुण्य बँध :—इधर कुल नरेश की कीर्ति दिग् दिगन्तर में व्याप्त हो गई। उस समय के उच्च दान की अनुमोदना करने वाले अनेक जीवों ने भी पुण्य का बंध किया था।

शंका :—जिन्होंने दान की अनुमोदना की उनको पुण्य बंध होने का क्या हेतु है ?

उत्तर :—इस सम्बन्ध में महापुराणकार का यह समाधान महत्वपूर्ण है :—

> कारण परिणामः स्याद् बंधने पुण्य-पापयोः ।
> बाह्यं तु कारणं प्राहुः आप्ताः कारण-कारणम् ॥ १०८-२० ॥

जीव के पुण्य तथा पाप बंध में कारण उसके परिणाम हैं। बाह्य कारणों को जिनेन्द्र देव ने कारण का कारण अर्थात् शुभ-अशुभ भावों का कारण कहा है।

> परिणामः प्रधानांगं यतः पुण्यस्य साधने ।
> मत ततोनुमतृणाम् आदिष्टस्तत्फलोदयः ॥ १०६ ॥

जबकि पुण्य के साधन करने में जीव के शुभ परिणाम प्रधान कारण है, तब शुभ कार्य की अनुमोदना करने वालों को भी उस शुभ फल की प्राप्ति अवश्य होगी।

भगवान की चर्या :—भगवान पवन की तरह निःसंग हो बिना किसी भय के भीषण से भीषण स्थानों में अपना समय व्यतीत करते

थे। + कभी वे भगवान खड़े २ जंगल में ध्यान करते थे। कभी कभी वे भगवान अव्यक्त अक्षरों का कुछ पाठ करते हुए से दिखाई पड़ते थे। उससे ऐसे मालूम पड़ते थे, मानों जिसकी गुफाएं भीतर छिपे हुए निर्झरों के शब्दों से गूंज रही है, ऐसा कोई पर्वत ही हो। वे भगवान कठोर तपों का अभ्यास बड़ी शांति के साथ करते थे। उनकी तपस्या का ध्येय कर्म क्षय के सिवाय अन्य नहीं था। संस्कृत योगि भक्ति में लिखा है :—

व्रत–समिति–गुप्ति–संयुता ।
शम–सुख–माधाय मनसि वीतमोहाः ॥
ध्यानाध्ययन–वशंगताः ।
विशुद्धये कर्मणां तपश्चरन्ति ॥ ७ ॥

योगिराज व्रत, समिति, गुप्ति रूप त्रयोदशविध चारित्र का पालन करते हैं, मन में साम्य का आनन्द लेते हुए मोह का त्याग करते हैं, ध्यान तथा अध्ययन में लीन रहते हैं। वे कर्मों के क्षय हेतु तपश्चरण करते हैं।

+ किमप्यन्तर्गतं जल्पन्न–व्यक्ताक्षर–मक्षर ।
निगूढ–निर्झराराव–गुंजद्–गुह इवाचलः ॥ ५–१८ ॥

प्रतीत होता है कि भगवान सिद्धों का स्मरण करते हुए सिद्धभक्ति सदृश कुछ जप कर रहे हों। सिद्धभक्ति का यह पद्य सिद्धत्व के प्रेमी के लिए अति मधुर है :—

जयमंगलभूदाणं विमलाणं णाण–दंसणमयाणं ।
तइलोयसेहराणं णमो सया सव्वसिद्धाणं ॥

जो जय तथा मंगल रूप हैं, क्योंकि जिन्होंने कर्मों को क्षय कर दिया है, जो विमल है, ज्ञान दर्शनमय है, त्रिलोक के मुकुट हैं, उन सिद्धों को सदा नमस्कार है।

वे भगवान ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार रूप पंचाचार के पालन में उद्यत रहते थे। वे अनशन, रस परित्याग आदि तपों को बड़ी रुचि से पालते थे।

वे योगीश्वर वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भीषण क्लेशों को शान्त भाव से सहन कर कर्मों की निर्जरा करते थे। श्रेष्ठ साधुगण ग्रीष्म का संताप किस प्रकार सहन करते हैं, इस सम्बन्ध में योगिभक्ति में कहा है :—

ग्रीष्म की बाधा :—

सज्ज्ञानामृत-पायिभिः शांति-पयः-सिच्यमान-पुण्यकायैः ।
धृत-संतोषच्छत्रकैः, तापस्तीव्रोपि सह्यते मुनीन्द्रैः ॥ ४ ॥

सम्यक्ज्ञान रूप अमृत का पान करते हुए, क्षमाभाव रूप जल के द्वारा अपने पवित्र शरीर को सिंचित करते हुए तथा सन्तोष भाव रूपी छत्र को लगाते हुए मुनीन्द्रगण तीव्र उष्णता का संताप सहन करते हैं।

वर्षा की व्यथा :– वे साधुजन वर्षा की व्यथा को भी शान्ति से सहन करते हैं :—

जलधारा-शर-ताडिता न चलन्ति ।
चरित्रतः सदा नृसिंहाः ॥
संसार-दुःखभीरवः परीषहाराति-
घातिनः प्रवीराः ॥ ६ ॥

जल की धारा रूप बाण प्रहार से पीड़ित किए जाने पर भी वे नरसिंह अपने संयम से नहीं डिगते हैं। वे संसार के दुःखों से डरते हुए परीषह रूपी शत्रुओं का घात करने वाले महान वीर पुरुष हैं।

शीत की प्रचंडता :—

इह श्रमणा धृति-कंबलावृताः शिशिरनिशां ।
तुषारविषमां गमयंति चतुःपथे स्थिताः ॥

हिम पात से भीषण जाड़े की रात्रि को चौराहों पर स्थित होकर श्रमण लोग धैर्य रूपी कंबल को ओढ़कर व्यतीत करते हैं।

प्रमादी का प्रलाप :—कोई प्रमादमूर्ति अपने को अध्यात्मवादी सोचकर कहता है, "भगवान को कठोर तप करने की कोई आवश्यकता नहीं है, जिस समय जैसा परिणमन होना है, वैसा ही होगा। तप का कष्ट क्यों उठाया जाय? ऐसे प्रमादी तपादि से डरने वालों को कुन्द-कुन्द स्वामी के मोक्ष पाहुड में कथित इन शब्दों को हृदयंगम करना चाहिये :—

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तव-यरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाण-जुत्तोवि ॥ ६० ॥

जिनकी सिद्ध पद की प्राप्ति निश्चित है वे तीर्थंकर भगवान चार ज्ञान को धारण करते हुए भी तपश्चर्या करते हैं, अतः ज्ञान युक्त होते हुए भी नियम से तपश्चरण करना चाहिए।

तप से लाभ :—इस तपस्या से क्या लाभ होता है?

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥ ६२ ॥

सुख से भावित ज्ञान दुःख के प्राप्त होने पर विनाश को प्राप्त होता है। इससे योगी यथाशक्ति अपनी आत्मा को कष्टों—परीषहादि के सहन करने का अभ्यास करे।

कायक्लेश का रहस्य : महापुराण में भगवान वृषभदेव की तपस्या का वर्णन करते हुए जिनसेन स्वामी उसका हेतु इस प्रकार समझाते हैं :—

निगृहीत - शरीरेण निगृहीतान्य-संश्रयम्।
चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्धं मनो भवेत् ॥ १७९–२० ॥
मनोरोधः परं ध्यानं तत्कर्मक्षय - साधनम्।
ततोऽनंत - सुखावाप्तिः ततः कायं प्रकर्षयेत् ॥ १८० ॥

कायक्लेश तप द्वारा शरीर का निग्रह करने से निश्चयतः चक्षु आदि इन्द्रियों का निग्रह होता है। इन्द्रियों का निग्रह होने से मन का निरोध होता है अर्थात् संकल्प-विकल्प दूर होकर चित्त स्थिर होता है।

चित्त का स्थिर हो जाना श्रेष्ठ ध्यान है। वह ध्यान कर्मों के क्षय का साधन है। उससे अनंत सुख की प्राप्ति होती है, अतः योगी को तपश्चर्या द्वारा शरीर को कृश करना चाहिए।

भगवान का निवास :—वर्धमान भगवान तपोग्नि द्वारा कर्मों का क्षय करते हुए आध्यात्मिक अग्नि समान देदीप्यमान हो रहे थे। वे प्रभु कभी पर्वत की शिखर पर, कभी भीषण गुफाओं आदि में ध्यान करते थे। वे अगम्य, भीषण नीरव वनों में ध्यान करते थे। सिंह को जैसे वन में विचरण करते हुए भय नहीं लगता है, इसी प्रकार सिंह का चिह्न धारण करने वाले ये मनस्वी महाप्रभु भीषणतम भूमि में रहकर कठोर तप करते थे। कभी कभी ये भगवान श्मशानादि में ध्यान करते थे।

उनका प्रभाव :—इनका व्यक्तित्व महान था। "अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैरत्यागः" —अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उनके समीप में आने वाले जाति विरोधी जीवों में भी वैरभाव दूर हो जाता है। परम पवित्र, दिव्यचरित्र, शान्त परिणामी हो वीर भगवान जहां भी वन में निवास करते थे, वहां सिंह, हरिण, गाय, सर्प, मयूर आदि विरोधी जीवों में प्रेम भाव का जागरण होता था। उनके निकट सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति में विकारीभाव नहीं रहते थे। श्रेष्ठ व्यक्तित्व की ऐसा सामर्थ्य होती है।

परिहार विशुद्धि संयम का लाभ :—इन जिनेन्द्र को परिहार विशुद्धि संयम प्राप्त हो गया था, इस कारण इनके द्वारा क्षुद्र जीवों को भी कष्ट नहीं पहुँचता था। ऐसी अद्भुत तपः सामर्थ्य इनमें उत्पन्न हो गई थी।

वर्धमान चरित्र में कहा है :—

परिहारविशुद्धि-संयमेन प्रकटं द्वादश वत्सरांस्तपस्यन् ।

स निनाय जगत्रयैक बंधुर्भगवान् शातिकुला-मलांबरेंदुः ॥ १२७ ॥ सर्ग १७

इस संयमी का वर्षाकाल में विहार :—इस परिहारविशुद्धि संयम की यह विशेषता है, कि वह मुनि—'सदापि प्राणिवधं परिहरति'—सदा प्राणियों के वध का परिहार करता है। (गो॰ जी॰ सं॰ टीका, पृ॰ ८८१) इस सम्बन्ध में यह भी लिखा है कि परिहार विशुद्धि संयमी रात्रि को विहार छोड़कर तथा संध्या के तीन समयों को बचाता हुआ सर्वदा दो कोस प्रमाण विहार करता है। इस संयमी के लिए वर्षा कालमें विहार त्याग नहीं कहा गया है, क्योंकि इस शुद्धि के द्वारा वर्षाकाल में जीव का घात नहीं होता है। इसलिए इस संयम को प्राप्त महान साधु वर्षाकाल में भी आसक्ति, मोह, ममता आदि का परित्याग कर भ्रमण करता है।

गोम्मटसार संस्कृत टीका में लिखा है :—

परिहारर्धिसमेतो जीवः षटकायसंकुले विहरन् ।

पयसेव पद्मपत्रं न लिप्यते पापनिवहेन ॥

परिहार विशुद्धि संयुक्त जीव छह कायरूप जीवों के समूह में विहार करता हुआ जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार वह पाप से लिप्त नहीं होता। ×इस संयम के धारक के विषय में उपरोक्त बात लिखी है, तब यह स्पष्ट है कि परिहार विशुद्धि संयम समन्वित साधुराज वर्षाकाल में चातुर्मास में एकत्र निवास करने के बंधन से विमुक्त हैं।

ऐसी स्थिति में परिहार विशुद्धि संयम को प्राप्त करने वाली आध्यात्मिक विभूति भगवान महावीर के चातुर्मासों की कल्पना औचित्यशून्य है। कोई-कोई तो केवलज्ञान के ३० वर्ष प्रमाणकाल में भी चातुर्मासों की चर्चा करते हैं। महावीर भगवान जब परिहार

× संध्यात्रयोन सर्वकाले द्विकोशप्रमाण-विहारी रात्रौ विहार-रहितः प्रावृट्कालं-नियमरहितः परिहारविशुद्धिसंयतो भवति। (पेज ८८१ गो. जी. सं. टीका)

विशुद्धि संयम को प्राप्त कर चुके थे, तब उनका चातुर्मासों में एकत्र निवास मानना सर्वज्ञ कथित दिगम्बर आगम के प्रतिकूल है।

मौनी मुद्रा से भी लोक-कल्याण—महान तपस्वी ये प्रभु अनेक स्थानों में विहार करते थे। वे वाणी का तनिक भी प्रयोग न करते हुए मौन अवस्था में रहते थे, फिर भी उनके आत्मतेज से जीवों का महान् कल्याण होता था।

सम्यक् चारित्र के प्रसाद से साधुओं के जीवन में अनेक, अद्भुत, असाधारण सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

लोकोत्तर व्यक्तित्व का प्रभाव :—श्रेणिक चरित्र में लिखा है, कि जब श्रेणिक ने जैनधर्म स्वीकार नहीं किया था, तब उसके चित्त में जैनधर्म और जैन साधुओं के सम्बन्ध में अत्यन्त रोषपूर्ण और मलिन परिणाम थे। एक दिन महाराज श्रेणिक शिकार खेलने के लिए जंगल में चल पड़े।

वन में उग्र तपस्वी, जितेन्द्रिय और महान् योगी यशोधर महामुनि दिखाई पड़े। उन्हें अपनी पत्नी रानी चेलना के गुरु सोचकर श्रेणिक का क्रोध उन दयासागर साधुराज पर बरस पड़ा।

उसने सोचा, जिनेन्द्र भक्त चेलना ने मेरे बौद्ध गुरुओं के प्रति पहले बुरा व्यवहार किया था, अब मैं चेलना के गुरु से अपना बदला क्यों न लूँ? इस तीव्र कषायवश श्रेणिक ने अत्यन्त भीषण पाँच सौ शिकारी कुत्ते उन मुनिराज पर छोड़ दिये। कुत्ते मुनिराज के समीप पहुँचे। उनके आत्मतेज से उन पशुओं की पशुता पूर्णतया पराभूत हो गई। वे मंत्रमुग्ध होकर उनके चरणों के समीप शांत हो गए।

इस कथानक से योग द्वारा प्राप्त सिद्धि की एक झलक मिलती है। ऐसी स्थिति में लोकोत्तर व्यक्तित्व और अत्यन्त विशुद्ध चरित्र समलंकृत महावीर भगवान को विहार काल में देखकर जनता पर कितना प्रभाव पड़ता था, इसका सहज अनुमान हो सकता है।

कोई व्यक्ति तीर्थंकर की महत्ता और श्रेष्ठ तपः साधना को ध्यान में न रख उन्हें साधारण कोटि का गृहस्थ सा सोचकर उन पर लोगों द्वारा किए जाने वाले जघन्य, क्रूर व्यवहार और उपद्रवों की कल्पना करते हैं। वास्तव में भगवान की तपोमय दिव्यमुद्रा के दर्शन द्वारा सबके हृदय में भक्ति तथा प्रेम का पवित्र भाव जगता था। वे तेजोमय थे।

निर्वाणभक्ति में लिखा है, कि दीक्षा के अनन्तर देवों के द्वारा पूज्य महावीर भगवान ने × १२ वर्ष उग्र तपस्या करते हुए ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मटंब, द्रोण आदि में विहार करते हुए व्यतीत किए थे। भगवान महावीर वर्धमान का विहार बिना रोक टोक तथा बिना भय के ग्राम, नगर आदि स्थानों पर होता था। उनके समय पर तो जैन धर्म उत्कर्ष की स्थिति में था। देश में जैनधर्म का महान प्रभाव था, अतः सर्वत्र प्रभु दर्शन की प्यासी जनता उनके दर्शन मात्र से पुण्य संचय तथा उज्ज्वल प्रेरणा प्राप्त करती थी। भगवान एकान्तवासी तो थे ही, किन्तु वे अनेकांत वासी भी थे; क्योंकि उनके विचार सदा अनेकान्त की भूमि में निवास करते थे। जन-संकुल स्थल में आते हुए भी उनका अंतःकरण निर्जन, एकान्त निवास सदृश रहता था।

उज्जैनी में प्रतिमायोग धारण :—एक समय इन महाप्रभु का उज्जैनी महापुरी में पदार्पण हुआ। वहाँ इन्होंने अपने ध्यान के लिए अतिमुक्तक नामक श्मशान को उपयुक्त सोच वहाँ संध्या समय निवास किया और वहां उन्होंने प्रतिमायोग धारण किया। गुणभद्र स्वामी ने महावीर भगवान को महान सत्व—सामर्थ्य युक्त लिखा है + "वर्धमानं

× ग्राम - पुर - खेट - कर्वट-मटंब-घोषाकारान्प्रविजहार।
उग्रैस्तपोविधानै द्वादश वर्षाण्यमर पूज्यः ॥ १० ॥

+ उज्जयिन्यामथान्येद्यु स्तच्छ्मशानेऽतिमुक्तके।
वर्धमानं महासत्वं प्रतिमायोगधारिणं ॥ ३३१ ॥

वर्धमान चरित्र में नगरी का नाम उज्जैनी के स्थान में काशी दिया है :—
प्रणिपत्य ततो भवाभिधानो जिननाथस्य चिराय काशीकायां।
स महाति-महादिरेष वीरः प्रमदादित्यमिधां व्यधत्त तस्य ॥१२६-१७॥

महासत्वं प्रतिमा-योग-धारिणं" (३३१-पर्व ७४ उ. पु.) । उनको देखकर वहाँ निवास करने वाले रुद्र ने रौद्ररूप धारण कर उनकी परीक्षा का विचार किया तथा भयंकर उपद्रवों के द्वारा उन प्रभु को विचलित करने का उद्योग किया, किन्तु महावीर भगवान को अद्भुत साहस, शांति तथा धैर्य का समुद्र पाया। वह भगवान को समाधि से विचलित नहीं कर सका।

रुद्र की भक्ति :—उनकी ऐसी शक्ति, दृढ़ता तथा आत्मसामर्थ्य देखकर उस रुद्र के भावों में क्रूरता के स्थान में भक्ति का जागरण हुआ। उसने भगवान का नाम महाति-महावीर रखकर अनेक प्रकार की स्तुति की। गुणभद्र स्वामी की पुण्यवाणी इस प्रकार है :—

स्वयं स्खलयितुं चेतः समाधेरसमर्थकः।
स महाति महावीराख्यां कृत्वा विविधः स्तुतीः ॥ ३३६-७४ ॥

वह रुद्र भगवान को समाधि से च्युत करने मे समर्थ नहीं हुआ। अतः उस समय उसने भगवान का नाम महाति-महावीर रखकर विविध प्रकार से स्तुति की।

कौशाम्बी में विहार :—भगवान तपस्या के क्षेत्र में वर्धमान थे, उसी प्रकार उनकी निर्दोष जीवनी के कारण कीर्ति भी उनकी वर्धमान हो रही थी। सप्तऋद्धि समन्वित तीर्थंकर को आते हुए तथा जाते हुए देखकर प्रत्येक के हृदय में आदर और भक्ति उत्पन्न होती थी। पशु, पक्षी आदि प्राणी भी उनसे प्रभावित होते थे। ऐसी व्यक्तित्व संपन्न विभूति वत्स देश स्थित कौशाम्बी पुरी पहुँची।

उस नगरी मे वृषभदत्त सेठ के यहां अपने असाता कर्मोदय से महाशीलवती महिलारत्न चंदना देवी सेठानी सुभद्रा के द्वारा महान कष्ट पा रही थी। चंदना माता प्रियकारिणी की बहिन थी, अतः महावीर भगवान की मौसी थी।

दैव दुर्विपाक से उसे एक विद्याधर ने सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसका हरण किया था। कठिनता से शील की रक्षा करती हुई

वह पूजनीया देवी कौशाम्बी मे आ पहुँची थी। उस राजकन्या को उस घर में मिट्टी के बर्तन में कांजी से मिला हुआ पुराने कोदों का भात भोजन को मिलता था। उस दुष्ट सेठानी ने क्रोधवश चंदना को सांकलों से बांध रखा था।

पूर्वोपार्जित कर्म का फल विचित्र होता है। चंदना की विपत्ति तथा उसका अपूर्व धैर्य प्रत्येक के हृदय पर गहरा असर डालते थे, किन्तु सेठानी की दुष्टता में तनिक भी अंतर नहीं था।

चंदना की भक्ति :—सौभाग्य से दुःखी चंदना देवी के कान में ये मधुर शब्द पड़े, कि आज इस पुरी में महाश्रमण महावीर भगवान पधारे हैं। चंदना की साधु-भक्ति जाग उठी। वह बारबार जिनेन्द्रदेव का नाम स्मरण करती हुई यह कामना करती थी, "प्रभो! आपकी भक्ति से संसार के समस्त दुःख दूर होते हैं। मेरी एक यही इच्छा है, कि मैं आज बंधन से मुक्त होकर वीर भगवान को आहार कराने का सौभाग्य प्राप्त करूं।" उस शीलवती चंदना की भक्ति के प्रभाव से उसका बंधन टूट गया।

शील का प्रभाव :—उत्तर पुराण में लिखा है :—

शील-माहात्म्य-संभूत-पृथुहेम-शराविका।
शाल्यन्नभाववत्कोद्रवोदना विधिवत्सुधीः ॥ ३४६ ॥—७४

अन्नमश्रणायत्तस्मै तेनाप्याश्चर्यपंचकम ।
बंधुभिश्च समायोगः कृतश्चंदनया तदा ॥ ३४७ ॥—७४

चंदना के शील के माहात्म्य से मिट्टी का सकोरा सुवर्ण का हो गया। कोदों का शालि तंदुल रुप परिणमन हुआ। उस पुण्य बुद्धियुक्त चंदना ने विधिपूर्वक आहार दिया। उससे देवकृत पंचाश्चर्य हुए। सुयोग से चंदना के भाई बंधु मिल गए और उसकी विपत्ति दूर हो गई।

यही चंदना देवी भगवान के समवशरण में साध्वी समाज में मुख्य गणिनी हुई।

शील की अपार महिमा—जिनेन्द्र भक्ति तथा शील के प्रभाव से चन्दना का यश त्रिभुवन में व्याप्त हो गया। चन्दना ने अपनी बहिन प्रियकारिणी के पुत्ररत्न वर्धमान को आहार नहीं दिया था। चन्दना ने उन प्रभु को साधुशिरोमणि यतीश्वर समझ अत्यन्त भक्ति और विनय सहित आहार दिया था। चन्दना के बन्धन टूट जाना, भोज्य सामग्री का सुमधुर रूप में परिवर्तन होना आदि उस महिलारत्न के उज्ज्वल शील के प्रभाव से हुए थे। शील की महिमा अपार है।

शील का चमत्कार—पद्मपुराण में राजा द्रोणमेघ की शीलवती पुत्री विशल्या के उच्च चरित्र का कथन आया है। उस कन्या के पूर्व जन्म की तपस्या के प्रभाव से उसके गर्भ मे आते ही अनेक जीवों के रोगों की स्वयमेव उपशान्ति हो गई थी। पद्मपुराणकार के शब्दों में विशल्या के पिता कहते हैं :—

> जिनेन्द्रशासनासक्ता नित्यं पूजा-समुद्यता।
> शेषेव सर्वबंधूनां पूजनीया मनोहरा॥ ४५॥
> स्नानोदकमिदं तस्या महासौरभ्यसंगतम्।
> कुरुते सर्वरोगाणां यत्क्षणेन विनाशनम्॥ ४६–सर्ग ६४॥

विशल्या जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में लीन रहती है, सदा उनकी पूजा में तत्पर रहती है। वह शेषाक्षतों के समान सर्वबंधुओं के द्वारा पूज्य तथा मनोहारिणी है। उसके स्नान का जल महा सुगंध युक्त होता है। उससे क्षण मात्र मे समस्त व्याधियों का विनाश हो जाता है।

जब लक्ष्मण के प्राण हरणार्थ रावण ने शक्ति नामका भीषण अस्त्र प्रहार किया था, तथा लक्ष्मण की प्राण रक्षा के सर्व उपाय विफल हो गए थे, तब विशल्या के समीप आगमन मात्र से लक्ष्मण को नीरोगता प्राप्त हुई थी। पद्मपुराण में लिखा है :—

> यथा यथा महाभाग्या विशल्या सोपसर्पति।
> तथा तथाऽभजत्सौख्यं सुमित्रातनयोद्भुतम्॥ ६७–६४॥

जैसे जैसे यह भाग्यशालिनी कन्या विशल्या समीप आती थी, वैसे वैसे सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण शांति को प्राप्त होते जाते थे, यह परम आश्चर्य की बात है।

पूर्व जन्म की तपस्या से प्राप्त प्रभाव—पूर्व भव में विशल्या के जीव ने घोर तप किया था। एक महान अजगर ने उसे अपने मुख में भक्षण किया था। उस विपत्ति की वेला में भी उसने शान्त भाव से समाधि मरण किया था। उसके प्रभाव से वह तीसरे स्वर्ग गई थी। यथार्थ में सदाचरण के द्वारा अद्भुत सामर्थ्य प्राप्त होती है।

शील धर्म की महिमा को बताने वाला सती शिरोमणि सीता का चरित्र विश्व विदित है। रविषेणाचार्य लिखते हैं, कि अग्नि परीक्षा के समय उस महादेवो ने पंच परमेष्ठियों को प्रणाम करने के पश्चात् कहा था :—

> कर्मणा मनसा वाचा रामं मुक्त्वा परं नरम्।
> समुद्वहामि न स्वप्नेप्यन्यं सत्यमिदं मम॥ २२-१०५ सर्ग॥
> यद्येतदनृतं वच्मि तदा मामेष पावकः।
> भस्मसाद्भावमप्राप्तामपि प्रापयतु क्षणात्॥ २६॥
> अथ पद्माकरं नान्यं मनसापि वहाम्यहम्।
> ततोऽयं ज्वलनो धाक्षीन्मा मां शुद्धिसमन्विताम्॥ २७॥

मैंने मन, वचन तथा काय द्वारा स्वप्न में भी राम को छोड़कर अन्य पुरुष को हृदय में धारण नहीं किया है। यह सत्य है। यदि मेरा यह कथन असत्य हो, तो यह अग्नि मुझे क्षण भर में भस्म कर देवे। यदि मैं यथार्थ में राम को छोड़कर अन्य व्यक्ति को मनमें धारण नहीं करती हूँ, तो मुझ शीलवती को यह अग्नि भस्म न करे।

> अभिधायेति सा देवी प्रविवेशानलं च तम्।
> जातं च स्फटिकं स्वच्छं सलिलं सुखशीतलम्॥ २६—सर्ग १०५॥

यह कह कर सीता देवी ने अग्नि कुण्ड के भीतर प्रवेश किया।

तत्काल ही वह कुण्ड स्फटिक के समान स्वच्छ, सुख प्रद शीतल जल से परिपूर्ण हो गया।+

चंदना सती के समान अनेक उच्च आत्माओं ने उग्र तपस्वी वर्धमान मुनीन्द्र को आहार दान द्वारा अपना जन्म कृतार्थ किया था।

सतत उद्योगी :—वे यतीश्वर भिन्न स्थानों में विहार करते हुए अपने मोह विजय के उद्योग में संलग्न रहते थे। वे इस विषय में सर्वदा सावधानी रखते थे, कि कहीं कषायचक्र आत्मा की निर्मलता को क्षति न पहुँचा दे। उनमें इस प्रकार का अहंकार नहीं था, कि मैं तीर्थंकर हूँ, मेरी मुक्ति निश्चित है, अतः मुझे स्वच्छन्द आचरण करना चाहिए।

उन्होंने सामायिक चारित्र धारण करते समय सम्पूर्ण सावद्य-योग का परित्याग किया था। वे अपनी संयम की साधना में सर्वदा सतर्क रहते थे।

+ शीलवती स्त्रियों से यह वसुंधरा सदा से अलंकृत होती चली आई है। दसवी सदी में चालुक्यों के शासन काल में शीलवती दान चिन्तामणि अत्ति-मब्बे नाम की जैन महिलारत्न हुई हैं। महाकवि रन्न ने कन्नड़ काव्य अजितनाथ पुराण में कहा है, कि इस देवी ने १५०० प्रतिमाओं को सहर्ष दान किया था। धारवाड़ जिले के लक्कुंडिग्राम के एक शिलालेख से ज्ञात होता है, कि "जब दान चिंतामणि अत्तिमब्बे राजा के कहने पर पवित्र जिनप्रतिमा को मस्तक पर धारणकर गोदावरी नदी में उतरी, तब इसकी महिमा से नदी का प्रवाह एकदम रुक गया था। मदोन्मत्त हाथी बन्धन तोड़कर जब स्वेच्छा से क्रोध सहित इधर उधर दौड़ने लगा, तब दान चिंतामणि को निर्भीक पाकर हाथी ने इसके चरणों में भक्ति से सिर झुकाया।

प्रलयाग्नि की तरह आग ने जब सेना को चारों ओर से घेर लिया, तब शील-वती दान-चिंतामणि ने पवित्र जिन-गंधोदक के द्वारा उस भयंकर आग को शान्त कर दिया था। (Bombay Karnatak Inscriptions Vol. I ; Part I) इस प्रकार शीलवती महिलाओं के विशुद्ध जीवन के प्रभाव से अनेक आश्चर्यप्रद कार्य संपन्न हुए हैं।

श्रेष्ठ चरित्र :— उन प्रभु का चरित्र आदर्श कहा गया है। उनके समान तप करने वाले यतीश्वरों को जिन कल्पी मुनि कहा है, क्योंकि वे जिनेन्द्रदेव के समान रहते हैं भाव संग्रह में लिखा है :—

बहि-रंतर-गंथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जई-वइणो।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणाः ॥ १२३ ॥

जिनकल्पी की तपस्या : उत्तम संहनन के धारक होने से उनकी तपश्चर्या आश्चर्यप्रद रहती है।

आचार्य कहते हैं :—

जत्थ ण कंटय-भग्गो पाए णयणम्मि रय-पविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥ १२० ॥

यदि जिनकल्पी महामुनियों के पैरों में कंटक लग जाता है अथवा नेत्रों में धूलि पड़ जाती है, तो वे महामुनि अपने हाथ से कांटा नहीं निकालते हैं और न अपने हाथों से नेत्रों की धूलि दूर करते हैं। यदि कोई दूसरा मनुष्य कांटे को या धूलि को निकालता है, तो ये यतीश्वर चुप रहते हैं। इस प्रकार वे वीतरागता के शिखर पर आरूढ़ रहते हैं।

उनके विषय में यह भी कहा गया है :—

एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेस - कसाया मोण-वई कंदरावासी ॥ १२२ ॥

वे मुनि ग्यारह अंग के पाठी होते हैं। एकाकी रहते हैं तथा धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन रहते हैं। वे सम्पूर्ण कषायों के त्यागी, मौन व्रती तथा पर्वतों की कंदराओं में निवास करते हैं।

जिनकल्पी साधु का अभाव :—इस दुःषमकाल में उच्च संहनन वाले जिनकल्पी साधुओं का सद्भाव नहीं है। इस काल के मुनि स्थविरकल्पी कहे गये हैं। वे अकेले विहार नहीं करते हैं।

भाव संग्रह का यह कथन उन लोगों की भ्रान्त धारणा को धराशायी कर देता है, जो काल आदि का विचार किए बिना इस समय भी वनवासी जिनकल्पी मुनियों का अस्तित्व सोचा करते हैं। वे स्वयं तो पाक्षिक श्रावक तक बनने में घबड़ाते हैं, किन्तु साधुओं को जिनकल्पी रूप में होना बताते हैं।

आगम कहता है :—

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव - पहावेण।
पुर - णयर - गाम - वासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

इस काल में स्थविरकल्पी मुनि :—इस पंचमकाल में शरीर के संहनन के बलवान न होने से वे मुनि पुर, नगर तथा ग्रामवासी होते हैं और अपने तप के प्रभाव से स्थविरकल्पी कहे जाते हैं।

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।
भवियाणं धम्म-सवणं सिस्साणं च पालणं गहणं ॥ १२६ ॥

वे स्थविरकल्पी मुनि इस काल में समुदाय रूप से विहार करते हैं। अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हैं, भव्यों को धर्म का उपदेश देते हैं। शिष्यों को स्वीकार करते हैं तथा उनका रक्षण करते हैं।

इस कलिकाल में हीन संहनन होते हुए भी जो आत्माएं महाव्रतों को पालन करने का उच्च साहस तथा धैर्य धारण करती हैं, उनकी महान निर्जरा होती है।

इस काल में अल्प तप द्वारा महान निर्जरा का लाभ आगम कहता है :—

वरिस-सहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
ते संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण-संहणणे ॥ १३१ ॥

पहले मुनिगण जिन कर्मों को हजार वर्ष पर्यन्त तप करके क्षय करते थे, उन्हीं कर्मों को हीन संहनन वाले स्थविरकल्पी मुनि एक वर्ष में क्षय करते हैं।

इस कथन से उन संयम साधकों को प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है, जिनकी तपःसाधना में दुष्ट लेश्यावाले संयम विरोधी व्यक्ति विघ्न उपस्थित करते हैं। इन्द्रियों का निग्रह करते हुए तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करते हुए तपस्या का रहस्य तथा सच्चा सौन्दर्य विषय लोलुपी लोग नहीं समझते हैं। तपोमय जीवन द्वारा आत्मा सुवर्ण उसी प्रकार निर्मल बनती है, जिस प्रकार अग्नि के संपर्क द्वारा मलिन सुवर्ण दीप्तिमान हो शुद्धरूपता को प्राप्त करता है।

शान्त आत्मा का प्रभाव :—अहिंसात्मक संयम की साधना द्वारा अद्भुत शक्तियां तथा विविध सिद्धियां स्वयमेव उत्पन्न होती हैं। जो जीव सम्यक्त्व से सुदूर रहते हुए भी कारुण्यभाव को धारण करता है, वह आश्चर्यप्रद प्रभाव संपन्न होता है। जन्म-विरोधी जीव भी ऐसे सत्समागम को प्राप्त कर क्रूरता रूप भावों को दूर करते हैं। तुलसीदास जी ने वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन करते हुए लिखा है :—

खग, मृग विपुल कोलाहल करहीं।
विरहित बैर मुदित मन चरहीं॥
बयरु विहाय चरहिं इक संगा।
जहं तहं मनहुँ सेन चतुरंगा॥

निर्वैर वृत्ति :—चित्रकूट का वर्णन करते हुए वहाँ की शान्ति का इस प्रकार चित्रण किया गया है :—

खग, मृग विपुल कोलाहल करहीं।
विरहित बैर मुदित मन चरहीं॥
करि, केहरि, कपि, कोल, कुरंगा।
बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥—अयोध्याकाण्ड

+ वाल्मीकि रामायण में भी वनकाण्ड में अगस्त्याश्रम का इसी प्रकार पवित्र प्रभाव चित्रित किया गया है।

+यदा प्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदा प्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः॥ ८३॥

क्रमशः

महायोगी भगवान का अद्भुत प्रभाव :—इससे अहिंसात्मक जीवन का बहिर्जगत् पर प्रभाव स्पष्ट अवगत होता है। बालब्रह्मचारी श्रेष्ठ अहिंसा की साधना करने वाले रत्नत्रय धारी महामुनि महावीर वर्धमान का प्रभाव प्राणीमात्र पर कितना पड़ता था, इसकी यथार्थ कल्पना करना तक कठिन है। जो भी उन मुनीन्द्र के संपर्क में आता था, वह उनके दिव्य जीवन से प्रकाश प्राप्त करता था। छोटे बड़े सभी प्राणी उन प्रभु के पास पहुँचकर शान्त बन जाते थे। तामसी भावों का तत्काल विलय हो जाता था। अतः उन पर लोगों द्वारा किए गए उपद्रवों की कल्पना अवैज्ञानिक, अपरमार्थ एवं असंगत है।

ऋजु कूला का कूल—वे मनस्वी तपस्वी महावीर तपस्या करते हुए ग्रीष्म ऋतु में जृंभक ग्राम में पहुँचे, जहां ऋजुकूला नाम की नदी समीप में बह रही थी।

× बैशाख शुक्ला दशमी का दिन था। भगवान साल वृक्ष के नीचे विराजमान हुए।

(शेषांश)

अयं दीर्घायुषस्तस्य लंके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्याश्रमः श्रीमान् विनीत-मृग-सेवितः॥ ८६॥
नात्र जीवन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।
नृशंसः पापवृत्तो वा, मुनिरेष स्तथाविधः॥ ६०-सर्ग ११॥

× जृंभिक ग्राम के विषय में किन्हीं का यह मत है, कि राजगिरि से ३० मील के लगभग दूरी पर जमुई ग्राम है। उसके निकट दक्षिण की ओर चार, पांच मील पर केवाली ग्राम है, वहां अंजन नदी बहती है, जिसके किनारे पर बालुका अधिक पाई जाती है। केवाली ग्राम वासी लोग वैशाख सुदी दसवीं को भक्ति पूर्वक उत्सव मनाते हैं।

कोई सम्मेदशिखर के दक्षिण-पूर्व में ५० मील की दूरी पर स्थित आजी नदी के पास के जमग्राम को जृंभिक बताते हैं।

क्रमशः

अब तक भगवान धर्मध्यान में अपना समय व्यतीत कर रहे थे। अभी तक भगवान ने क्षपक श्रेणी पर आरोहण नहीं किया था। श्रेणी पर आरोहण करने के पूर्व धर्मध्यान होता है। श्रेणी पर चढ़ने वाले के शुक्लध्यान होता है। अकलंक स्वामी ने राजवार्तिक में लिखा है :—

"श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यध्यानं, श्रेण्योः शुक्लध्यानमिति"— (पृ० ३५५, अध्याय ९, सूत्र ३७)

मोक्षाभिलाषी जीव को आर्त, रौद्र रूप दो दुर्ध्यानों से बचकर उक्त ध्यान-युगल का आश्रय लेना चाहिए। भावपाहुड़ में कुंदकुंद स्वामी कहते हैं :—

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्दं च झाण मोत्तूण।
रुद्दट्ट – झाणयाइं इयेण जीवेण चिरकालं ॥ १२१ ॥

धर्मध्यान तथा शुक्ल ध्यान को धारण करो; आर्तध्यान, रौद्रध्यानों का त्याग करो। इस जीव ने चिरकाल से आर्त ध्यान, रौद्रध्यानों को अंगीकार किया है।

यह धर्मध्यान रूप भाव शुद्ध भाव नहीं है। कुंदकुंद स्वामी ने भावपाहुड़ में धर्मध्यान को शुभभाव कहा है।

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं।
असुहं च अट्टरुद्दं सुहधम्मं जिणवरिंदेहिं ॥ ७६ ॥

भाव शुभ, अशुभ तथा शुद्ध रूप से तीन प्रकार के जानना चाहिए। आर्त तथा रौद्र भाव अशुभ हैं। धर्म ध्यान के परिणाम शुभ भाव हैं, ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

भगवान वीरजिनेन्द्र की तपस्या के बारह वर्ष जिस धर्मध्यान रूप शुभ भाव में व्यतीत हुए, उस ध्यान का फल मोक्ष नहीं है। उससे

(शेषांश)

यह भी ज्ञातव्य है कि जमुईगांव और राजगृह के बीच सिकंदरा ग्राम है। उसके समीप एक आम्रवन है। लोग उस वन की पूजा करते हैं। कहा जाता है कि वहां वीरनाथ भगवान ने तप किया था।

पुण्य का बंध होता रहा है। शुक्लध्यान से मोक्ष प्राप्त होता है, उसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ तथा कठिन है।

कुंदकुंद स्वामी ने रयणसार में कहा है :—

असुहादो णिरयादो सुहभावादो दु सग्ग-सुहुमाओ।
दुह-सुह-भावं जाणइ जं ते रुच्चे दर्ण कुणहो॥ ६१॥

अशुभ भाव से नरक तथा शुभ भाव से स्वर्ग के सुख प्राप्त होते हैं, इस प्रकार शुभ, अशुभ भावों का फल जानकर जो तुम्हें अच्छा लगे, उसे धारण करो।

महावीर भगवान की आत्मा निश्चय रत्नत्रय से समलंकृत थी। वे भाव लिंगी मुनीन्द्रों के द्वारा भी आराध्य थे, फिर भी वे शुक्लध्यान धारण करने के पूर्व धर्मध्यान रूप शुभ भाव के द्वारा पुण्य कर्म का बंध कर रहे थे। शुभ भाव से पुण्य का बंध होता है, इस बात को कुन्दकुन्द स्वामी ने पंचास्तिकाय में इस प्रकार प्रतिपादन किया है :—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावंति हवदि जीवस्स॥ १३२॥

जीव के शुभ परिणाम द्वारा पुण्य बंध होता है तथा अशुभ परिणाम से पाप का बंध होता है।

इस प्रसंग में यह बात स्मरणयोग्य है, कि प्रारम्भ के तीन गुणस्थानों में अशुभोपयोग होता है। चतुर्थ से सातवें पर्यन्त शुभोपयोग होता है। सातवें से बारहवें पर्यन्त जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट के भेद से शुद्धोपयोग कहा गया है।

वीर प्रभु का द्वादश वर्ष पर्यन्त शुभोपयोग :—भगवान वर्धमान मुनीश्वर ने बारह वर्ष पर्यन्त शुभोपयोग का अभ्यास किया था। यही स्थिति अन्य तीर्थंकरों की भी थी।

हरिवंश पुराण में लिखा है, कि भगवान नेमिनाथ के छद्मस्थ अवस्था के छप्पन दिन शुभोपयोग रूप धर्मध्यान में व्यतीत हुए थे। "इस प्रकार भली भांति धर्मध्यान का आराधन करते हुए भगवान

नेमीश्वर ने छप्पन अहोरात्र पर्यन्त घोर तप किया। (हरिवंश पुराण सर्ग ५६-१११, पृष्ठ ५०४)

मोह विजय की तैयारी :—भगवान ने मोह शत्रु को जीतने के ध्येय से उत्तम ध्यान को जयशील अस्त्र बनाया था। महावीर भगवान ने ऋजुकूला नदी के तट पर अपने परिणामों को अत्यन्त ऋजु-सरल बनाकर कर्म शत्रुओं के क्षय का उद्योग आरम्भ किया तब भगवान की गुणश्रेणी निर्जरा के बल से कर्मरूपी सेना छिन्नभिन्न होने लगी। कर्मों की अनुभाग शक्ति का विनाश होना आरम्भ हो गया। उन्होंने उत्तर प्रकृतियों को जड़ मूल से नष्ट करने का उपक्रम किया। मूल प्रकृतियों में उद्वेलन आदि संक्रमण किए।

वे मोक्ष महल की सीढ़ी के समान क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए। उनके पास शुक्ल ध्यान रूपी अजेय अस्त्र था।

शुद्धोपयोग तथा क्षपकश्रेणी आरोहण :—पृथक्त्व-वितर्क-विचार ध्यान के प्रभाव से उन्होंने अधःकरण के पश्चात् अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण नाम के नवमे गुणस्थान को प्राप्त किया।

उन्होंने मोह राजा के अंगरक्षक सदृश अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण रूप कषायाष्टक का क्षय किया। नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा रूप नव नोकषायों का नाश किया। पश्चात् संज्वलन क्रोध को, फिर मान को, माया को और बादर लोभ को नष्ट किया।

दयारूपी कवच को धारण किए हुए महायोद्धा भगवान ने अनिवृत्तिकरण रूप, जयभूमि प्राप्त की। इसके अनन्तर नरकगति नरकगति - प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यगगति - प्रायोग्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन त्रयोदश प्रकृतियों का क्षय किया। इनके साथ स्त्यानगृद्धि, निद्रा निद्रा तथा प्रचला प्रचला का भी क्षय किया।

भगवान ने नवमें गुण स्थान में अश्वकर्ण तथा कृष्टिकरण आदि क्रियाओं को करके सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान को प्राप्त किया। सूक्ष्म लोभ का क्षय करके वे वीर जिन क्षण भर में क्षीण-मोह गुणस्थान में पहुँच गए।

वीतराग निर्ग्रन्थ :—अब वे प्रभु पूर्णतया वीतराग हो गए। मोहनीय कर्म के क्षय होने से वे वास्तव में निर्ग्रन्थ हो गए।

कैवल्य प्राप्ति :—उन्होंने एकत्व वितर्क अवीचार नाम के द्वितीय शुक्लध्यान के प्रभाव से ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय रूप घातिया त्रय का क्षय किया। × उस समय हस्त और उत्तर नक्षत्र के मध्य में चन्द्रमा स्थित था।

भगवान ने यह घातिया कर्म क्षय का श्रेष्ठ उद्योग जृंभिका ग्राम के मनोहर नाम के वन में किया था। उन्होंने बेला—दो उपवास का नियम करके शाल वृक्ष के नीचे महारत्न शिला पर विराजमान होकर केवलज्ञान रुप महान सिद्धि प्राप्त की थी। वह वैशाख शुक्ला दशमी धन्य हो गई।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

वइसाह-सुद्धदहमी माघारि सक्खम्मि वीरणाहस्स।
रिजुकूलनदी-तीरे अवरण्हे केवलं णाणं ॥ ७०१-४ ॥

वैशाख सुदी दशमी के अपराह्न काल में वीरनाथ ने केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय मघा नक्षत्र था।

× ऋजुकूला नदी तीरे मनोहर-वनांतरे।
महारत्नशिलापट्टे प्रतिमायोगमावसत् ॥ ३४६-७४ ॥
—उत्तरपुराण

कैवल्य-ज्योति

श्रेष्ठ तपस्वी तथा महान मनस्वी महावीर भगवान ने शुक्लध्यान द्वारा मोह का क्षय करके परं ज्योतिरूप कैवल्य लक्ष्मी प्राप्त की।

कैवल्य ज्योति—उस दिव्य ज्योति के विषय में अमृतचन्द्र सूरि इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

तज्जयति परंज्योतिः समं समस्तैरनंतपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र ॥

वह परं ज्योति—कैवल्य प्रकाश जयवंत हो, जिसमें समस्त पदार्थों का समुदाय अपनी अनंत पर्यायों सहित उस प्रकार प्रतिबिम्बित होता है, जिस प्रकार दर्पण तल में बाह्य वस्तु का स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है "सर्वद्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य"—२६—अध्याय १

वह केवलज्ञान सर्वद्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानता है। इस सूत्र पर टीका करते हुए पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं, "जीव-द्रव्याणि तावदनंतानंतानि, पुद्गल-द्रव्याणि च ततो ऽप्यनंतानंतानि अणुस्कन्ध-भेदेन भिन्नानि, धर्माधर्माकाशानि त्रीणि, कालश्चासंख्येयस्तेषां पर्यायाः त्रिकालभुवः प्रत्येकमनंतानंतास्तेनेषु द्रव्यं पर्यायजातं वा न किंचित् केवलज्ञानस्य विषयभावमतिक्रान्तमस्ति। अपरिमित-माहात्म्यं हि तदिति ज्ञापनार्थं सर्वद्रव्यपर्यायेष्वित्युच्यते" (पृ. ५४)—जीवद्रव्य अनंतानंत हैं। अणु तथा स्कन्ध के भेद से युक्त पुद्गल द्रव्य उससे भी अनंतानंत गुणी हैं। धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य तथा असंख्यात काल द्रव्य, उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायें अनंतानंत हैं। द्रव्य तथा पर्यायों का समुदाय कोई भी केवल-

ज्ञान के अगोचर नहीं है। उस ज्ञान की महिमा सीमातीत है, यह सूचित करने के लिए "सर्व-द्रव्य-पर्यायेषु" शब्द सूत्र में कहे गए हैं।"

इस केवलज्ञान की अपूर्वता पर गुणभद्राचार्य का यह आत्मानुशासन का पद्य सुन्दर रूप में प्रकाश डालता है :—

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः।
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य॥
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे निलीनं।
वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु॥ २१६॥

जिस पृथ्वी के ऊपर समस्त पदार्थ रहते हैं, वह भी दूसरों के द्वारा-घनोदधि, घन तथा तनु वातवलयों के द्वारा धारण की गई है। वह पृथ्वी तथा तीनों वातवलय भी आकाश के उदर में समाये हुए हैं। वह अनंत आकाश भी केवली भगवान के ज्ञानसिंधु के एक कोने में विलीन हो जाता है। ऐसी अवस्था में यहाँ अपने में अधिक गुण होने पर कोई किस प्रकार अभिमान धारण करेगा? इससे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है, कि केवलज्ञान अपार, अनंत महासागर सदृश है तथा समस्त ज्ञेय वस्तु उसमें एक बिन्दु समान है। उस ज्ञान की अपार महिमा है। +

+ भगवान महावीर ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर बाह्य परिग्रह का त्याग किया था, तथा रागभावादि अंतरंग परिग्रहों का भी क्षय किया था। इस प्रकार क्षीणकषाय गुणस्थान में वे अन्वर्थ रूप में निर्ग्रन्थ थे। वे अपरिग्रहत्व की पराकाष्ठा को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रसंग में पातंजलि कृत योगदर्शन का यह सूत्र महत्वपूर्ण है —"अपरिग्रह-स्थैर्ये जन्म-कथन्ता-संबोधः" (३९ सूत्र-साधन पाद २) जब योगी में अपरिग्रह भाव स्थिरता को प्राप्त होता है, तब पूर्व जन्म कैसे हुए थे, इस बात का भली प्रकार ज्ञान हो जाता है, इससे पूर्व भव तथा वर्तमान भव की बातें विदित हो जाती हैं। इसके पश्चात् वह योगी धर्ममेघ-समाधि को प्राप्त करता है। उससे क्या होता है?

क्रमशः

यह केवलज्ञान इंद्रियों तथा मन की सहायता के बिना आत्मा की निर्मलता के कारण स्वयमेव उत्पन्न होता है, इससे ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है। अमृतचन्द्र सूरि प्रवचनसार टीका में लिखते हैं :- "केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते"— यह केवल आत्मा से ही उत्पन्न होता है, इससे इसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं (गाथा ५८, अध्याय १)। वे इस ज्ञान को महाप्रत्यक्ष कहते हुए इसको स्वाभाविक आनन्द का साधन बताते हैं :—"इह हि सहज-सौख्य साधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्ष-मभिप्रेतमिति" (पृ. ७६ प्रवचनसार टीका)।

महावीर भगवान ने केवलज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया।

शंका—यहां यह शका हो सकती है कि अनंत पदार्थों का ज्ञान होने से उन भगवान को खेद प्राप्त होता होगा, क्योंकि छद्मस्थ

यह कहते हैं, "तत. क्लेश-कर्म-निवृत्ति :"—३०। उससे अविद्यादि पांचों क्लेश तथा शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्र रूप कर्मों के संस्कार नष्ट होते जाते हैं, अतः वह योगी जीवन्मुक्त कहलाता है। उस समय क्या होता है ?

तदा सर्वावरण-मलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्" ॥ ३१ ॥—

उस समय जिसके सब आवरण और मल हट चुके हैं, ऐसा ज्ञान अनत हो जाता है, इस कारण ज्ञेय पदार्थ अत्यन्त अल्प हो जाते हैं।"

(देखो—पातञ्जल योगदर्शन-कैवल्य पाद ४, पृष्ठ १७४-हिन्दी टीका गीता प्रेस)।

स्वामी समंतभद्र ने आप्तमीमांसा मे सर्वज्ञ सिद्धि के लिए इस :—

"दोषावरणयो र्हानिः निःशेषास्त्यतिशायनात्"

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यः बहिरंतर्मलक्षयः।"

कारिका में दोष तथा आवरण के क्षय को आवश्यक कहा है। पातंजलि सूत्र में 'दोष' के स्थान पर 'मल' शब्द का प्रयोग किया गया है।

जीव जब अपने ज्ञान का विशेष उपयोग करते हैं, तब उनको श्रमादि के द्वारा कष्ट होता देखा जाता है।

समाधान—इसके निराकरणार्थ कुन्दकुन्द स्वामी प्रवचनसार में कहते हैं :—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥ ६० ॥

वह केवल ज्ञान सुख रूप है। उस केवलज्ञान में दुःख नहीं रहता है, क्योंकि दु:ख के कारण घातिया कर्मों का क्षय हो गया है। वह केवलज्ञान सम्बन्धी परिणाम सुख स्वरूप है।

इस विषय में अमृतचन्द्र सूरि इस प्रकार स्पष्टीकरण करते हैं :—

मोह कर्म के उदय से यह आत्मा मतवाला सा होकर असत्य वस्तु में सत्य बुद्धि को धारण करता हुआ ज्ञेय पदार्थों में परिणमन करता है, जिससे वे घातिया कर्म इसे इंद्रियों के अधीन करके पदार्थ के जानने रूप परिणमन करते हुए खेद के कारण होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि घातिया कर्मों के होने पर आत्मा के जो अशुद्ध ज्ञान परिणाम हैं, वे खेद के कारण हैं। जहाँ इन घातिया कर्मों का अभाव है, वहाँ केवलज्ञानावस्था में खेद नहीं हो सकता—

"खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवल परिणाममात्रम्।

घातिकर्माणि हि महा-मोहोत्पादकत्वान्दुन्मत्तवदतास्मिं स्तद्बुद्धि-माधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यततः परिणामयति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः।

केवलज्ञान सुख रूप है—अज्ञान जीव को दुःखदायी है। उस अज्ञान का मूलोच्छेद होने से जो महान ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनंत आनन्द प्रदान करता है। प्रवचनसार में कहा है :—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोयेसु वित्थड़ा दिट्ठी ।
णट्ठ मणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं ॥ ६१ ॥

समस्त पदार्थों के अन्त को प्राप्त हुआ केवलज्ञान है। लोक तथा अलोक में विस्तृत दृष्टि केवलदर्शन है। जब दुःखदायक सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो गया, तब जो इष्ट अर्थात् सुखदायक ज्ञान है, वह प्राप्त हो जाता है।

अमृतचंद्र सूरि कहते हैं,—"यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञान–मखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायते। ततः केवलमेव सौख्यम्"—केवलज्ञान की अवस्था में सुख की उपलब्धि के प्रतिकूल दुःख के साधन रूप अज्ञान पूर्णतया नष्ट हो जाता है और आनन्द का साधन पूर्णज्ञान उत्पन्न होता है, अतः केवलज्ञान सुख स्वरूप है। (पृष्ठ ८०)।

ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। स्वरूप की उपलब्धि कभी भी दुःख का कारण नहीं हो सकती है। उष्णता अग्नि का स्वभाव है, जल का स्वभाव शीतलता है। सूर्य का स्वभाव प्रकाश प्रदान करना है। इन क्रियाओं के करने में अग्नि, जल, सूर्य आदि को कोई संताप नहीं होता। इसी प्रकार स्व-पर प्रकाशन जीव का स्वभाव है, अतः अनन्त पदार्थों का अवबोध आत्मा के अनन्त सुख का साधक है, बाधक नहीं है।

प्रश्न—कोई-कोई दार्शनिक कहते हैं, आत्मा में सर्वज्ञता असंभव है। कोई कूदने वाला दस गज कूदता है, वह हजार मील नहीं कूद सकता है, इसी प्रकार ज्ञान भी मर्यादा के बाहर अनन्त वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर सकता ?

उत्तर—यह धारणा कूप-मंडूक की दृष्टि का अनुसरण करती है। कूप का मेंढक समुद्र की कल्पना जैसे नहीं कर सकता, उसी प्रकार अल्पज्ञों से मार्गदर्शन प्राप्त व्यक्ति सर्वज्ञता की कल्पना नहीं कर सकता है। जुगनू के थोड़े प्रकाश मात्र से परिचय-प्राप्त प्राणी

क्या कभी यह सोच सकेगा कि सूर्य नाम की भी एक तेजोमय वस्तु है, जो क्षणमात्र में लाखों मील जगत् को अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश प्रदान करती है ? यथार्थ बात यह है कि तप तथा योग के द्वारा आत्मा में प्रसुप्त, अद्भुत और अपूर्व शक्तियां विकसित होती हैं।

बौद्ध ग्रंथ से महावीर की सर्वज्ञता :—भगवान महावीर की सर्वज्ञता दार्शनिक सत्य होती हुई ऐतिहासिक तथ्य भी है। मज्झिम-निकाय नामक बौद्ध ग्रंथ में महावीर भगवान की सर्वज्ञता की चर्चा आई है। बौद्ध ग्रंथों में महावीर भगवान को णिग्गंठ नातपुत्त — निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र कहा है। गौतमबुद्ध कहते हैं "हे महानाम, एक समय मैं राजगृह के गिद्धकूट नामक पर्वत पर विहार कर रहा था। उसी समय ऋषिगिरि के पास कालशिला (नामक पर्वत) पर बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) आसन छोड़कर उपक्रम कर रहे थे और तीव्र तपस्या में प्रवृत्त थे। हे महानाम ! मैं सायंकाल के समय उन निर्ग्रन्थों के पास गया और उनसे बोला, अहो निर्ग्रन्थ ! तुम आसन छोड़ उपक्रम कर क्यों ऐसी तपस्या की वेदना का अनुभव कर रहे हो। हे महानाम ! जब मैंने उनसे ऐसा कहा, तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले; "अहो निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। वे अशेषज्ञान और दर्शन के ज्ञाता हैं" ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं—"हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते समस्त अवस्थाओं में सदैव उन निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर का ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है।"' ... इस पर बुद्ध कहते हैं, "यह कथन हमारे लिए रुचिकर है और हमारे मन को ठीक जंचता है।" पाली रचना में आगत बुद्ध के ये शब्द महत्वपूर्ण हैं, "तं च पन् अम्हाकं रुचति चेव खमति च तेन च अम्हा अत्तमना ति"—(मज्झिमनिकाय P. T. S P. ९२-९३)

बुद्ध का ज्ञान :—बुद्धदेव की भगवान महावीर की सर्वज्ञता के प्रति रुचि तथा आदर का भाव मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आश्रित है;

कारण बौद्ध भिक्षु नागसेन ने राजा मिलिन्द के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा है, × "बुद्ध का ज्ञान सदा नहीं रहता। जिस समय बुद्ध किसी बात का विचार करते थे, उस समय उस पदार्थकी ओर मनोवृत्ति जाने से वे उसे जान लेते थे।" अतः सर्वकाल विद्यमान रहने वाले तीर्थंकर महावीर की सर्वज्ञता की ओर उनके मन में स्पृहा पूर्ण ममता का सद्भाव पूर्णतया स्वाभाविक है।

सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव :—ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को ज्ञेय कहते हैं। अष्ट सहस्री में लिखा है; "न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिद्‌-गोचरोस्ति यन्नक्रमेन्, तत्स्वभावान्तर-प्रतिषेध त्"—आत्मा का स्वभाव जानना है; अतः उस आत्मा के ज्ञान के अगोचर कोई भी वस्तु नहीं है; उस आत्मा के अन्य स्वभाव का निषेध किया गया है। आचार्य कहते हैं :—

सो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबंधने।
दाह्येग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधने॥

ज्ञान में विघ्नकारी प्रतिबंधक सामग्री के अभाव होने पर ज्ञाता आत्मा ज्ञेय पदार्थों के विषय में कैसे ज्ञान रहित होगा? प्रतिबंधक सामग्री के अभाव में अग्नि क्या दाह्य-दहन करने योग्य सामग्री का दाह नहीं करती है? (अष्ट सहस्री-विवरण-पृष्ठ ४६)

सर्वज्ञता का भ्रामक अर्थ कभी कभी कोई लोग जैनागम के समन्वयकारी मूलमंत्र स्याद्वाद तत्त्वज्ञान को भूलकर एकान्तवाद के अभिनिवेश में आकर कहते हैं, सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव नहीं है।

× Venerable Nagasena, Was the Buddha Omniscient ! **Yes,** O king, he was. But the insight of knowledge was **not** always and continuously present with him. The Omniscience of the Blessed one was dependent on reflection. **But** if he did reflect, he knew whatever he wanted to **know...** (Sacred Books of the East, Vol XXXV P. 154—**Milinda Panha**).

व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा सर्वज्ञ कही गई है। वे नियमसार की यह गाथा उपस्थित करके अपना पक्ष पुष्ट करते हैं :—

जाणइ पस्सइ सव्वं ववहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥

व्यवहार नय की अपेक्षा केवली भगवान संपूर्ण लोकालोक को जानते है, देखते हैं, किन्तु निश्चय नय से वे अपनी आत्मा को जानते हैं, देखते हैं।

व्यवहार नय को असत्य मानते हुए ये लोग सर्वज्ञता को काल्पनिक कहते हैं।

यथार्थ भाव—कुंद कुंद स्वामी के कथन से सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध करने का प्रयास अद्भुत तथा विनोद प्रद लगता है। यदि आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान न होता, तो वे उसी नियमसार में ज्ञानी पुरुष को यह उपदेश क्यों देते ?

केवलणाण-सहावो केवलदंसणसहाव-सुहमइओ।
केवलसत्ति-सहावो सोहं इति चिंतए णाणी॥ ९६ ॥

ज्ञानी आत्मा सोचता है, कि मैं केवलज्ञान स्वभाव वाला हूँ। केवल दर्शन स्वभाव, सुखमय स्वभाव तथा अनंत शक्ति स्वभाव वाला हूँ। यदि आत्मा की सर्वज्ञता अवास्तविक होती, तो उपरोक्त कथन का क्या उपयोग है ? वास्तव में व्यवहार नय का स्वरूप ठीक रूप से ग्रहण किये बिना लोग उसे लोक-व्यवहार का पर्यायवाची मानते हैं।

व्यवहार-निश्चय का रहस्य—आगम में आगत व्यवहारनय सम्यग्ज्ञान का उसी प्रकार अंग है, जिस प्रकार निश्चयनय है। आलाप पद्धति में लिखा है "पुनरप्याध्यात्म-भाषया नया उच्यन्ते। तावन्मूलनयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च। तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयः। व्यवहारो भेदविषयः" अध्यात्मभाषा द्वारा नयों का स्वरूप कहते हैं। दो नय मूल रूप में है, एक व्यवहार नय है, दूसरा निश्चयनय है। निश्चय नय अभेद को ग्रहण करता है, व्यवहारनय भेद को ग्रहण करता है।

वस्तु कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद रूप है। अतः उस वस्तु के भेद तथा अभेद स्वरूप को ग्रहण करने वाले दोनों नय सम्यक् तथा वास्तविक हैं।

विचारक व्यक्ति जानते हैं, कि कभी पदार्थ का वर्णन अभेद दृष्टि (Synthetically) से किया जाता है और कभी वह विश्लेषण रूप दृष्टि (analytically) द्वारा किया जाता है। निश्चय शब्द संग्राहक दृष्टि को बताता है तथा व्यवहार विभेदक अर्थात् असंग्राहक दृष्टि को सूचित करता है। वस्तु एकान्त रूप से न भेद रूप है और न अभेद रूप है। वह कथंचित् भेद तथा अभेद रूप है।

स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में लिखा है :—

प्रमाणगोचरौ संतौ भेदा ऽभेदौ न संवृती।
तावेकत्राऽविरुद्धौ ते गुण-मुख्य-विवक्षया ॥ ३६ ॥

भेद तथा अभेद दोनों धर्म प्रमाणगोचर हैं, अतः वास्तविक हैं। वे काल्पनिक नहीं हैं। वे गौण तथा मुख्य विवक्षा-अपेक्षा द्वारा निरूपण किए जाते हैं। वे एकत्र अविरोध रुप में पाए जाते हैं।

समयसार की यह गाथा भी उक्त कथन को स्पष्ट करती हैं कि भेद और अभेद दोनों पदार्थगत धर्म हैं।

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त-दंसणं-णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

व्यवहारनय से-भेद विवक्षा से ज्ञानी के चारित्र, दर्शन तथा ज्ञान कहे जाते हैं। निश्चयनय से-अभेद विवक्षा से ज्ञानी के न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है। उसके शुद्ध ज्ञायक भाव है। भेद शब्द पर्याय का नामान्तर है, अतः भेदग्राही व्यवहारनय को पर्यायार्थिक तथा अभेद अर्थात् द्रव्यग्राही निश्चयनय को द्रव्यार्थिक नय भी कहा गया है।

श्लोकवार्तिक-कार का मत—व्यवहारनय पर प्रकाश डालते हुए आचार्य विद्यानंदि स्वामी ने श्लोकवार्तिक में लिखा है :—

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः ।
योऽवहारो विभागः स्यात्व्यवहारो नयः स्मृतः ॥ १. ३३. ५८ ॥

संग्रहनय के द्वारा गृहीत पदार्थों का जो विधिपूर्वक अवहार अर्थात् विभाग किया जाता है, वह व्यवहार नय का कार्य है। यह व्यवहार नय सम्यग्ज्ञान का अंग होने से मिथ्या नहीं है।

उदाहरणार्थ रत्नत्रय धर्म को मोक्षमार्ग कहना व्यवहारनय है, निश्चय दृष्टि इसके विपरीत अभेद तत्त्व का समर्थन करती है। दोनों कथन अपनी अपनी अपेक्षाओं से समीचीन हैं। जो एक को मिथ्या कहता है, वह स्वयं निरपेक्ष रुप होने से मिथ्या हो जाता है।

अमृतचन्द्र सूरि का कथन है :—

स्यात्सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्ररूप पर्यायार्था-देशतो मुक्तिमार्गः ।
एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीयः स्याद्द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्गः ॥

पर्यायार्थिक दृष्टि अर्थात् व्यवहारनय से सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग है। द्रव्यार्थिक दृष्टि अर्थात् निश्चय नय से एक, अद्वितीय, ज्ञाता ही सर्वदा मुक्ति का मार्ग हैं।

इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि व्यवहार नय की अपेक्षा नियमसार में केवली भगवान को सर्वज्ञ कहा है। वह मिथ्या या काल्पनिक नहीं है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से भेद को गौणकर आत्मा पर ही दृष्टि केन्द्रित करने पर केवली को आत्मा का ज्ञाता कहा है। अतः भगवान की सर्वज्ञता पारमार्थिक है, कल्पना जाल नहीं है।

विशेष तर्क—इस सम्बन्ध में यह तर्क भी ध्यान देने योग्य है। भगवान वीरनाथ जन्म से तीन ज्ञान के धारक थे। दीक्षा लेने पर वे मनः पर्ययज्ञान के स्वामी हो गए। उन्होंने श्रेष्ठ अवधिज्ञान प्राप्त किया था। वे अनेक ऋद्धियों के धारक थे। उनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी लोकोत्तर थे। यह स्थिति उनकी तब थी, जब वे क्षायोपशमिक ज्ञानी थे।

अब जब ज्ञानावरण कर्म का पूर्णतया क्षय हो गया, तो उनका ज्ञान बढ़ने के स्थान में न्यून होकर यदि स्वयं का ज्ञाता मात्र रह गया, तो ऐसा क्यों हो गया?

ज्ञान का न्यून होना ज्ञानावरण के उदय का कार्य था, उस आवरण के होने पर ज्ञान का पूर्ण विकास या प्रकाश न मानना तर्क संगत बात नहीं है। मेघ पटल के रहते हुए भी सूर्य का थोड़ा सा प्रकाश मिलता था। जब मेघ पटल पूर्णतया हट गया, तब सूर्य का प्रकाश न्यून बताना अविचारित कथन होगा। अतः केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान की सर्वज्ञता को स्वीकार करना तर्कपूर्ण होगा।

वह केवल ज्ञान रुपी सूर्य उदय को प्राप्त होता है, किन्तु वह कभी भी अस्तंगत नहीं होता; यह उस सूर्य की लोकोत्तरता है। वीरसेन स्वामी ने वेदना खण्ड के मंगलाचरण में केवलज्ञान सूर्य का उल्लेख करते हुए कहा है "उइओ वि अणत्थवणो" वह उदय को तो प्राप्त होता है, किन्तु वह अस्ताचल को नहीं प्राप्त होता है।

कुंद-कुंद स्वामी ज्ञान को सर्वगत सिद्ध करते हुए कहते हैं --

भगवान के दश जन्म के अतिशय, दश केवलज्ञान के अतिशय, चौदह देवकृत अतिशय, अनन्त चतुष्टय और अष्ट प्रातिहार्य मिलकर कुल छियालीस गुण अरहंत भगवान के कहे गए हैं। प्रातिहार्यों का स्वरूप इस प्रकार है।

(१) अशोक वृक्ष--जिस वृक्ष के नीचे भगवान ने केवलज्ञान प्राप्त किया, वही वृक्ष समवशरण में अशोक वृक्ष कहा गया है। महावीर भगवान का अशोक वृक्ष शाल वृक्ष है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है, "ये अशोक वृक्ष लटकती हुई मालाओं से युक्त तथा घण्टा समूहादिक से रमणीय होते हुए पल्लव एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओं से शोभायमान होते हैं। इनका सौन्दर्य देखकर सुरेन्द्र का चित्त अपने उद्यान वनों में नहीं रमता है" + (६२०—४)

+ किं वण्णणेण बहुणा दट्ठूण-मसोय-पादवे एदे।
णिय-उज्जाण-वणेसुं ण रमदि चित्तं सुरेसस्स ॥ ६२०—४ ॥

(२) चन्द्र मण्डल के समान तथा मुक्ता समूहों के प्रकाश से संयुक्त छत्रत्रय शोभायमान होते हैं।

(३) उत्कृष्ट रत्नों से अलंकृत स्फटिक पाषाण निर्मित सिंहासन बड़ा मनोहर लगता है।

(४) आकाश से सुगंध युक्त विविध प्रकार के पुष्पों की वर्षा हुआ करती है. उन्हें देखकर ऐसा लगता है, कि इन निष्कलंक शील शिरोमणि भगवान के भय से कामदेव के हाथ से उसके पुष्पमय बाण गिर गए हैं।

(५) दिव्य दुंदुभि के विषय में तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

विसय-कसायासत्ता हदमोहा पविस जिण-पहू-सरणं।

कहि दुं वा भव्वाणं गहिरं सुरदुंदुही रसइ ॥ ६२४—४ ॥

विषय कषायों की आसक्ति त्यागकर मोह रहित हो जिनप्रभु के शरण में जाओ, ऐसा भव्यों को कहने के लिए ही मानो सुर दुंदुभि बाजा शब्द करता है।

(६) चमर—देवों द्वारा तीर्थंकर महावीर जिनेन्द्र पर चौसठ चमर ढारे जा रहे थे। उन चमरों को देखकर यह प्रतीत होता था, कि जिस प्रकार ये ढारे गए चमर चरणों के समीप जाकर फिर ऊपर आते हैं; उसी प्रकार भक्तिपूर्वक इन वर्धमान भगवान को जो प्रणामांजलि अर्पण करता है, वह उर्ध्व गति को प्राप्त करता है।

(७) प्रभा मण्डल—यह अत्यन्त तेजोमय होता है। इसका अतिशय है कि इसके समीप में आगत भव्य जीव अपने तीन पिछले, तीन आगामी तथा एक वर्तमान इस प्रकार सात भवों को देखते हैं। यह सात की संख्या न्यून भी हो सकती है। जिसका उसी भव में मोक्ष होगा, वह भव्य केवल चार भव देखेगा ? सिद्ध पर्याय का क्या रूप होगा, जब कि वह स्वयं रूप से मुक्त है ? श्रेणिक महाराज ने आगामी दो भव देखे होंगे, अतः उन्होंने छह भवों का दर्शन किया होगा। सर्वज्ञ तीर्थंकर के निमित्त को पाकर पुद्गल का भामण्डल रूप में यह अद्भुत परिणाम हुआ था।

(८) दिव्यध्वनि—भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर जीव सुख तथा शांति प्राप्त करते हैं। तिलोयपण्णत्ति में दूसरा प्रतिहार्य इन शब्दों में प्रतिपादित किया गया है :--

णिब्भर-भत्ति-पसत्ता अंजलि-हत्था पफुल्ल-मुह-कमला ।
चेट्ठंति गणा सव्वे एक्केक्कं वेढिऊण जिणं ॥ ६२३-४ ॥

गाढ़ भक्ति में आसक्त, हाथों को जोड़े हुए और विकसित मुख-कमल से युक्त ऐसे संपूर्ण गण प्रत्येक तीर्थंकर को घेरकर स्थित रहते हैं।

उन तीर्थंकर भगवान की इस प्रकार स्तुति की गई है :—

चउतीसा-तिसयमिदे अट्ठ - महापाडिहेर-संजुत्ते ।
मोक्खयरे तित्थयरे तिहुवणणाहे णमंसामि ॥ ६२८-४ ॥

जो चौतीस अतिशयों को प्राप्त हैं, आठ महाप्रातिहार्यों से संयुक्त हैं, मोक्ष को प्राप्त कराते हैं, त्रिभुवन के नाथ हैं, उन तीर्थंकर को मैं प्रणाम करता हूँ।

इंद्रों द्वारा पूजा :—भगवान महावीर प्रभु के समवशरण में देव, देवेन्द्र, मनुष्यादि आये और उन्होंने उन देवाधिदेव को प्रणाम कर अपने को कृतार्थ माना। महापुराण में लिखा है :—

इंद्रों ने खड़े होकर बड़े संतोष पूर्वक + अपने ही हाथों से गंध, पुष्पमाला, धूप, दीप, सुन्दर अक्षत और उत्कृष्ट अमृत के पिण्डों द्वारा भगवान के चरण कमलों की पूजा की।

अथोत्थाय तुष्टया सुरेन्द्राः स्वहस्तैः ।
जिनस्यांघ्रिपूजां प्रचक्रुः प्रतीताः ॥
सगंधैः समाल्यैः सधूपैः सदीपैः ।
सदिव्याक्षतैः प्राज्यपीयूष - पिण्डैः ॥ १९९ ॥ – २३ पर्व ॥

+ इंद्र ने स्वयं अपने हाथों से जिनेन्द्र की पूजा की। इस कथन से स्पष्ट होता है, कि श्रेष्ठ भाग्यशाली व्यक्ति स्वयं प्रभु की सेवा में तत्पर रहते हैं। प्रमादीजन नौकरों से पूजा करवाते हैं।

महान आश्चर्यप्रद घटना :—सभी जीव समवशरण में अपने अपने योग्य स्थानों पर बैठ गए। प्यासा चातक जिस ममता तथा आशा से मेघ की ओर दृष्टि डालता है, उसी प्रकार सभी भव्य भगवान के मुखकमल की ओर दृष्टि देते हुए कर्ण रसायन रुप दिव्यध्वनि के पान की आकांक्षा कर रहे थे, किन्तु सबके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब दिव्य ध्वनिरूप अमृत की योग्य वेला में भी धर्मामृत की वर्षा नहीं हुई।

दिव्यध्वनि न खिरने का कारण :—उस समय पर सौधर्मेन्द्र ने अवधिज्ञान द्वारा यह जाना कि गणधर देव की उपस्थिति के बिना दिव्यध्वनि नहीं होगी। दिव्यध्वनि जब अमृत से भी अधिक महत्वपूर्ण है, तब उसको अवधारण कर द्वादशांग की रचनाकर जीवों का कल्याण करने वाले गणधरदेव के अभाव में वह किस प्रकार खिरे?

उस समय इंद्र का ध्यान गौतम ग्रामवासी गौतम गोत्रवाले सकल वेद-वेदांग के पारगामी महाज्ञानी विद्वान इंद्रभूति की ओर गया। इंद्र ने अपने दिव्यज्ञान से यह निश्चय किया, कि यही इंद्रभूति गणधर होने की क्षमता समलंकृत है।

इंद्र का उद्योग :- वर्धमान चरित्र में लिखा है :—

उन वीर जिनेश्वर की दिव्यध्वनि के उत्पन्न न होने पर अपने अवधिज्ञान द्वारा कारण ज्ञात कर स्वयं इंद्र गौतम गणधर के लाने के हेतु गौतम ग्राम गया।

वहाँ जाकर इंद्र ने निर्मल बुद्धि तथा विशुद्ध कीर्ति द्वारा लोक में प्रसिद्ध इंद्रभूति ब्राह्मण को वाद करने के बहाने से छोटे बालक का वेष धारण कर महावीर भगवान के समीप लाया।

विप्रराज पर मानस्तंभ दर्शन का प्रभाव :—

मानस्तंभ-विलोकनादवनतीभूतं शिरो बिभ्रता।
पृष्ठस्तेन सुमेधसा स भगवानुद्दिश्य जीवस्थितिम्॥

तत्संशीतिमपाकरोज्जिनपतिः संभूतदिव्यध्वनिः ।
दीक्षां पंचशतैर्द्वि-जाति-तनयैः शिष्यैः समं सोऽग्रहीत ॥ ५१ ॥

मानस्तंभ के दर्शन मात्र से इंद्रभूति का अहंकारभाव नष्ट हो गया। उसने अपने मस्तक को झुका लिया। उस महाज्ञानी ने भगवान से जीव के विषय में प्रश्न पूछे। भगवान की दिव्यध्वनि के श्रवण से उसका संशय दूर हुआ। उस इंद्रभूति ने पाँच सौ ब्राह्मण शिष्यों के साथ भगवान के समीप दीक्षा धारण की।

उत्तर पुराण का कथन :—उत्तरपुराण में लिखा है, कि गौतम स्वामी ने वीर भगवान से कहा था।

अस्ति किं नास्ति वा जीवस्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् ॥ ३६० ॥

जीव अस्ति स्वरूप है अर्थात् जीव पदार्थ है या नहीं है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा था—

अस्ति जीवः स चोपात्तदेहमात्रः सदादिभिः ।
किमादिभिश्च निर्देश्यो नोत्पन्नो न विनंक्ष्यति ॥ ३६१ ॥
द्रव्यरूपेण पर्यायैः परिणामी प्रतिक्षणं ।
चैतन्यलक्षणः कर्ता भोक्ता सर्वैकदेशवित् ॥ ३६२ ॥

जीव एक भिन्न पदार्थ है, वह प्राप्त हुई देह के समान है। सत् संख्या आदि सदादिक तथा निर्देश स्वामित्व आदि की अपेक्षा से उसका स्वरूप कहा जाता है। वह द्रव्य से न तो कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा, किन्तु पर्याय की अपेक्षा वह प्रति क्षण परिणमन शील है अर्थात उत्पन्न और नष्ट होता है। वह चैतन्य लक्षण वाला है, कर्ता है, भोक्ता है, पदार्थों के एक देश तथा सर्व देश का ज्ञाता है।

संसारी निर्वृतश्चेति द्वैविध्येन निरूपितः ।
अनादिरस्य संसारः सादि निर्वाण मुच्यते ॥

उसके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। यह जीव अनादि से संसार में है। मुक्त जीव का निर्वाण सादि है।

न निर्वृतस्य संसारो नित्या क्वापि संसृतिः ।
अनंता संसृतौ मुक्तास्तदनंताः सुलक्षिताः ॥ ३६४ ॥

जो मुक्त नहीं है, वह संसार में ही रहता है। अभव्य जीव का संसार नित्य है। संसार में से अनन्त जीव मुक्त हो गए, फिर भी शेष जीव अनन्त हैं।

सतिव्ययेपि बह्वानां हानिरेव नहि क्षयः ।
आनंत्यमेव तद्धेतुः शक्तीनामिव वस्तुनः ॥ ३६५ ॥

जीवों के मुक्त होने पर भी संसार की अपेक्षा उनकी हानि होते हुए भी उनका क्षय नहीं होता। जीव अनन्त हैं और उनका क्षय नहीं होता, जिस प्रकार पदार्थों की शक्तियाँ अनन्त हैं और उनका क्षय नहीं होता।

इति जीवस्य याथात्म्यं युक्त्या व्यक्तं न्यवेदयत् ।
द्रव्यहेतुं विधायास्य वचः कालादिसाधनः ॥ ३६६ ॥
विनेयोहं कृतश्रद्धो जीवतत्व विनिश्चये ।
सौधर्मपूजितः पंचशत-ब्राम्हणसूनुभिः ॥ ३६७ ॥
श्री वर्धमानमानम्य संयमं प्रतिपन्नवान् ॥ ३६८-७४ ॥

गौतम स्वामी कहते हैं "इस प्रकार भगवान ने युक्ति पूर्वक जीव का स्वरूप स्पष्ट समझाया। उनके वचनों को द्रव्य हेतु मानकर तथा कालल्ब्धि आदि की सामग्री को प्राप्तकर जीव तत्व का निश्चय हो जाने से मैं श्रद्धावान शिष्य बन गया। इसके पश्चात् सौधर्म स्वर्ग के इंद्र ने मेरी पूजा की। मैंने वर्धमान भगवान को प्रणामकर पांच सौ ब्राह्मण पुत्रों के साथ संयम धारण किया।"

गौतमचरित्र का आख्यान—भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि नहीं खिरने के सम्बन्ध में गौतम चरित्र में इस प्रकार कथन आया है—
"+भगवान वीरनाथ को सिंहासन पर विराजे हुए तीन घण्टे बीत गए

+ याममात्रे व्यतिक्राते सिंहासन प्रसंस्थिते ।
अथ श्री वीरनाथस्य नोऽभवद् ध्वनि-निर्गमः ॥ ७२-४ ॥

तथापि उनकी दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। यह देखकर सौधर्म स्वर्ग के इंद्र ने अवधिज्ञान से विचार विचार किया, कि यदि गौतम आ जाय तो भगवान की दिव्य ध्वनि खिरने लगेगी।

वार्धकं वपुरादाय कम्पमानः पदे पदे।
तदा गौतमशालायां स गतो ब्रह्म-पत्तने ॥ ७४--अध्याय ४ ॥

उस इंद्र ने वृद्ध का रूप बनाया जो, पद पद पर कांप रहा था। वह ब्राह्मण नगर में जाकर गौतम शाला में पहुँचा।

उस अत्यन्त वृद्ध रूप धारी इंद्र ने उस शाला में कहा, यहाँ मेरे प्रश्न का उत्तर देने की सामर्थ्यवान कोई व्यक्ति है? "नर कोऽस्त्य शालायां सत्प्रत्युत्तरदायकः" (७६)। उस वृद्ध ने कहा—

गुरुर्मे म वृषग्राही ध्यानी सर्वार्थसाधकः।
स च मां प्रति नो वक्ति स्वपरकार्यतत्परः ॥ ८० ॥

मेरे गुरु इस समय धर्म कार्य में लगे हैं तथा ध्यान कर रहे हैं। मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध कर रहे हैं। वे स्व तथा पर के उपकार करने में रत हैं, इससे वे मुझे कुछ नहीं कहते हैं।

उस समय गौतम ने पूछा, मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूंगा, तो तुम मुझको क्या दोगे?

उस वृद्ध सुरेन्द्र ने कहा—

तेनोक्तं यदि भो विप्र काव्यार्थं कथयस्यहो।
पुरतो विश्वलोकाना तव शिष्यो भवाम्यहम् ॥ ८१ ॥

हे विप्र। यदि आप मेरे काव्य का अर्थ बता देंगे, तो मैं सब लोगों के समक्ष आपका शिष्य बन जाऊंगा।

उस वृद्ध ने यह भी कहा यदि मेरे काव्य का अर्थ आपसे न बना, तो आपको सर्व शिष्यों सहित मेरे गुरु का शिष्य होना पड़ेगा। गौतम ने वृद्ध की बात स्वीकार की। इस पर वृद्ध ने अपना काव्य पढ़ा:—

धर्मं द्वयं त्रिविधकाल-समग्रकर्म—
षड्द्रव्य-कायसहिताः समयैश्च लेश्याः।
तत्वानि संयम-गती सहिता पदार्थैः
अंग-प्रभेद मनिशं वद चास्ति-कायम् ॥ ६० ॥

धर्म के दो भेद कौन-कौन हैं, तीन प्रकार का काल कौन-कौनसा है? कर्म सब कितने हैं? छह द्रव्य कौन हैं? उनमें काय सहित कौन द्रव्य है? काल किसको कहते हैं? लेश्या क्या है? तत्व कौन कौन हैं? संयम का क्या स्वरूप है? गति कितनी और कौन २ हैं? पदार्थ कौन हैं? अंग क्या हैं? अनुयोग कितने तथा कौन हैं? अस्तिकाय का क्या स्वरूप है?

उस समय गौतम को कोई उत्तर नहीं सूझा, इससे उसने कहा—

गच्छ वो गुरु-सान्निध्य तत्र कृत्वेति निश्चयम्।
जग्मतुस्तौ सुविप्रेशौ विश्वजन - समावृतौ ॥ ६३ ॥

अरे विप्र! तू अपने गुरु के पास चल। वहां पर ही तेरे कथन का निश्चय हो जायगा। इस प्रकार कहकर गौतम अपने भाई तथा पाँच सौ शिष्यों के साथ रवाना हो गया।

मानस्तम्भ का प्रभाव – गौतम ने समवशरण के मानस्तंभ को देखा,

मानस्तम्भ तमालोक्य मान तत्याज गौतमः।
निज-प्रशोभया येन विस्मितं भुवनत्रयम् ॥ ६६ ॥

जिसने अपनी शोभा के द्वारा त्रिभुवन को चकित कर दिया है, उस मानस्तम्भ के दर्शन से गौतम का अभिमान दूर हो गया।

इति विचिंतित तेन मही विस्मयकारिका।
यस्य गुरोरियं भूतिः स किं केनापि जीयते ॥ ६७ ॥

उसने अपने मन में विचार किया जिस गुरु की विश्व को विस्मय में डालने वाली ऐसी विभूति है, भला उसे कौन जीत सकता है?

इसके पश्चात् गौतम अपने साथियों के साथ समवशरण के भीतर गए। वीर भगवान का दर्शन कर गौतम का मन वैराग्यभाव पूर्ण हो गया।

ततो जैनेश्वरीं दीक्षां भ्रातृभ्यां जग्रहे सह।
शिष्यैः पंचशतैः सार्धं ब्राह्मणकुलसंभवैः॥ १०१-४॥

इसके अनन्तर गौतम ने अपने दो भाई तथा पाँच सौ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न शिष्यों के साथ जैनेश्वरी दीक्षा धारण की।

दिव्यध्वनि का खिरना :—

ततो वीरस्य सद्वक्त्रान्निरगात्सत्सरस्वती।
भव्य-पद्म-विकासंती मोहतमः प्रणाशिनी॥ १०६॥

इसके पश्चात् वीरनाथ भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। वह ध्वनि भव्य रूपी कमलों को प्रफुल्लित करती थी और मोहरूपी अंधकार का नाश करती थी।

वर्धमान चरित्र में लिखा है कि महावीर प्रभु के प्रभाव से विप्रराज गौतम ने दीक्षा लेने पर अनेक ऋद्धियां प्राप्त की थीं :—

पूर्वाण्हे दीक्षयामा प्रविमल-मनसा लब्धयो येन लब्धाः।
बुद्ध्यौषध्यक्षयोर्ज - प्रथितरस - तपो - विक्रियाः सप्त सद्यः॥
तस्मिन्नेवाह्नि चक्रे जिनपति - वदन - प्रोद्गतार्थ - प्रपंचां।
सोपांगां द्वादशांग - श्रुतपद - रचनां गौतमः सोऽपराण्हे॥५२ सर्ग १८॥

प्रभातकाल में दीक्षा लेने के पश्चात् इन्द्रभूति मुनिराज के परिणाम अत्यन्त निर्मल हुए, इससे बुद्धि, औषध, अक्षय, बल, रस, तप, विक्रिया रुप सप्त ऋद्धियां उत्पन्न हो गई।

उसी दिन जिनेन्द्र के मुख से उत्पन्न जीवादि पदार्थों का वर्णन सुनकर गौतम गणधर ने अपराह्नकाल में द्वादशांग श्रुतज्ञान के पदों की रचना कर डाली।

गुणभद्र स्वामी का कथन :—इस सम्बन्ध में उत्तरपुराण का कथन इस प्रकार है। गौतम स्वामी स्वयं कहते हैं—"परिणामों की विशेष विशुद्धि होने से उसी समय मुझे सात ऋद्धियां प्राप्त हो गईं। तदनंतर भट्टारक श्री वर्धमान के उपदेश से श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन सवेरे के समय सब अंगों के अर्थ और पद शीघ्र ही अर्थरूप से स्पष्ट ज्ञान पड़े। इसी प्रकार उसी दिन सन्ध्या को अनुक्रम से सर्व पूर्वों के अर्थ और पदों का ज्ञान हो गया।

इत्यनुज्ञात - सर्वांग - पूर्वार्थो धी - चतुष्कवान् ।
अगाना ग्रंथसंदर्भं पूर्वरात्रे व्यधामहम् ॥ ३७१ ॥
पूर्वाणां पश्चिमे भागे ग्रंथकर्ता ततोभवम् ।
इति श्रुतर्द्धिभिः पूर्णोऽभूवं गणभृदादिमः ॥३७२–पर्व ७४॥

इस प्रकार मुझे सब अंग और पूर्वों के अर्थों का ज्ञान हो गया तथा चौथा मनः पर्ययज्ञान भी हो गया। तदनंतर मैंने रात्रि के पूर्वभाग में अंगों को ग्रंथरूप से रचना की और रात्रि के पिछले भाग में पूर्वरूप ग्रंथों की रचना की। इस तरह अंग और पूर्वों से ग्रंथों की रचना कर मैं ग्रंथकर्ता प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार श्रुतज्ञान रूप ऋद्धि से पूर्ण होकर मैं वर्धमान स्वामी का पहिला गणधर हुआ।

तीर्थ की उत्पत्ति का अन्तराल :—इस कथन से तथा जयधवला टीका से यह स्पष्ट होता है कि भगवान महावीर के केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी छयासठ दिन तक धर्मतीर्थ की उत्पत्ति नहीं हुई।

"दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ? गणिंदाभावादो"—उतने दिन तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं उत्पन्न हुई ? गणधर का अभाव होने से दिव्यध्वनि नहीं हुई।

प्रश्न—सौधमेन्द्र ने केवलज्ञान के प्राप्त होने के समय ही गणधर को क्यों नहीं उपस्थित किया ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि काल लब्धि के बिना सौधर्म इन्द्र गणधर को उपस्थित करने में असमर्थ था। उसमें उस समय गणधर को उपस्थित करने की शक्ति नहीं थी।

शंका—जिसने अपने पादमूल में महाव्रत स्वीकार किया है, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्य ध्वनि क्यों नही खिरती है?

उत्तर—ऐसा ही स्वभाव है। और स्वभाव दूसरों के द्वारा प्रश्न करने योग्य नहीं होता है, क्यों कि यदि स्वभाव में ही प्रश्न होने लगे तो कोई भी व्यवस्था नही बन सकेगी। (जयधवला टीका भाग १, पृष्ठ ७६) +

केवली का मौन विहार—हरिवंशपुराण में लिखा है कि बैशाख सुदी दशमी को वर्धमान भगवान ने जृंभक ग्राम में केवलज्ञान प्राप्त किया था, किन्तु उनकी दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। वे प्रभु मौन पूर्वक विहार करते रहे। जहाँ के जीवों का पुण्य तीव्र था, उस स्थान पर वीर प्रभु का विहार हो जाता था, किन्तु दिव्य ध्वनि का लाभ नहीं होता था।

विपुलगिरि का भाग्य—सर्व प्रथम वीर भगवान की दिव्य देशना का आरम्भ राजगृह के पर्वत विपुलाचल पर हुआ था।

आचार्य कहते हैं:—

षट् षष्टि दिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राज-गृहं पुरम् ॥ ६१ ॥

+ सोहिम्मदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो? ण कालसद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो।

सगपादमूलम्मि पडिवण्ण-महव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिस्सिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे? साहावियादो।

ण च सहाओ परपज्जणिओगारुहो, अव्ववत्थावत्तीदो (जयधवला पृ. ७६ भाग १)

आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम् ।
प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥ ६२—२ सर्ग ॥

वे प्रभु छ्यासठ दिन पर्यन्त मौन पूर्वक अनेक स्थानों पर विहार करते हुए विश्व विख्यात राजगृह नगर में पधारे। वे जिनेन्द्र विपुल लक्ष्मी युक्त विपुलगिरि पर जगत् को प्रबोध हेतु चढ़ गए जैसे सूर्य उदयाचल पर आरूढ़ होता है।

गौतम स्वामी की विशेषता—भगवान महावीर प्रभु की दिव्य-ध्वनि इन्द्रभूति गौतम के अभाव में छ्यासठ दिन जैसे लम्बे काल पर्यन्त नहीं खिरी और गौतम का योग प्राप्त होते ही वाणी खिरने लगी, इससे गौतम स्वामी की लोकोत्तर विशेषता व्यक्त होती है।

गौतम को प्राप्त करने में सुरराज सौधर्मेन्द्र को भी कम उद्योग नहीं करना पड़ा। असली रत्न की प्राप्ति हेतु जब महान प्रयत्न लगता है, तब श्रेष्ठ नररत्न को प्राप्त करना कितना न कठिन कार्य होगा? अनेकान्त शासन से पूर्णतया विमुखता धारण करने वाले ब्राह्मण के ऊपर श्रमण संस्कृति के संरक्षण का भार रखने की इंद्र की योजना में क्या रहस्य है?

विचार करने पर प्रतीत होता है गौतम का क्षयोपशम अद्भुत था। वह सत्पुरुष अद्भुत मनोबल तथा इंद्रिय निग्रह की क्षमता सम्पन्न था। उसका तत्व प्रेम भी लोकोत्तर था। महावीर भगवान के सान्निध्य को प्राप्त कर गौतम की समझ में आया, कि सत्य रूप अमृत पीने के लिए उस सत्य विद्या के सिन्धु भगवान का शरण ग्रहण करना श्रेयस्कर होगा; अतः श्रेयोमार्ग-प्रेमी महापुरुष गौतम परिग्रह का त्याग कर श्रमण बने। अद्भुत इंद्रिय विजय और मनोबलादि के प्रसाद से वे ऋद्धियों के स्वामी हो गए।

गौतम स्वामी की एक विशेषता की ओर नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार जीव काण्ड में प्रकाश डाला है।

वीर-मुह-कमल-णिग्गय-सयल-सुयग्गहण-पयडण-समत्थं ।
णमिऊण गोयमहं सिद्धंतालावमणुवोच्छं ॥ ७२८ ॥

मैं वीर भगवान के मुख-कमल से विनिर्गत सकल श्रुतज्ञान को अवधारण करने तथा प्रकाशन करने की क्षमता सम्पन्न गौतम स्वामी को नमस्कार कर सिद्धान्त सम्बन्धी आलाप को कहूँगा।

भगवान की वाणी के रहस्य को समझने की क्षमता उन गौतम स्वामी में थी। इसके सिवाय वे उस महान ज्ञान को प्रकट करने की सामर्थ्य समलंकृत भी थे। ऐसे समर्थ सत्पात्र को प्राप्त करने में दो माह छह दिन का समय बीत गया। यदि ऐसा न होता, तो विपुलाचल का सौभाग्य जृंभक ग्राम के मनोहर वन को प्राप्त होता, जहाँ महर्षि वीर ने कर्मों में वीर रूप से प्रसिद्ध मोहनीय का संहार करने के साथ ज्ञानावरणादि का भी क्षय किया था।

श्रेणिक द्वारा गौतम की स्तुति—महापुराण में राजा श्रेणिक के द्वारा गौतम स्वामी की स्तुति में कहे गए ये शब्द बड़े पवित्र, मधुर तथा अर्थपूर्ण लगते हैं। मगध नरेश श्रेणिक कहते हैं :—

तवोच्छिखाः स्फुरन्त्येता योगिन् सप्त-महर्द्धयः ।
कर्मेन्धन-दहोद्दीप्ताः सप्तार्चिष इवार्चिषः ॥ ६—२ ॥

हे योगिन्! उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आपकी बुद्धि आदि सप्त-ऋद्धियां ऐसी प्रतीत होती हैं, मानो कर्मरूपी ईंधन के जलाने से उद्दीप्त हुई अग्नि की सात शिखाएँ हों।

विपुलगिरि की शोभा—महावीर भगवान के आगमन से विपुलाचल "विपुल विपुलश्रियं"—विपुल श्री का निकेतन हो गया। उस पुण्य शैल का प्रतिबिम्ब श्रेणिक के इन शब्दों में विद्यमान है :—

इदं पुण्याश्रम-स्थानं पवित्रं त्वत्प्रतिश्रयात् ।
रत्नारण्यमिवाभाति तपोलक्ष्म्या निराकुलम् ॥ १०—२ ॥

हे भगवन्! आपके आश्रय से यह पुण्य आश्रम का स्थान पवित्र हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह विपुलगिरि तपोलक्ष्मी का आकुलता रहित रहा वन ही हो।

प्रेम का राज्य—

> अत्रैते पशवो वन्या पुष्टा मृष्टैस्तृणांकुरैः।
> न क्रूर-मृग-संबाधां जानन्त्यपि कदाचन॥ ११॥

यहाँ ये वन के पशुगण मधुर तृणांकुरों के भक्षण से पुष्ट दिखते है। ये क्रूर पशुओं के द्वारा दी गई पीड़ा को तनिक भी नहीं जानते हैं।

> सिंह-स्तनंधयानत्र करिण्यः पाययन्त्यमू:।
> सिंह-धेनु स्तनं स्वैरं स्पृशन्ति कलभा इमे॥ १३॥

ये हथनियां सिंह के बच्चों को इधर दूध पिला रही हैं तथा हाथियों के बच्चे भी सिंहनी का दूध स्वतंत्र होकर पी रहे हैं।

दयावन—यह पद्य कितना मार्मिक तथा मधुर है:—

> तपोवनमिदं रम्यं परितो विपुलाचलम्।
> दयावनमिवोद्भूतं प्रसादयति मे मनः॥ १८-२॥

इस विपुलाचल के चारों ओर का तपोवन बड़ा रमणीय है। यह दयावन के समान दिखता है। इसे देखकर मेरा मन बड़ा आनंदित होता है।

महावीर भगवान का समवशरण विपुलाचल पर आ जाने से वहां का सारा प्रदेश श्रमणों के साम्राज्य के सदृश सुहावना लगता था। इसी से श्रेणिक कहते हैं।

> इमे तपोधनाः दीप्त-तपसो वातवल्कलाः।
> भवत्पादप्रसादेन मोक्षमार्ग मुपासते॥ १८॥

ये महान तपस्वी, दिगम्बर तथा तप रूपी संपत्ति वाले मुनिराज आपके चरणों के प्रसाद से मोक्षमार्ग की उपासना करते हैं।

गणधर की स्तुति—उस समय अनेक मुनीश्वरों ने भी गणधर गौतम की स्तुति प्रारंभ कर दी और कहा—

त्वत्त एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयम् ।
तव पादांघ्रिपच्छायां त्वय्यास्तिक्याद्गुपास्महे ॥ ७६ ॥

आपके द्वारा ही श्रेष्ठ श्रेय का लाभ होगा, ऐसा मानकर ही हम सब आपमें श्रद्धा धारण करते हुए आपके चरण रूप वृक्ष की छाया का आश्रय ग्रहण करते हैं।
मुनीन्द्रों के ये शब्द श्रेष्ठ भक्ति रस से परिपूर्ण हैं :—

वाग्गुप्ते स्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनो गुप्ते स्तव स्मृतौ ।
कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥ ७७--२ ॥

हे प्रभो ! आपकी स्तुति करने से हमारी वचन गुप्ति नही पलती है; आपका स्मरण करने से मनोगुप्ति की हानि होती है तथा आपको प्रणाम करने से कायगुप्ति की हानि होती है। यह हानि हमें सदा इष्ट है; क्योंकि आपका स्तवन, आपका स्मरण तथा आपका नमन हमारे लिए महान कल्याण दायी है।

गौतम स्वामी मनः पर्ययज्ञान समलंकृत थे। श्रेष्ठ अवधि ज्ञान भी उन्होंने प्राप्त किया था। अतः मुनिगण कहते हैं :—

महायोगिन् नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोऽस्तुते ।
नमो महात्मने तुभ्यं नमः स्तात्ते महर्द्धये ॥ ६५ ॥

हे महायोगी ! आपको नमस्कार है। हे महाज्ञानी ! आपको नमस्कार है। हे महात्मन् ! आपको नमस्कार है। हे महर्धिक साधुराज ! आपको नमस्कार है।

नमोऽवधिजुषे तुभ्यं नमो देशावधित्विषे ।
परमावधये तुभ्यं नमः सर्वावधिस्पृशे ॥ ६६ ॥

हे देव ! अवधि धारक आपको नमस्कार हो, देशावधिधारक आपको नमस्कार हो, परमावधि धारक आपको नमस्कार हो, सर्वावधिधारक आपको नमस्कार हो।

गणधर का बल :—जयधवला टीका में गौतम स्वामी की अद्भुत सामर्थ्य कही गई है। "सव्वट्ठ-सिद्धि-निवासि-देवेहिंतो अणंतगुण बलस्स"-उनका सर्वार्थसिद्धि में निवास करने वाले देवों से अनंतगुणा बल है। इस शारीरिक बल के सिवाय उनका मनोबल इतना था, कि वे एक मुहूर्त में द्वादशांग के स्मरण तथा पाठ करने की क्षमता सम्पन्न थे।

भगवान का अचिंत्य प्रभाव : - गौतम स्वामी के अद्भुत आध्यात्मिक जागरण से भगवान महावीर प्रभु का अचिन्त्य प्रभाव व्यक्त होता है। प्रगाढ़ मिथ्यात्वी व्यक्ति भगवान के सानिध्य को प्राप्त कर सम्यक्त्वी जगत् का शिरोमणि बन गया। वीरभक्ति पाठ में लिखा है:-

ये वीर पादौ प्रणमन्ति नित्यं ध्यानस्थिताः संयम-योग युक्ताः।
ते वीतशोका हि भवन्ति लोके संसार-दुर्गं विषमं तरंति॥

जो प्राणी ध्यानावस्थित हो, संयम तथा योग युक्त होकर वीर भगवान के चरणों को निरन्तर प्रणाम करते हैं, वे जगत् में शोक रहित होते हैं तथा संसार की महान विपत्तियों के पार पहुँच जाते हैं।

हरिवंश पुराण में लिखा है, कि भगवान वीरनाथ के समवशरण में इन्द्रभूति गौतम के साथ अग्निभूति, वायुभूति नाम के महाज्ञानी ब्राह्मण विद्वान् भी आए थे। प्रत्येक के पांच, पांच सौ शिष्य थे। वे सब महावीर प्रभु के व्यक्तित्व से प्रभावित हो परिग्रह त्यागी मुनिराज बन गए थे।×

चन्दना का सौभाग्य :—

सुता चेटकराजस्य कुमारी चन्दना तदा।
धौतैकांबर - संवीता जातार्याणां पुरस्सरी ॥ ७० ॥

× इन्द्राग्नि-वायुभूत्याख्याः कौंडिन्याख्याताश्च पंडिताः।
इंद्रनोदनयाऽऽ याताः समवस्थानमर्हतः ॥ ६८ ॥
प्रत्येकं सहिताः सर्वे शिष्याणां पञ्चभिः शतैः।
त्यक्तांबरादि संबंधाः संयमं प्रतिपेदिरे ॥ ६६-२ ॥

महाराज चेटक की पुत्री कुमारी चंदना ने सफेद वस्त्र धारण कर आर्यिकाओं की नायिका का पद प्राप्त किया।

श्रेणिकोपि च संप्राप्तः सेनया चतुरंगया।
सिंहासनोपविष्टं तं प्रणनाम जिनेश्वरम् ॥ ७१ ॥

महाराज श्रेणिक भी चतुरंग सेना सहित भगवान के समवशरण में आये और उन्होंने सिंहासन पर विराजमान भगवान महावीर प्रभु को प्रणाम किया। देवाधिदेव वर्धमान भगवान केवलीरूप में विराजमान थे। बारह सभा के जीव समशरण में भक्ति तथा विनय सहित प्रभु की दिव्यवाणी सुनने को उत्कंठित हो रहे थे। गौतम गणधर का सुयोग प्राप्त हो गया। गुणभद्र स्वामी ने उत्तरपुराण में लिखा है—"कारणद्वय सान्निध्यात् सर्वकार्य समुद्भवः" (सर्ग ६६' ५३)—बाह्य तथा अंतरंग रूप कारण द्वय के प्राप्त होने पर सर्वकार्य उत्पन्न होते हैं।

दिव्यध्वनि की वेला :—श्रावण कृष्णा का प्रभात काल था। अभिजित नक्षत्र था। गौतम स्वामी ने भगवान से पाप का नाश करने वाले तीर्थ का स्वरूप पूछा—"जिनेन्द्रं गोतमो पृच्छन् तीर्थार्थं पापनाशनम्" (८६, २)।

स दिव्यध्वनिना विश्व सशयच्छेदिना जिनः।
दुंदुभिध्वनिधीरेण योजनांतर - यामिना ॥ ६० ॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्याह्नि पूर्वाह्णे शासनार्थ मुदाहरत् ॥ ६१ ॥

विश्व के समस्त संशयों को दूर करने वाली दुंदुभि की ध्वनि के समान गम्भीर दिव्यध्वनि के द्वारा श्रावणमास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के विद्यमान रहते हुए पूर्वाह्ण वेला में भगवान ने शासन का स्वरूप निरूपण किया ?

भगवान अर्थकर्ता हैं—धवला टीका में उद्धृत की गई गाथा में कहा है—

पंचसेल - पुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे।
णाणादुम - समावणो देव - दाणव - वंदिदे ॥ ४२ ॥
महावीरेणत्थो कहिओ भविय - लोयस्स ॥

पंच पहाड़ी वाले राजगृह नगर के पास रमणीय, अनेक वृक्षों से व्याप्त, देव तथा दानवों से वंदित और सर्व पर्वतों में उत्तम विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर ने भव्यजीवों को अर्थ का उपदेश दिया।

तिलोयपण्णत्ति में भी भगवान को अर्थकर्ता— भावश्रुत के कर्ता कहा है। उसमें महावीर भगवान का यह वर्णन ध्यान देने योग्य है:—

जिनका शरीर पसीना, धूलि आदि मल से रहित है, जो लाल नेत्र और परद को दुःख देने वाले कटाक्ष-बाणों का छोड़ना इत्यादि शरीर सम्बन्धी दूषणों से अदूषित हैं, जो वज्र वृषभ संहनन युक्त हैं, समचतुरस्र संस्थान रूप सुन्दर आकृति से शोभायमान हैं, दिव्य और उत्कृष्ट सुगंधि के धारक हैं, जिनके रोम और नख प्रमाण से स्थित हैं, जो भूषण, आयुध, वस्त्र तथा भय से रहित तथा सुन्दर मुखादिक से शोभायमान दिव्य देह से विभूषित हैं, शरीर के एक हजार आठ लक्षणों से युक्त हैं, देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों से सदा विमुक्त हैं, कषायों से रहित हैं, क्षुधादि बाईस परीषहों व रागद्वेष से परित्यक्त हैं, मृदु, मधुर, अति गंभीर और विषय को विशद करने वाली भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवशरण सभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करने वाले हैं, संज्ञी जीवों की अक्षर अनक्षर रूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ छोटी भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दन्त तथा कण्ठ के हलन-चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्यजनों को आनन्द प्रदान करने वाली भाषा के स्वामी हैं, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के द्वारा तथा नारायण, बलभद्र, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि प्रमुख मनुष्य तिर्यंच और अन्य भी ऋषि, महर्षियों से जिनके चरण-कमल-युगल की

पूजा की गई है और जिन्होंने संपूर्ण पदार्थों के सार को देख लिया है, ऐसे महावीर भगवान द्रव्य की अपेक्षा अर्थरूप आगम के कर्ता हैं।" (५६–६४, अध्याय १ ति. प.)

देव और विद्याधरों के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम से प्रसिद्ध पंच शैलनगर में पर्वतों में श्रेष्ठ विपुलाचल पर्वत पर ही वीर जिनेन्द्र क्षेत्र की अपेक्षा अर्थ रूप शास्त्र के कर्ता हुए (६५—१)

पूज्यपाद का कथन :—पूज्यपाद स्वामी रचित निर्वाण भक्ति में लिखा है कि भगवान का उपदेश वैभार पर्वत पर हुआ था। उन्होंने उत्तमक्षमादि दशविध धर्म का मुनियों तथा एकादश प्रतिमा रूप उपदेश श्रावकों को देते हुए तीस वर्ष व्यतीत किए थे।

अथ भगवान्सं प्रापद्दिव्यं वैभारपर्वतं रम्यम्।
चातुर्वर्ण्य – सुसंघ स्तत्राभूद्गौतमप्रभृति ॥ १३ ॥
दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तर तथा धर्मम्।
देशयमानो व्यहरत्त्रिंश द्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः ॥ १५ ॥

भगवान का उपदेश चतुर्वर्ण रूप अर्थात् मुनि–आर्यिका, श्रावक-श्राविका रूप संघ को मुख्यता से प्राप्त होता था। प्रभाचंद्राचार्य ने कहा है; "चातुर्वर्ण्यैः ऋष्यार्यिका – श्रावक – श्राविका लक्षणः स चासौ संघश्च शोभनो रत्नत्रयोपेतः संघः समुदायः सुसंघः" (दशभक्तिटीका पृ. २२४)।

भावश्रुत के कर्ता धवला टीका में भाव की अपेक्षा अर्थकर्ता का इस प्रकार कथन किया गया है, "ज्ञानावरणादि–निश्चय-व्यवहारापायातिशय–जातानंत–ज्ञान–दर्शन-सुख–वीर्य–क्षायिक सम्यक्त्व–दान–लाभ–भोगोपभोग–निश्चय–व्यवहार–प्राप्त्यति–शयभूत–नव – केवल–लब्धि–परिणतः" (पृष्ठ ६३, भाग १)—ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के निश्चय–व्यवहार रूप विनाश-कारणों की विशेषता से उत्पन्न हुए अनन्त–ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक सम्यक्त्व, दान,

लाभ, भोग और उपभोग की निश्चय-व्यवहार रूप प्राप्ति के अतिशय से प्राप्त हुई नव-केवल लब्धियों से परिणत भगवान महावीर ने भावश्रुत का उपदेश दिया।

काल की अपेक्षा अर्थकर्ता का इस प्रकार कथन किया गया है :—

श्रावण कृष्ण-प्रतिपदा के दिन रुद्र मुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित नक्षत्र के प्रथम योग में युग का आरम्भ हुआ, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिए।

दिव्य वाणी का प्रमेय—तीर्थंकर महावीर भगवान के केवलज्ञान के विषयभूत पदार्थों का अनंतवां भाग उनकी दिव्यध्वनि का विषय हुआ था। दिव्यध्वनि गोचर पदार्थों का अनंतवां भाग द्वादशांग श्रुत रूप में निबद्ध हुआ है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है :—

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभावो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥ ३३४ ॥

अनभिलाप्य अर्थात् वाणी के अगोचर तथा केवलज्ञान गोचर पदार्थों का अनंतवां भाग तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि के द्वारा कहा जाता है। उसका अनंतवां भाग द्वादशांग में प्रतिपादित किया गया है।

भगवान की दिव्यध्वनि के द्वारा विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का स्वरूप कहा जाता है। आगम में लिखा है :—

उप्पण्णम्हि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिए णाणे।
णव-विह-पयत्थ-गब्भा दिव्वज्भुणी कहेइ सुत्तट्ठ ॥

छद्मस्थावस्था सम्बन्धी क्षायोपशमिक ज्ञानों के नष्ट होने पर अनंत ज्ञान उत्पन्न होता है।

नव पदार्थ निरूपण—उस समय नव पदार्थ गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थ का कथन करती है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप ये नव पदार्थ हैं। मोक्ष मार्ग में इन नव पदार्थों के यथार्थ अवबोध का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कुन्द-कुन्द स्वामी ने समयसार में लिखा है : -

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण-पावं च।
आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष का भूतार्थ रूप से ग्रहण करना सम्यक्त्व है।

भगवान की दिव्यध्वनि में पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करते हुए शाश्वतिक सुख तथा शान्ति का मार्ग बताया गया है।

सुख का उपाय :—सुख का उपाय समीचीन धर्म का आश्रय ग्रहण करना है। गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन में यह बताया है कि सुख का कारण धर्म है। धर्म के द्वारा सुख की हानि नहीं होती है :—

धर्मः सुखस्य हेतुः हेतुर्न विराधकः स्वकार्यस्य।
तस्मात्सुखभंगभिया माभूर्धर्मस्य विमुखस्त्वम् ॥ २० ॥

धर्म सुख का कारण है। कारण अपने कार्य का विरोधी नहीं होता है, इसलिए तू सुख-नाश के भय से धर्म से विमुख न हो।

उन आचार्य के ये शब्द बड़े अर्थ पूर्ण हैं : --

न सुखानुभवात्पापं पापं तद्धेतुघातकारंभात्।
नाजीर्णं मिष्टान्नात् ननु तन्मात्राद्यतिक्रमणात् ॥ २७ ॥

सुख का अनुभवन करने से पाप नहीं होता है। सुख के हेतु धर्म के घातक आरंभ—हिंसादि अधर्म रूप प्रवृत्ति द्वारा पाप होता है। जैसे - मिष्टान्न के भक्षण से अजीर्ण नहीं होता, किन्तु उसके भक्षण की मात्रा का उल्लंघन करने से अजीर्ण होता है।

धर्म का स्वरूप :—इस धर्म तत्व का प्रतिपादन करने के कारण भगवान जिनेन्द्र को धर्म तीर्थंकर—"धम्मतित्थयरा" कहते हैं। उस धर्म की विविध रूप से व्याख्या की गई है।

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो ।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥ का. अनुप्रेक्षा ॥

वस्तु की स्वाभाविक परणति को धर्म कहते हैं। उत्तम क्षमा मार्दव आदि दश प्रकार के परिणामों को भी धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय को धर्म कहते हैं। जीवों की रक्षा करना भी धर्म है।

आचार्य सोमदेव का कथनः—नीति वाक्यामृत में सोमदेव सूरि ने धर्म का स्वरूप इस प्रकार कहा है "यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" (१) जिसके द्वारा स्वर्गादि का अभ्युदय-सुख तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह धर्म है। यह धर्म की व्यापक परिभाषा है। गृहस्थ दान, पूजा रूप धर्म के द्वारा अभ्युदय पाता है तथा ध्यान, अध्ययन द्वारा मुनि मोक्ष पाते हैं।

कुंदकुंदस्वामी ने रयणसार में कहा है :—

श्रावक तथा श्रमण धर्म —

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मं ण सावया तेण विणा ।
झाणाज्झयणं मुक्खं जइ-धम्मं ण तं विणा तहा सोवि ॥ ११ ॥

दान देना तथा देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान की पूजा करना श्रावकों का मुख्य धर्म है। उनके बिना श्रावक नहीं होता है। ध्यान तथा अध्ययन मुख्यतया यति-धर्म है। उसके बिना उसी प्रकार मुनि नहीं होते।

श्रावक धर्म द्वारा सांसारिक अभ्युदय मिलता है। श्रमण धर्म द्वारा अभ्युदय तथा निर्वाण का लाभ होता है।

महापुराण का कथनः—भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :—

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता ।
स धर्मस्तस्य धर्मस्य विस्तरं शृणु सांप्रतम् ॥ २० — ५ पर्व ॥

दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम् ।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥ २१ ॥

जिससे स्वर्गादि अभ्युदय तथा मोक्ष पुरुषार्थ की निश्चित रूप से सिद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं।

जिसका मूल दया है, वह धर्म है। सम्पूर्ण जीवों पर अनुकम्पा भाव धारण करना दया है। इस दयाभाव की रक्षा के लिए ही अन्य गुण कहे गए हैं।

धर्म के सूचक :—

धर्मस्य तस्य लिंगानि दमः क्षान्ति रहिंसता ।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च ॥ २२ ॥

इन्द्रियों का दमन करना; क्षमाभाव धारण करना, हिंसा नहीं करना, तप करना, सत्पात्रों को दान देना, शील का रक्षण करना, ध्यान तथा वैराग्य ये उस धर्म के चिन्ह हैं।

अग्नि का प्रत्यक्षीकरण न होते हुए धूम रूप चिन्ह को देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है; इसी प्रकार जीव के भाव विशेष रूप धर्म का अनुमान उपरोक्त तपो दानादि द्वारा किया जाता है। कुंदकुंद स्वामी ने शीलपाहुड में लिखा "सीलं विसय-विरागो" (गाथा ४०) विषयों से वैराग्य भाव शील है। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन अत्यन्त मार्मिक है :—

रुव-सिरि-गव्विदाणं जुव्वण-लावण्ण-कंति-कलिदाणं ।
सीलगुण-वज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥ १५ ॥

रूप लक्ष्मी से गर्वयुक्त तथा यौवन के लावण्य और कान्ति से शोभायमान किन्तु शीलरूप गुण से रहित लोगों का मनुष्य जन्म निरर्थक है।

महापुराणकार कहते हैं :—

अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्त – कामता ।
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः ॥ २१ ॥—पर्व ५

अहिंसा, सत्य संभाषण, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह परित्याग ये सब सनातन अर्थात् अविनाशी धर्म कहे गए हैं।

धर्म के फल—धर्म के द्वारा लौकिक समृद्धि भी प्राप्त होती है, इस विषय में भगवज्जिनसेन स्वामी के शब्द ध्यान देने योग्य हैं :—

धर्मादिष्टार्थ - संपत्ति स्ततः काम - सुखोदयः।
स च प्रीतये पुसां धर्मात्सैषा परम्परा ॥ १५ ॥
राज्यञ्च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता।
पांडित्य मायुरारोग्य धर्मस्यैतत्फल विदुः ॥ १६ ॥–५

धर्म से अभीष्ट धन-सम्पत्ति मिलती है, उससे इच्छानुसार सुख का लाभ होता है। उससे मनुष्य हर्षित होता है। धर्म से यह परम्परा चलती है।

राज्य, सम्पत्ति, भोग, सुकुल में जन्म, सुन्दरता, पांडित्य, दीर्घायु तथा नीरोगता ये सब धर्म के ही फल जानना चाहिये।

जिनेन्द्रोक्त धर्म—वरांग चरित्र में महाकवि जटासिंहनंदि धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रकाश डालते हैं :—

प्राप्येत् येन नृ - सुरासुर - भोगभारो।
नाना तपोगुण - समुन्नत - लब्धयश्च ॥
पश्चादतीन्द्रिय सुखं शिवमप्रमेयं।
धर्मो जयत्यवितथः स जिनप्रणीतः ॥ ३ ॥ सर्ग १

जिसके द्वारा मनुष्य, सुर तथा असुरों के भोगों का समुदाय प्राप्त होता है तथा अनेक प्रकार से तपस्या से प्राप्त गुण और वृद्धिंगत ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा अन्त मे अचिन्त्य अतीन्द्रिय सुख तथा मोक्ष प्राप्त होता है, वह जिनेन्द्र भगवान के द्वारा प्रतिपादित समीचीन धर्म जयवंत होता है।

अपूर्व जागरण—गणधरदेव के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने जब धर्म का स्वरूप अपनी मेघगर्जना समान दिव्यध्वनि द्वारा कहा,

उस समय समवशरण के जीवों को अवर्णनीय आनन्द तथा उद्बोधन प्राप्त हुआ। हरिवंशपुराण में लिखा है :—

त्रैलोक्यं संसदि स्पृष्टं जिनार्क वचनांशुभिः।
मुक्त - मोह - महानिद्र मुत्सोत्थित मिवाबभौ ॥ ११२–सर्ग २ ॥

समवशरण में विराजमान सभी जीव जिनेन्द्ररूपी सूर्य की वाणी रूप किरणों के द्वारा मोहरूपी महान निद्रा से मुक्त हुए और वे ऐसे शोभायमान होते थे, मानों गहरी नींद लेकर जगे हों।

यथार्थ में अनादिकालीन मोह निद्रा के कारण यह जीव पर-पदार्थों को अपनाता था। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में संसारी जीवों की मूढ़ता पर इस प्रकार प्रकाश डाला है :—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्राः मित्राणि शत्रवः।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु जीव से सर्वथा भिन्न स्वभाव हैं, किन्तु मूढ़ प्राणी उन्हें अपना मानता है। वह इस तत्त्व को भूल जाता है; कि मैं अकेला हूँ। मैं अकेला जन्म धारण करता हूँ, अकेला मरण को प्राप्त होता है। कोई भी मेरा न मित्र है, न शत्रु है—"एक एव जायेहं, एक एव म्रिये, न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा" (सर्वार्थसिद्धिः)।

महावीर प्रभु की विपुलाचल पर दी गई प्रथम धर्मदेशना को सुनकर जीवों के ज्ञान नेत्र खुल गए। उनकी मिथ्याभाव जनित अंधियारी दूर हो गई। उन्हें ज्ञानमय आत्मा के यथार्थस्वरूप का अवबोध हुआ। इसी कारण हरिवंश पुराणकार आचार्य कहते हैं, कि श्रोताओं को ऐसा लगा, कि जिनेन्द्र सूर्य की किरणों से मोह निद्रा दूर हो गई।

जिनवचन रूप अमृत—तीर्थंकर भगवान की दिव्यध्वनि के श्रवण द्वारा भव्यजीवों को आन्तरिक सुख मिलता है, उसकी तुलना

या कल्पना भी नहीं की जा सकती। समवशरण में विद्यमान रहने का तथा उस दिव्यवाणी को सुनने का जिन्हें प्रत्यक्ष सौभाग्य प्राप्त होता है, वे ही उसको जानते हैं। दूसरा व्यक्ति उस श्रेष्ठ आनन्द की क्या कल्पना करेगा? स्वामी समंतभद्र स्वयंभूस्तोत्र में अर-जिनेन्द्र के स्तवन में कहते हैं :—

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषा स्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत् प्राणिनो व्यापि संसदि ॥ ६६ ॥

हे भगवन्! सर्व भाषाओं रूप परिणमन की सामर्थ्ययुक्त और समवशरण में व्याप्त हुआ आपका आध्यात्मिक लक्ष्मीयुक्त वचनरूप अमृत प्राणियों को उसी प्रकार आनन्द प्रदान करता है, जिस प्रकार अमृतरस के पान द्वारा जीव सुख को प्राप्त करते हैं।

संयमभाव की जागृति—उस वीरवाणी ने लोगों के हृदय में संयम का अपार प्रेम जगा दिया।

संसारभीरवः शुद्ध - जाति - रूप - कुलादयः।
सर्व - सग - विनिर्मुक्ताः शतशः प्रतिपेदिरे ॥ १३२ ॥—२

संसार परिभ्रमण से भयभीत हुए शुद्ध जाति सुरूपता तथा उच्च कुलादि सामग्री सम्पन्न सैकड़ों पुरुषों ने सम्पूर्ण परिग्रह का त्यागकर महावीर भगवान के समान जिनरूपता धारण की।

सम्यग्दर्शन - सशुद्धा शुद्धैकवसनावृताः।
सहस्रशो दधुः शुद्धा नार्यस्तत्रार्यिकाव्रतम् ॥ १३३ ॥

सम्यग्दर्शन की निर्मलतायुक्त, शुद्ध एक वस्त्र को धारण करने वाली हजारों विशुद्ध चरित्र वाली स्त्रियों ने आर्यिका के व्रत धारण किए थे।

जिनकी सामर्थ्य अल्प थी, उन्होंने भी उस त्याग की गंगा में अपने मन को धोने में कमी नहीं की। आचार्य कहते हैं :—

पंचधाऽणुव्रतं केचित् त्रिविधं च गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतं चतुर्भेदं तत्र स्त्री-पुरुषाः दधुः ॥ १३४ ॥

किन्हीं नर-नारियों ने पंचाणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत इस प्रकार द्वादशव्रतों को स्वीकार किया था ।

तीर्थंकर भगवान के अद्भुत प्रभाव की कौन व्यक्ति कल्पना कर सकता है, कि पशुओं के कोठे में बैठे हुए हाथी, सिंह, गाय, वानर, सर्प, नकुल, तोता, मयूर आदि अगणित तिर्यंचों ने भी पापों का त्यागकर व्रतों को स्वीकार किया था।

देव पर्याय में संयम धारण नहीं हो सकता, अतः जिनवाणी से प्रकाश प्राप्त कर उन्होंने सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया तथा जिनेन्द्र की पूजा में विशेष प्रेमभाव धारण किया था। हरिवंश पुराण के शब्द इस प्रकार हैं :—

पशुओं का त्यागभाव : —

तिर्यंचोपि यथाशक्ति नियमेष्वव — तस्थिरे ।
देवाः सद्दर्शन - ज्ञान - जिनपूजासु रेमिरे ॥ १३५–२ ॥

भगवान की वाणी ने महौषधि का कार्य किया। जहाँ मोह के इशारे पर नाचने वाला पापी जीव संयम से शत्रुता धारण करता हुआ असंयम भाव में अभिमान करता है तथा विषयों में तीव्र आसक्ति-वश, दुर्गति गमन की सामग्री इकट्ठी करता फिरता है, वहां एक तीर्थंकर के निमित्त को पाकर संयमियों के एक नवीन जगत का निर्माण हो गया था।

तीर्थंकर के निमित्त का प्रभाव—जो निमित्त कारण को व्यर्थ सोचते हैं, वे हृदय से विचारें कि महावीर भगवान रूप महान निमित्त को प्राप्तकर जीवों ने कितना कल्याण नहीं किया ? यदि भगवान ने धर्म देशना न दी होती, तो कौन प्राणी व्रतादि धारण करता ? अभी छयासठ दिन पर्यन्त भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी, इससे वह अद्भुत

संयम प्रेम का चमत्कार नहीं दिखा, जो दिव्यध्वनि प्रगट होने पर हुआ। अतः जो एकान्तवादी निमित्त कारण को तुच्छ मानते हैं, उन्हें आगम तथा अनुभव के प्रकाश में विवेकपूर्ण सुधार करना चाहिए।

वरांग चरित्र में लिखा है :—

> दीपं विना नयनवानपि संदिदृक्षु-
> र्द्रव्यं यथा घट-पटादि न पश्यतीह ॥
> जिज्ञासुरुत्तममति र्गुणवांस्तथैव ।
> वक्ता विना हितपथं निखिलं न वेत्ति ॥ ६—सर्ग १ ॥

जैसे नेत्रयुक्त व्यक्ति देखने की इच्छा धारण करता हुआ भी घट, पटादि पदार्थों को प्रदीप के अभाव में नहीं देखता है, उसी प्रकार उत्तम बुद्धि वाला तथा जानने की इच्छा युक्त भी व्यक्ति वक्ता के उपदेश के बिना ठीक रीति से कल्याण का मार्ग नहीं जान पाता है।

गौतम स्वामी का पवित्र कार्य—भगवान की वाणी सुनकर गणधर ने अपनी उच्च प्रतिष्ठा तथा महत्ता के अनुरूप क्या कार्य किया, यह हरिवंशपुराणकार इस प्रकार कहते हैं :

> अथ सप्तर्धि-संपन्नः श्रुत्वार्थं जिनभाषितम् ।
> द्वादशांग-श्रुतस्कन्ध सोपांगं गौतमो व्यधात् ॥ १११—१ ॥

सप्तऋद्धिधारी गौतम स्वामी ने जिन भगवान के कथन को सुनकर परिपूर्ण द्वादशांग रूप श्रुतस्कन्ध की रचना की।

द्रव्यश्रुत के कर्त्ता - धवला टीका में वीरसेन आचार्य ने लिखा है, "इस प्रकार केवलज्ञान से विभूषित उन महावीर भगवान के द्वारा कहे गए अर्थ को, उसी काल में, उसी क्षेत्र में क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न हुए चार प्रकार के निर्मल ज्ञान से युक्त, वर्ण से ब्राह्मण, गौतम गोत्री, सम्पूर्ण दुःश्रुति में पारंगत और जीव-अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिए श्री वर्धमान के पादमूल में उपस्थित हुए ऐसे इन्द्रभूति ने अवधारण किया। कहा भी है —

गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि ।
णामेण इंदभूदि त्ति सीलवं वम्हणुत्तमो ॥ ३१ ॥

गौतम गोत्री, विप्रवर्णी, चार वेद तथा षडंग दर्शन शास्त्रों का ज्ञाता, शीलवान, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ इन्द्रभूति गणधर प्रसिद्ध हुआ। "पुणो तेणिंदभूदिणा भाव-सुद-पज्जय-परिणदेण बारहंगाणं चोद्दस-पुव्वाणं च गंथाणमेक्केव चेव मुहुत्तेण कमेण रयणा कदा। तदो भाव-सुदस्स अत्थपदाणं च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादोसुद-पज्जाएण गोदमो परिणदोत्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति" (पृ० ६५ धवला टीका भाग १)—अनंतर भावश्रुतरूप पर्याय से परिणत उस इंद्रभूति ने बारह अंग और चौदहपूर्व रूप ग्रन्थों की एक ही मुहूर्त में क्रमसे रचना की। अतः भावश्रुत और अर्थ पदों के कर्ता तीर्थंकर हैं। तीर्थंकर के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए; इसलिए द्रव्य श्रुत के कर्ता गौतम गणधर हैं। इस प्रकार गौतम गणधर से ग्रंथ रचना हुई।

गौतम का वाच्यार्थ—जिनेन्द्रवाणी के पूर्व रहस्य को जानने के कारण गौतम स्वामी का नाम सार्थक हो गया।

महापुराण में लिखा है :—

गोतमा गौप्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञ-भारती।
तां वेत्सि तामधीषे च त्वमतो गौतमो मतः ॥ ५२-२ ॥

उत्कृष्ट वाणी को गोतम कहते हैं। वह उत्कृष्ट वाणी सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि है, उसे आप जानते हैं, अथवा उसका अध्ययन करते हैं, अतः आप गौतम माने गए हैं (श्रेष्ठा गौ गोतमा, तामधीते वेद वा गौतमः)

आचार्य जिनसेन स्वामी यह भी कहते हैं :—

इन्द्रेण प्राप्त पूजर्द्धि-रिद्रभूति स्त्वमिष्यसे।
साक्षात्सर्वज्ञ पुत्रस्त्व माप्त संज्ञान-कंठिकः ॥ ५४ ॥ २ ॥

आपने इंद्र द्वारा पूजा रुप विभूति को प्राप्त किया है, इससे आप इंद्रभूति हैं। आपको सम्यक्ज्ञान रूपी कण्ठाभरण प्राप्त हुआ है, अतः आप सर्वज्ञ वर्धमान भगवान के साक्षात् पुत्र सदृश हैं।

आचार-धर्म का महत्व—ऐसे विभूतिमान श्रेष्ठ साधु शिरोमणि गौतम स्वामी ने भगवान महावीर प्रभु की दिव्यध्वनि का सम्यक् प्रकार से अवधारण कर द्वादशांग की रचना की। उन्होंने द्वादशांगों की रचना में प्रथम स्थान आचार सम्बन्धी अंग को दिया, जिससे यह स्पष्ट होता है, कि उनकी दृष्टि में आचार का बहुत बड़ा मूल्य था और वे 'चारित्तं खलु धम्मो' के सिद्धान्त को प्रमुखता प्रदान करते थे।

महामुनि कुन्द-कुन्द स्वामी ने प्रवचनसार रुप जिनागम के सार को कहने वाले ग्रंथ में कहा है:—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥ ७-अ० १॥

वास्तव मे चारित्र धर्म है। जो धर्म है वही साम्य भाव कहा गया है। मोह तथा क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य भाव है। टीकाकार अमृतचंद्र सूरि ने लिखा है "स्वरुपे चरणं चारित्रं, स्वसमय-प्रवृत्ति रित्यर्थः"—स्वरूप में आचरण करना चारित्र है अर्थात् स्वसमय रूप प्रवृत्ति करना चारित्र है। "तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः" वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। गौतम स्वामी ने महावीर भगवान की वाणी के रहस्य को जानकर प्रथम अंग का नाम आचारांग रखा, उसी प्रकार जिनागम के रहस्य को प्रवचनसार नाम देते हुए कुन्द-कुन्द स्वामी ने भी गणधर के पद चिह्नों का अनुकरण किया। ऐसी स्थिति में महर्षि कुन्द-कुन्द के आध्यात्मिक विवेचन की ओट में जो शिथिलाचार पोषण का कुचक्र चलाते हैं, वे कुन्दकुन्द स्वामी के भक्त हैं या नहीं यह ज्ञानवान व्यक्ति सहज ही सोच सकता है।

ज्ञान और संयम का संगम—कुन्द कुन्द स्वामी ने सकल संयम का शरण ग्रहण किया था। उनका जीवन संयम के रस से परिपूर्ण था।

उनकी वाणी संयम की दिव्य ज्योत्स्ना से शोभायमान होती थी। रयणसार की यह गाथा एकान्त विचारों पर वज्रपात करती हुई संयम को उचित प्रतिष्ठा प्रदान करती है। उनके शब्दों में कितना बल है और उनका तर्क कितना सप्राण है यह विचारवान व्यक्ति स्वयं सोच सकता है।

णाणी खवेइ कम्मं णाणबलेणेदि सुबोलए अण्णाणी।
विज्जो भेसज्जमहं जाणे इदि णस्सदे वाही ॥ ७२ ॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है, ऐसा प्रतिपादन करने वाला व्यक्ति अज्ञानी है। मैं वैद्य हूँ, मैं औषधि जानता हूँ केवल ऐसा कहने वाले व्यक्ति का क्या रोग दूर हो जाता है? कभी नहीं। औषधि के ज्ञान के साथ उसका सेवन आवश्यक है। इसी प्रकार मोक्ष मार्ग के ज्ञान के साथ सम्यक् आचरण भी अनिवार्य है।

आगम में आचारांग को प्रथम स्थान क्यों?—द्वादशांगवाणी में आचारांग को प्रथम स्थान क्यों दिया गया है इस पर गोम्मटसार जीवकाण्ड की संस्कृत टीका में ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, "चतुर्ज्ञान-सप्तर्धि संपन्न गणधर देवैः तीर्थंकर मुखसरोज-संभूत-सर्वभाषात्मक-दिव्यध्वनि-श्रवणा-वधारित-समस्त शब्दार्थैः शिष्य-प्रशिष्यानुग्रहार्थं विरचित-श्रुतस्कंध-द्वादशांगना मध्ये प्रथममाचारांग विरचितम्। आचरंति समंततोऽनुतिष्ठंति मोक्षमार्ग-माराधयंति अस्मिन अनेनेति वा आचारः तस्मिन् आचारांगे।"

चार ज्ञान तथा सप्त ऋद्धि के धारक गणधर देव के द्वारा तीर्थंकर के मुख-कमल से उत्पन्न जो सर्व-भाषात्मक दिव्यध्वनि है, उसके सुनने से जो अर्थ का अवधारण किया उससे शिष्यों, प्रशिष्यों के अनुग्रह हेतु द्वादशांग रूप श्रुत की रचना की, उसमें सर्व प्रथम आचारांग की रचना की थी। आचार का अर्थ है समस्तरूप से जिसमें या जिससे मोक्षमार्ग की आराधना की जाती है। आचारांग में उसका निरुपण है।

प्रश्न—यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है "अत्र द्वादशांगेषु प्रथमाचारांगं कथितं, कुतः ?"—यहाँ द्वादशागों में आचारांग का पहले निरूपण किया गया है, इसका क्या कारण है ?

यह प्रश्न विशेष महत्वास्पद है, क्योंकि असंयम प्रेमी चाहता है कि उसकी इच्छानुसार आत्म तत्व की कथनी की जानी चाहिए थी, उस आत्मोपलब्धि के होने पर ही संयम का मूल्यांकन होता है। गणधर देव महाज्ञानी थे। सर्वावधि ज्ञान के द्वारा परमाणुओं को भी प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण करते थे। वे विपुलमति मनः पर्ययज्ञानी भी थे। संपूर्ण निर्ग्रन्थों के शिरोमणि थे। उन्होंने भगवान की वाणी का रहस्य निबद्ध करते समय आत्म तत्व के निरूपण करने वाले आत्म प्रवाद को अंग साहित्य का मुख्य अंग न बनाकर सातवें पूर्व में रखा है।

आत्म तत्व की उपेक्षा और कोई करता, तो उसे अज्ञानी कहा जाता, किन्तु यहाँ तो सम्यग्ज्ञानियों के चूड़ामणि की बात है, जिनका अन्तःकरण रत्नत्रय की ज्योति से देदीप्यमान हो रहा है, जिनकी महत्ता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है, कि लाखों पुराने जैनधर्मियों के होते हुए भी वीर प्रभु की धर्म देशना दो माह छह दिन पर्यन्त नहीं हुई और इन के वीर प्रभु के शरण में आते ही दिव्यध्वनि रूप अमृत रस की वर्षा प्रारंभ हो गई। भगवान गौतम स्वामी ने समयसार के प्रतिपादन को प्रथम स्थान क्यों नहीं दिया ? क्या संयम का उपदेश पहिले देना उन महाप्रभु को प्रथम इष्ट था ? एक बात और है, द्वादशांग गणधरदेव की स्वतंत्र कृति नहीं है; वे वीर प्रभु की वाणी रूप प्रवचन के सार रूप है, अतः आचारांग का प्रथम कथन विशेष रहस्य रूप होना चाहिए।

समाधान—उक्त प्रश्न उत्तर में जो कथन किया गया है, वह गंभीर है तथा मार्मिक भी। 'मोक्ष-हेतुभूत-संवर-निर्जराकारण-पंचाचारादि-सकलचारित्र-प्रतिपादकत्वेन मुमुक्षुभिराद्रियमाणस्य मोक्षांगभूतस्य

परमागमशास्त्रस्य प्रथमोवक्तव्यत्वस्य युक्तिसिद्धत्वात्" (जीवकाण्ड गो० संस्कृत टीका पृ० ७६०)

मुमुक्षु का आदर पात्र चारित्र शास्त्र— मोक्ष में कारण रूप संवर, निर्जरा हैं। उनके कारण सकल चारित्र रूप पंचविध आचारादि के प्रतिपादक होने से मुमुक्षुओं अर्थात् मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के द्वारा आदर को प्राप्त मोक्ष के अंगभूत परमागम शास्त्र का पहले निरूपण करना युक्तियुक्त है।

मुमुक्षु के लिए प्राप्तव्य मोक्ष है। उसके साधन संवर तथा निर्जरा कहे गए है। उनका कारण सकल चारित्र है। अतः मोक्ष के कारण का कारण रूप शास्त्र का सर्व प्रथम प्रतिपादन करना पूर्णतया उचित है।

विशेष हेतु :—एक बात और विचारणीय है। गौतमस्वामी अपने दिव्यज्ञान से चारित्र तथा संयम का पुण्य फल प्रत्यक्ष देख रहे है। पुरुरवा भील ने थोड़ा सा त्याग किया था। उसके पास न सम्यक्त्व था, न सम्यग्ज्ञान था। थोड़े से व्रत के प्रसाद से उस जीव का विकास प्रारंभ हुआ और वही अंत में तीर्थंकर महावीर बन गया।

खदिरसार भील भी मुनिराज के निमित्त से थोड़ा सा पाप त्यागकर प्रमुख सभा-नायक राजा श्रेणिक हुआ और आगामी उत्सर्पिणीकाल में महापद्म नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा। जिस आचार का यह चमत्कार गौतमस्वामी अपने समक्ष प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उसकी महत्ता को वे कैसे भुला सकते हैं? जब गौतम स्वामी उस आचार को महत्वपूर्ण मान प्रथम अंग का नाम आचारांग रखते हैं, तब कौन विवेकी आचार का उचित मूल्यांकन न करेगा, और उसके विपरीत स्वच्छन्दता का पोषक प्रतिपादन कर कलंक का पात्र होगा?

प्रश्न :—सम्यक्त्व की ओट में स्वच्छन्द जीवन का पोषण करने में संलग्न कोई व्यक्ति यह कहने को तत्पर होता है कि हम भी संयम तथा आचार को समुचित आदर प्रदान करने को अपना कर्त्तव्य

मानते हैं, किन्तु वह संयम तथा आचार सम्यक्त्व की ज्योति से आलोकित होना चाहिए। सम्यक्त्व से रहित आचार का कोई स्थान नहीं है।

समाधान :– ऐसे व्यक्तियों को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि अन्तरंग परिणाम किस जीव के किस समय कैसे रहते हैं, यह केवली भगवान, मनःपर्यय ज्ञानी अथवा परमावधि, सर्वावधि ज्ञानी यतीश्वर के सिवाय दूसरा व्यक्ति नहीं जान सकता है। ऐसी स्थिति में सामान्य गृहस्थ तथा अन्य लोग बाह्य आचार के आधार से योग्य आदरदानादि कार्य करेंगे। इसके सिवाय अन्य मार्ग नहीं है।

महत्व की बात :—एक बात और विचारणीय है, भगवान के समवशरण में पहले कोठे में गणधरदेव तथा मुनीश्वर विराजमान रहते हैं। ग्यारहवें कोठे में मुनिराज के सिवाय इतर मनुष्य रहते हैं। मनुष्यों में व्रती, अव्रती, द्रव्य श्रावक, भाव श्रावक सभी प्रकार के लोग शामिल रहते हैं। इसी प्रकार मुनियों के कोठे में अन्तरंग परिणामों की अपेक्षा प्रमत्त संयतादि ऋषिगण रहते हैं, तथा ऐसे भी मुनिराज होते हैं, जिनकी मुद्रा मात्र दिगम्बर जैन साधु की है। यदि वे मुनियों के कोठे में स्थान नहीं पायेंगे, तो किस कोठे में उन्हें स्थान मिलेगा? परिणामों के अद्भुत परिवर्तन क्रम के अनुसार द्रव्य लिंगी भावलिंगी बनता है और कभी भावलिंगी द्रव्यलिंगी हो जाता है। अतः द्रव्यचारित्र को देखकर ही योग्य आदर किया जायगा।

यथार्थ में बात यह है कि लोक व्यवस्था, लोक व्यवहार आदि में अन्तरंग मनोवृत्ति को आधार भूमि बनाकर कार्य संपादक करना असंभव है, अतः द्रव्याचरण को मुख्य मानकर ही बाह्य विनयादि कार्य किये जाते हैं। विवेकी तथा पवित्र मनोवृत्ति वाला व्यक्ति अपने उज्ज्वल भावों के अनुसार सुफल को प्राप्त करता है।

जब चैतन्य विरहित पाषाणादि की मूर्ति को साक्षात् जिनेन्द्र मानकर आराधना करने वाला व्यक्ति आत्म विकास के क्षेत्र में प्रगति

करता है, तब सचेतन प्राणी में योग्य आगमोक्त द्रव्याचरण देखकर उनको वास्तविक श्रमण मानकर शास्त्रानुकूल समादर प्रदान करने वाला क्यों आत्म कल्याण से वंचित रहेगा ? समवशरण में मुनियों के कोठे में विराजमान सभी साधुओं को देव, इन्द्र, मानवादि नमस्कार करते हैं। वहाँ द्रव्य संयम पालन ही द्रव्य रूप से आदर का हेतु बनता है।

सदाचार का महत्व :—द्रव्य आचरण भी अपना स्थान रखता है। किसान खेत में बीज बोने के पूर्व खेत को ठीक बनाने में लगा रहता है। हल चलाकर वह मिट्टी को तैयार करता है। भूमि योग्य बनने पर योग्य काल में डाला गया बीज कालान्तर में सुफल प्रदान करता है, इसी प्रकार आरंभ में सदाचरण का अभ्यास करते करते जब जीवन सुसंस्कृत हो जाता है, तब आत्मा विकारों के उपशान्त होने पर आत्मनिधि को प्राप्त कर लेता है; जैसे बार-बार स्वच्छ किया गया दर्पण आत्म प्रतिबिम्ब दर्शन में कारण बन जाता है।

आत्म विकास का प्रथम चरण आचरण :—उचित करुणापूर्ण तथा संयमी जीवन आत्मोत्थान का आद्य चरण है। वह सामग्री जिसके पास नहीं है, वह आत्म विकास के क्षेत्र में कैसे प्रगति करेगा ? जिस व्यक्ति को साधारण से सरोवर में तैरना नहीं आता है तथा जो तैरने से डरता है, वह क्या समुद्र के भीतर घुसकर समुद्रतल में विद्यमान रत्नों को लाने की अद्भुत कुशलता दिखा सकता है ?

जो इतना कमजोर मनोवृत्ति वाला है, कि कागज के शेर को देखकर मूर्छित हो जाता है, वह क्या केसरी सिंह को पकड़कर उसके ऊपर सवारी कर सकेगा ? इसी प्रकार जो भोग तथा विषयों का भयंकर दास बन रहा है, तथा शरीर की गुलामी में फंसकर बहाना बना सदाचार पालन से जो चुराता है, वह हतभाग्य क्या चिंतामणि रत्न से भी बढ़कर आध्यात्मिक निधि का अधीश्वर बन सकेगा ? कदापि नहीं।

जिस अविवेकी के चित्त में किसी भी संयमी को देखकर आदर तथा विनय भाव के स्थान में ग्लानि, घृणा, विद्वेष अथवा तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है, उस मान के पहाड़ पर चढ़े व्यक्ति के पास सम्यक्त्व स्वप्न में भी नहीं आयेगा। अहंकार तो ऐसी अग्नि है, जो सम्यक्त्व तथा संयम रूपी श्रेष्ठ उपवन का सर्वनाश कर डालती है।

अतः प्रत्येक सच्चे मुमुक्षु को अधिक प्रयत्न कर संयम तथा नियमादि के द्वारा अपने जीवन को सुसज्जित करना चाहिए। आचार संबंधी शास्त्रों का सदा स्वाध्याय करना चाहिये। सदाचारी का विनय करना चाहिये। द्रव्याचरण तथा उज्ज्वल लेश्या वाला द्रव्य लिंगी दिगम्बर साधु ग्रैवेयक के अन्त तक जाता है, किन्तु संयम रहित ऐलक का भी पद धारण करने वाला श्रावकोत्तम सम्यक्त्वी सत्पुरुष देशसंयमी होने के कारण सोलहवें स्वर्ग से ऊपर नहीं जा सकता। श्रेष्ठ तप करती हुई आर्यिका से भी आगे सम्यक्त्व रहित परिग्रह का परित्यागी ग्रैवेयक को प्राप्त करता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्याचरण सर्वथा शून्य के समान नहीं है। उसकी भी अपनी सामर्थ्य है। दिगम्बरजैन-धर्म भाव और द्रव्य दोनों के सुमधुर संगम के द्वारा निर्वाण पद का लाभ मानता है।

बाह्य त्याग – कुन्द-कुन्द स्वामी ने लिखा है कि बाह्य त्याग के बिना मोक्ष नहीं मिलता है। सूत्र पाहुड में लिखा है :—

वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी है तो वह मोक्ष नहीं प्राप्त करता है। दिगम्बरत्व मोक्ष का मार्ग है। उसके सिवाय अन्य उन्मार्ग हैं। ऐसा जिनवाणी का कथन है।

इस कथन के होते हुए भी यदि कोई द्रव्याचरण का एकान्ती बन जाय, तो उसके भ्रम को दूर करते हुए महर्षि कुन्द-कुन्द भावपाहुड में कहते हैं, "कम्म पयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण" ।५४। कर्मों के समूह का क्षय द्रव्य तथा भाव लिंगों के समन्वय द्वारा संपन्न होता है।

ऐसी स्थिति में आत्म कल्याण के प्रेमी को एकान्त पक्ष को छोड़कर समन्वय रूप पद्धति को शिरोधार्य करना चाहिए।

आचार का महत्व—समवशरणस्थ श्रमणों के शिरोमणि गौतम गणधर ने द्वादशांगों में प्रथम अंग का नाम आचारांग रखकर यह स्पष्ट कर दिया कि तीर्थंकर महावीर भगवान की दृष्टि में तथा स्वयं उनकी भी दृष्टि से आत्म हितार्थ आचार का बड़ा मूल्य है।

आचार के आश्रय से भोग तथा विषयों से मन विरक्त होता है। उससे चित्त की मलिनता दूर होती है। आत्मा कल्याणकारी विचारों में लगने लगता है। अभ्यास करते-करते निकट भव्य जीव को शीघ्र ही असली रत्नत्रय की प्राप्ति हो जाती है।

आगम में लिखा है कि कर्म भूमिया मनुष्य आठ वर्ष अंतर्मुहूर्त के उपरान्त सम्यक्त्व ग्रहण का पात्र बनता है तथा संयम का अधिकारी होता है, फिर भी उस बालक के पूर्व से ही विविध प्रकार के संस्कारों का वर्णन आगम में किस हेतु किया गया है ? आगम में उन संस्कारों को इसलिए आवश्यक कहा गया है कि उनके द्वारा आगामी जीवन उज्ज्वल बनता है। भगवज्जिनसेन स्वामी ने द्वादशांग वाणी के आधार पर तिरेपन क्रियाओं का पालन भव्यों के लिए हितकारी कहा है। वे कहते हैं-

इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया-गर्भादिकाः सदा।
भव्यात्मभिरनुष्ठेयाः त्रिपंचाशत्समुच्चयात् ॥ ३१०-पर्व ३८ ॥

इस प्रकार गर्भ से निर्वाण पर्यन्त तिरेपन क्रियाएं हैं। उन्हें भव्यों को सदा पालना चाहिए।

भ्रम निवारण—भ्रमवश कोई-कोई ऐसा सोचते हैं, कि इन क्रियाओं की कल्पना जिनसेन स्वामी की स्वयं की सूझ थी; किन्तु आगम का अभ्यास यह बताता है कि यह जैनागम की अंगरूप वस्तु रही है।

द्वादशांग का अंश—गुरु परंपरा से सातवें उपासकाध्ययन अंग का ज्ञान अंश रूप से भगवज्जिनसेन स्वामी को भी प्राप्त हुआ था, उसके

आधार पर उन्होंने ये संस्कार रूप क्रियाएं कही थीं। उन महान धर्माचार्य के ये शब्द ध्यान देने योग्य है :—

श्रंगानां सप्तमादंगाद् दुस्तरादर्णवादपि।
श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलव मया॥ ५४-पर्व ३८॥

सातवां उपासकाध्ययन नामका अंग समुद्र के समान दुस्तर है। उसका जो ज्ञान-लव-ज्ञान का अंश मुझे प्राप्त हुआ है, उसे मैं आठ श्लोकों द्वारा कहता हूँ।

महापुराणकारने उन आठ श्लोकों में तिरेपन क्रियाओं के नाम गिनाए है। बाल्य जीवन पर पवित्र संस्कार डालने के लिए गर्भाधान क्रिया के पश्चात् जब बालक तीन माह का होता है, तब प्रीति नाम की क्रिया की जाती है। पांचवें माह में सुप्रीति क्रिया, सातवें माह में धृति क्रिया, नवमें माह में मोद क्रिया, तदनन्तर प्रियोद्भव नाम की जातकर्म विधि कही गई है। इसके विषय में महापुराणकार कहते है :—

अवान्तर विशेषोऽत्र क्रिया-मन्त्रादिलक्षणः।
भूयान् समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः॥ ८६-३८॥

इस क्रिया सम्बन्धी क्रिया, मंत्रादि के अनेक अवान्तर भेद कहे गए है, जिनका स्वरूप मूलभूत उपासकाध्ययनांग से अवगत करना चाहिये। जन्म के द्वादश दिन पश्चात् नाम कर्म विधि देवपूजादि पूर्वक कही गई है। "द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्म-दिनान्मतम्"॥ ८७॥ दो तीन माह अथवा जन्म से तीन चार माह पश्चात् शुभ मूहूर्त में बालक को बाहर लाकर बहिर्यान क्रिया करना चाहिए। उस समय बालक को कुटुम्बी जन धनादि देते हैं।

नवमीं क्रिया का नाम है निषद्या क्रिया। इस क्रिया में शिशु को सिद्ध भगवान की पूजा आदि विधि के पश्चात् उत्तम आसन पर बैठाते हैं। इस क्रिया का अर्थ यह है कि आगामी यह बालक दिव्य आसन पर बैठने की योग्यता को प्राप्त करे "यतो दिव्यासनार्हत्वं अस्य स्यादुत्तरोत्तरम्"।

जब शिशु सात आठ माह का हो जावे, तब जिनेन्द्र भगवान की पूजादि पूर्वक बालक को अन्नप्राशन-अन्न खिलाना चाहिये। आजकल प्रायः बालक निरन्तर रोगाकुल रहता है; तथा उसे शुद्ध अशुद्ध का बिना विचार किए औषधि खिलाकर लीवर आदि की बीमारियों से कष्टपूर्वक बचाया जाता है; फिर भी अनेक बच्चे काल की गोद में चले जाते हैं। यदि जिनेन्द्र के शास्त्रानुसार विधि-संस्कार किए जाएँ, तो बालक इन अद्भुत संकटों से स्वयमेव मुक्त हो जाता है।

वर्ष वर्धन क्रिया—जब बालक एक वर्ष का हो जाता है, तब व्युष्टि क्रिया-वर्षवर्धन क्रिया की जाती है। उस समय इष्ट बंधुओं को बुलाकर भोजन कराया जाता है।

बारहवीं क्रिया केशवाप कही गई है, जब शुभ दिन में देव, गुरु की पूजा के पश्चात् बालक के केशों को गंधोदक से गीले करके बाल बनवाए जाते हैं।

लिपि संख्यान क्रिया—अनंतर पांचवें वर्ष में लिपि-संख्यान नाम की क्रिया कही गई है। महापुराणकार ने लिखा है :—

ततोऽस्य पंचमे वर्षे प्रथमाक्षर-दर्शने।
ज्ञेयः क्रिया विधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रहः॥ १०२॥
यथा विभवमत्रापि ज्ञेयः पूजा-परिच्छदः।
उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती॥ १०३॥

तदनंतर पांचवें वर्ष में बालक को सर्व प्रथम अक्षरों का दर्शन के लिए लिपि संख्यान नाम की क्रिया की विधि की जाती है। यहां भी अपने वैभव के अनुसार भगवान जिनेन्द्र की पूजा आदि सामग्री जुटानी चाहिये।

अध्ययन कराने में कुशल व्रती गृहस्थ को उस बालक के शिक्षक पद पर नियुक्त करना चाहिए।

अन्न प्राशन के मंत्र :—इन संस्कारों की विधि करते समय प्रयुक्त मंत्र बड़े मार्मिक तथा गंभीर रहते हैं। उदाहरणार्थ अन्न-प्राशन

संस्कार करते समय यह मंत्र पढ़े जाते हैं, "हे वत्स ! दिव्यामृतभोगी भव, विजयामृतभोगी भव, अक्षीणामृतभोगी भव"–दिव्य अमृत का भोगने वाला हो, विजय रुप अमृत का भोक्ता हो, अक्षीण अमृत का भोगने वाला हो।

मुंडन संस्कार के मंत्र :—मुंडन संस्कार के मंत्र कितने महत्व पूर्ण हैं, "निर्ग्रन्थ-मुण्डभागी भव, निष्क्रान्ति-मुण्डभागी भव" हे शिशु ! निर्ग्रन्थ दीक्षा लेते समय मुण्डन करने वाला हो, मुनि अवस्था में केशलोच करने वाला हो, इत्यादि पवित्र शब्द कहे जाते हैं।

विद्याभ्यास के मंत्र :–बालक का विद्याभ्यास आरंभ कराते समय पढ़े जाने वाले मंत्र भी बड़े गंभीर और मार्मिक हैं, "शब्द-पारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थ-सम्बन्ध-पारगामी भव"—"हे वत्स ! शब्दों का पारगामी हो, अर्थ का पारगामी हो, शब्द तथा अर्थ इन दोनों के सम्बन्धों का पारगामी हो। (पर्व ४०, पृष्ठ ३०८, ३०९)

बाह्य क्रिया का आत्मा पर प्रभाव :—इन क्रियाओं के द्वारा बालक की आत्मा पर अच्छे संस्कार पड़ते हैं तथा वह बालक आगे सकल संयमी बनकर अपने मनुष्य जन्म को कृतार्थ बनाता हुआ मुक्ति प्राप्ति के योग्य साधक शिरोमणि बनता है। बालक में मंत्रों को समझने की शक्ति नहीं है, फिर भी मंत्रादि का उस पर उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है, जिस प्रकार रोगी शिशु पर दी गई औषधि का प्रभाव पड़ता है और वह नीरोगता प्राप्त करता है।

बाह्य सामग्री :–बाह्य सामग्री का अन्तरंग विकास से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा एकान्तपक्ष तत्वज्ञान का विघातक है। मनुष्य गति नाम कर्म तथा मनुष्यायु के उदय का अनुभव करने वाला मनुष्य यदि कर्मभूमि में उत्पन्न हुआ है, तो वह कर्मभूमि का मनुष्य चतुर्दश गुणस्थानों को प्राप्त करता हुआ सिद्ध भगवान बन सकता है, किन्तु यदि वह मनुष्य भोग भूमि में उत्पन्न हुआ है, तो वह अव्रत सम्यक्त्व गुणस्थान से आगे नहीं जा सकेगा। यदि बाह्य सामग्री का प्रभाव

परिणामों पर नहीं पड़ता, तो भोगभूमि या मनुष्य के मोक्ष जाने में क्या बाधा थी ? द्रव्यार्थिकनय से दोनों मनुष्य समान हैं।

धवला टीका में लिखा है कि भोगभूमि में उत्पन्न हुए तिर्यंचों के देश संयम का अभाव है, यद्यपि कर्म भूमियां तिर्यंच देशव्रत धारण कर सकते हैं। कहा भी है "न च भोगभूमावुत्पन्नानामणुव्रतोपादानं संभवति तत्र, तद्विरोधात्" भोगभूमि में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रत की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहाँ पर अणुव्रत के होने में आगम से विरोध आता है।" (धवला टीका भाग १ पृष्ठ ४०२)

बाह्य सामग्री और सम्यक्त्वकी प्राप्ति :–बाह्य सामग्री का मोक्ष के मुख्य कारण माने जाने वाले सम्यक्त्व की उत्पत्ति पर भी अद्भुत प्रभाव पड़ता है।

सामान्यतया यह सोचा जाता है कि सभी जीव चैतन्य ज्योति समलंकृत हैं, अतः समान हैं। प्रत्येक जीव समान रूप से मिथ्यात्व का परित्याग कर सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। प्रत्येक गति की अपेक्षा इस विषय में भिन्नता पाई जाती है।

सातों नरक के नारकी पर्याप्ति पूर्ण करने के अंतर्मुहूर्त उपरान्त सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं।

तिर्यंच गति के जीव पर्याप्ति पूर्ण होने के पश्चात् दिवस पृथक्त्व अर्थात् तीन दिन और नौ दिनों के भीतर सम्यक्त्व को उत्पन्न कर सकते हैं।

देव पर्याय धारण करने वाला जीव पर्याप्ति पूर्ण होने के अंतर्मुहूर्त पश्चात् सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है, किन्तु मनुष्य पर्याय की विचित्र कथा है।

कर्मभूमि का मनुष्य आठ वर्ष की अवस्था के पश्चात् ही सम्यक्त्व को प्राप्त करने में समर्थ होता है। भोगभूमिया मनुष्य की स्थिति भिन्न प्रकार की कही गई है।

भोगभूमि के विषय में तिलोयपएणत्ति में कहा है :—

तस्सिं संजादाणं सयणोवरि बालयाण सुत्ताणं।
णिय-अंगुट्ठ-विलिहणे सत्त-दिणाणि पवच्चंति ॥ ४०७-४ ॥

उस काल में उत्पन्न हुए बालकों के शय्या पर सोते हुए अपने अंगूठे चूसने में सात दिन व्यतीत होते हैं।

बइसण-अथिरगमण थिर-गमण-कलागुणेण पत्तेक्कं।
तारुएणेणं सम्मग्गहणं – जोगेण सत्तदिणं ॥ ४०८ ॥

इसके पश्चात् उपवेशन, अस्थिर गमन, स्थिरगमन, कलागुण-प्राप्ति, तारुण्य और सम्यक्त्वग्रहण की योग्यता, इनमें से प्रत्येक अवस्था में क्रमशः सात-सात दिन जाते हैं।

उस भोग-भूमिज के वज्रवृषभसंहनन भी पाया जाता है, जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक कहा गया है, किन्तु भोगभूमिया जीव संयम धारण करने के योग्य परिणाम नहीं प्राप्त करते हैं, अतः भोगभूमि से मुक्ति नहीं होती है। भोगभूमिया जीव के वज्रवृषभ संहनन का कथन महापुराण में आया है :—

सर्वेपि सुन्दराकाराः सर्वे वज्रास्थिबंधनाः।
सर्वे चिरायुषः कान्त्या गीर्वाणा इव यद्धुवः ॥ ८१, पर्व ६ ॥

सभी भोगभूमियां मनुष्य सुन्दर आकार युक्त होते हैं, सबके वज्रवृषभसंहनन पाया जाता है, सभी दीर्घायु होते हैं और शरीर की कान्ति में देवों के समान होते हैं।

+ नारकाः प्रथम-सम्यक्त्व-मुत्पादयंतः पर्याप्तका उत्पादयंति अंतर्मुहूर्तस्योपरि उत्पादयति, नाधस्तात्। तिर्यंचश्चोत्पादयंतः पर्याप्तका उत्पादयंति दिवसपृथक्त्वस्योपरि, नाधस्तात्। मनुष्या उत्पादयंतः पर्याप्तका उत्पादयंति, अष्टवर्षस्थितेरुपर्युत्पादयंति। देवाः सम्यक्त्वमुत्पादयंतः पर्याप्तका उत्पादयंति अंतर्मुहूर्तस्योपरि नाधस्तात् (राजवार्तिकालंकार पृष्ठ ७२, अध्याय २, सूत्र ३)

इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि आत्म विकास के लिए बाह्य तथा अन्तरंग सामग्री का मधुर संगम आवश्यक है। जो धर्म संपूर्ण परिग्रह त्याग को मोक्ष के लिए आवश्यक नहीं मानकर केवल भावों के आधार पर परिग्रह सहित मुक्ति की कल्पना करते हैं, वे सच्चे तत्वज्ञान से वंचित रहते हैं। संपूर्ण परिग्रह का त्याग तथा पदार्थों के प्रति ममता का भी परित्याग हुए बिना कभी भी निर्वाण नहीं होता। भैया भगवती दास जी का यह पद्य महत्वपूर्ण है—

जाके परिग्रह बहुत है सो बहु दुःख के मांहि।
बिन परिग्रह के त्याग तें पर सें छूटे नांहि॥

प्रथम आचारांग का प्रतिपाद्य—आचार और विचार परस्पर संबंधित हैं। इस कारण महान ज्ञानी ऋषि-शिरोमणि गौतम गणधर ने जीव के हितार्थ द्वादशांग में आद्य स्थान आचारांग को दिया है। मोक्षमार्ग का साक्षात सम्बन्ध मुनि जीवन से है। अतः प्रथम अंग में साधुओं के आचार पर विशद विवेचन किया गया है। आचार शास्त्र का सम्यक् परिज्ञान न होने पर साधु आगम-सम्मत अथवा आगम अविरुद्ध प्रवृत्ति कैसे कर सकते हैं? आचारांग में अठारह हजार पदों द्वारा सदाचार पर स्पष्ट रुप से कथन किया गया है।

शिष्य की शंका थी, भगवान्! कैसे चलें? कैसे खड़े रहें? कैसे बैठें? कैसे शयन करें? कैसे बोलें? कैसे खायें, जिससे पाप नहीं बंधे?

ऐसी शंका का समाधान आचारांग में इन सारगर्भित शब्दों में किया गया है—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदं आसे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झई॥

यत्नाचार पूर्वक सावधानी के साथ चलो, यत्नाचार पूर्वक खड़े रहो, यत्नाचार पूर्वक बैठो, यत्नाचार पूर्वक निद्रा लो, यत्नाचार पूर्वक भोजन करो, यत्नाचार पूर्वक भाषण करो, ऐसे आचरण द्वारा पाप कर्म का बंध नहीं होता है।

यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति से साधु पाप-पंक में लिप्त नहीं होता है।

दूसरा अंग सूत्र-कृतांग—दूसरे अंग का नाम सूत्र-कृतांग है। "संक्षेपेण अर्थं सूत्रयति इति सूत्रं परमागमः—" संक्षेप से जो अर्थ को सूचित करता है, उसे सूत्र कहते हैं। इस अंग में ज्ञान-विनय, प्रज्ञापना, कल्प्य, अकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहार धर्म क्रिया का छत्तीस हजार पदों के द्वारा कथन किया गया है। यह स्वसमय और परसमय का भी प्रतिपादन करता है।

तीसरा स्थानांग—तृतीय अंग का नाम स्थानांग है। उसमें ४२ हजार पदों के द्वारा एक को आदि लेकर उत्तरोत्तर एक एक अधिक स्थानों का वर्णन करता है। जैसे–संग्रहनय की अपेक्षा एक जीव द्रव्य है। व्यवहारनय की अपेक्षा वह संसारी तथा मुक्त रूप से दो भेद वाला है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की अपेक्षा तीन भेद रूप हैं। चार गतियों में परिभ्रमण करने की अपेक्षा इसके चार भेद हैं। इस प्रकार क्रम क्रम से जीव के पाँच छह भेद कहे गए हैं। इसी प्रकार पुद्गल में भी जानना चाहिए। सामान्य की अपेक्षा पुद्गल एक है। अणु तथा स्कन्ध के भेद से वह दो प्रकार है। इस प्रकार एक को आदि लेकर अनेक स्थानों का वर्णन तृतीय अंग में है।

चौथा समवायांग—चौथा अंग समवायांग है। उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव का आश्रय लेकर सादृश्य सामान्य की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का कथन किया गया है। जैसे द्रव्य समवाय की अपेक्षा धर्म और अधर्म द्रव्य समान हैं। क्षेत्र की अपेक्षा प्रथम नरक के प्रथम पटल का सीमन्तक नामका इन्द्रक बिल, अढ़ाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग के प्रथम पटल का ऋजु नामका इन्द्रक विमान और सिद्ध क्षेत्र समान हैं अर्थात पैंतालीस लाख योजन प्रमाण हैं। काल की अपेक्षा एक समय तथा आवली समान हैं। सातवीं पृथ्वी के नारकी और सर्वार्थ सिद्धि के देव की उत्कृष्ट आयु समान है। यह काल समवाय

है। भाव समवाय की अपेक्षा केवलज्ञान केवलदर्शन के समान ज्ञेय प्रमाण हैं, क्योंकि ज्ञान प्रमाण ही चेतना शक्ति की उपलब्धि होती है।

पांचवां व्याख्या-प्रज्ञप्ति अंग—पाँचवाँ व्याख्या-प्रज्ञप्ति नामका अंग है। उसमें दो लाख अट्ठाईस हजार पदों द्वारा क्या जीव है, क्या जीव नहीं है इत्यादि साठ हजार प्रश्न जो गणधर देव ने तीर्थंकर के निकट किए थे, उनका विशेष रूप से कथन किया गया है।

छठवां नाथ धर्म कथा - छठवाँ अंग नाथ-धर्म कथा है। उसमें तीन लोक के नाथ तीर्थंकर, परमभट्टारक के धर्म की कथा का वर्णन है— "नाथः त्रिलोकेश्वराणां स्वामी तीर्थंकर-परमभट्टारकः तस्य धर्मकथां कथयति।" इसमें जीवादि पदार्थों का स्वभाव कहा गया है। दिव्यध्वनि द्वारा प्रतिपादित दस प्रकार के उत्तम क्षमा आदि धर्म तथा रत्नत्रय धर्म इत्यादि का वर्णन किया गया है।

इस अंग को ज्ञातृधर्म कथा भी कहते हैं। ज्ञाता शब्द गणधर देव का वाचक है। उनके प्रश्न के अनुसार उत्तररूप जो धर्म कथा है, वह ज्ञातृ-धर्म-कथा है। इसमें गणधर देव के प्रश्नों का समाधान कहा गया है अथवा ज्ञाता, तीर्थंकर, गणधर, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि का पर्यायवाची है। इस अंग में उनके धर्म सम्बन्धी कथा, उपकथा का वर्णन है।

सप्तम उपासकाध्ययनांग सातवाँ अंग उपासकाध्ययन नामक है। उसमें ग्यारहलाख सत्तर हजार पदों के द्वारा श्रावकों के लक्षण व्रत आदि का वर्णन है।

जीवकाण्ड गोम्मटसार की टीका में उपासक का व्युत्पत्त्यर्थ इस प्रकार दिया है "उपासते आहारादिदानैर्नित्यमहादिपूजा-विधानैश्च संघमाराधयंतीति उपासकाः (पृष्ठ ७६५) जो आहारादि दान के द्वारा तथा नित्य-मह आदि पूजा विधानों के द्वारा संघ की आराधना करते हैं, उन्हें उपासक कहते हैं। इस उपासकों के स्वरूप प्रतिपादक उपासकाध्ययनांग में श्रावकों के व्रत, गुण, शील, आचार, क्रिया तथा

मंत्रादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। गृहस्थ का धर्म दान और पूजा कहे गए हैं। उनका क्या फल होता है, इस पर कुन्द कुन्द स्वामी ने रयणसार में कहा है—

पूया-फलेण तिलोए सुरपुज्जो हवेइ सुद्धमणो।
दाण-फलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥ १२ ॥

जिनेन्द्र भगवान की पूजा के द्वारा जीव देव पूज्य होता है, तथा उसका अन्तःकरण निर्मल होता है। दिगम्बर मुनियों आदि को आहार दान, शास्त्रादि का दान देने के फल से जीव त्रिलोक में सार रूप सुखों को बहुत समय पर्यन्त भोगता है।

दान पूजादि के महत्व की मीमांसा—कोई कोई व्यक्ति सोचते हैं; जिनेन्द्र की पूजा में तथा मुनि दानादि मे कुछ सार नहीं है। इससे पुण्य का ही बंध होता है। इनसे मोक्ष नहीं मिलता है। अतः इनका आश्रय लेना मोक्ष के लिए विघ्न रूप है।

ऐसे शंकाशील व्यक्ति को कुन्द कुन्द स्वामी के रयणसार में कहे गए इन शब्दों पर दृष्टि देना चाहिए कि

"दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मं ण तेण विणा सावया होई" ॥ ११ ॥

दान देना तथा वीतराग की पूजा करना मुख्य रूप से श्रावक के धर्म हैं। इनको न करने वाला श्रावक नहीं है। यहाँ दानादि को श्रावक-धर्म कहा गया है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि दान तथा पूजा के द्वारा जीव का हित कैसे होता है और इनका आश्रय लेने वाला किस प्रकार मोक्ष मार्ग में प्रगति करता है ?

यहाँ सर्व प्रथम यह बात विचारणीय है कि पूजा क्या वस्तु है ? पूज्य जिनेन्द्र के गुणों की मनोज्ञ, वीतराग छवि को निहारते हुए उनके विशुद्ध गुणों का वर्णन करना, उनका चिंतवन करना, जिनेन्द्र के त्याग और तपोमय जीवन पर दृष्टि डालना पूजा है। इस कार्य से मन

में आर्तध्यान, रौद्रध्यान की कालिमा नहीं रहती है और जीव विलक्षण शान्ति तथा आनन्द को प्राप्त करता है।

मानतुंग आचार्य ने लिखा है :—

> त्वत्संस्तवेन भवसंतति-सन्निबद्धं ।
> पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम् ॥
> आक्रान्त-लोक-मलिनील-मशेष माशु ।
> सूर्यांशु-भिन्न-मिव शार्वर-मन्धकारम् ॥ ७ ॥

हे जिनेन्द्र ! आपकी स्तुति करने से अनेक भव परम्परा से सम्बद्ध जीवों के पाप क्षण मात्र में क्षय को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार भ्रमर के समान श्याम तथा सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करने वाला रात्रि का अंधकार सूर्य की किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

जिनेन्द्र की पूजा भक्ति करने वाली आत्मा का कर्मभार लघु हो जाता है, वह सम्यक्त्व को प्राप्त करती हुई रत्नत्रय परिपालन के लिए उत्साह तथा प्रबल प्रेरणा प्राप्त करती है। जब तक इस जीव ने समस्त परिग्रह के लिए परित्याग का निर्मल मार्ग स्वीकार करने योग्य शारीरिक तथा आध्यात्मिक क्षमता नहीं प्राप्त की है, तब तक इसकी हित साधना के लिए जिनेन्द्र भक्ति, पूजा, स्तवन नाम-स्मरण आदि के सिवाय और क्या साधन है ? इन श्रेष्ठ कार्यों से जो व्यक्ति विमुख होता है, उस गृहस्थ की गति क्या होगी, यह सहज ही सोचा जा सकता है। वह व्यक्ति आरम्भ, परिग्रह, विषय सेवन, विकथाओं के कुचक्र में अपना हीरा सा नरभव नष्ट कर देता है। वह यह नहीं सोच पाता है कि इस नर देह की प्राप्ति कितनी कठिन तथा महत्वपूर्ण है ?

पात्रदान—साधुओं के आहार दान द्वारा गृहस्थाश्रम में उत्पन्न होने वाले आरम्भ जनित दोषों की मलिनता से मुक्ति मिलती है, क्योंकि यह गृहस्थ गृहविमुक्त अतिथियों की पूजा तथा वैयावृत्य आदि द्वारा उनकी तपः साधना में परम्परा रूप से सहयोगी बनता है।

उन वीतराग सत्पुरुषों के थोड़े से सम्पर्क उपदेश आदि के द्वारा आत्मा को हित साधन के लिए कभी कभी ऐसी प्रेरणा तथा प्रकाश प्राप्त हो जाता है, जैसा सैकड़ों शास्त्रों और शास्त्रियों के सम्पर्क से नहीं मिलता है। उससे गृहस्थ के चित्त में परिग्रह के भार से मुक्त होकर मोक्ष पुरुषार्थ को प्राप्त करने की तीव्र लालसा जागृत होती है, मोहज्वर स्वयमेव मन्द होता है, कामिनी कंचन आदि की अन्ध आराधना से मन मुड़ने लगता है तथा जीव को बहुत कुछ अपने बारे में सोचने का मौका आता है।

वह आराध्य साधुओं के निराकुल तथा पवित्र जीवन को साक्षात देखते हुए अपने हृदय से परामर्श करता है। अरे मूर्ख! देखता नहीं है इन महापुरुषों का पवित्र जीवन। ये कितने शान्त और सुखी हैं। क्यों नहीं तू इनकी तरह त्याग और तप के मार्ग को स्वीकार कर विशुद्ध ध्यान द्वारा निर्वाण सुख की प्राप्ति के लिए उद्यत होता है? दान तथा पूजा के द्वारा यह जीव आत्मा के कल्याण के लिए उपयोगी विशुद्ध सामग्री प्राप्त करता है। वह श्रेष्ठ संयम के प्रति उत्कंठा प्राप्त करता है।

शंका—प्रथम अंग का नाम आचारांग है। उसमें मुनियों के आचार का विस्तृत विवेचन किया गया है; उसी अंग में यदि श्रावकों के भी आचार का वर्णन हो जाता, तो सातवें उपासकाध्ययन नामका एक अंग अलग न होकर एकादशांग रूप वाणी कही जाती?

समाधान—मोक्षमार्ग की आराधना के क्षेत्र में यद्यपि गृहस्थ और मुनि एक दूसरे का उपग्रह करते है, किन्तु उनमें लक्ष्य की दृष्टि से विशेष अन्तर है। परिग्रह के बीच में रहने वाला गृहस्थ त्रिवर्ग का साधन कर पाता है। धर्म, अर्थ और काम के सिवाय वह मोक्ष का पालन नहीं कर सकता है। आचारांग में मोक्ष रूप श्रेष्ठ पुरुषार्थ को पालने में त्रियोग से उद्योग करने वाली महान आत्माओं के उपयोग योग्य प्रतिपादन किया गया है। वह शास्त्र महापराक्रमी मोह से युद्ध करने

वाले वीरों को सामग्री प्रदान करता है। ऐसे नरसिंहों के जीवन की अपेक्षा परिग्रही गृहस्थ का जीवन अत्यन्त भिन्न होता है।

कनक, कामिनी तथा विषयों के दास गृहस्थ के जीवन के साथ मुनि जीवन की क्या तुलना हो सकती है? भगवान के समवशरण में गृहस्थ तथा मुनियों का निवास भी साथ-साथ नहीं होता है। पहले कोठे में गणधरदेव आदि ऋषिगणों का निवास रहता है तथा श्रावकों का ग्यारहवें कोठे में स्थान कहा गया है।

अतः आचार, विचार, लक्ष्य, प्रवृत्ति आदि में अंतर रहने से मुनियों का चारित्र प्रतिपादन करने वाला आचारांग द्वादशांग में आद्य स्थान में रखा गया है। सामान्यतया सप्ततत्वों का श्रद्धान करने वाले, सप्त व्यसनों से विमुख रहने वाले अणुव्रती श्रावकों के लिए मार्ग-दर्शक उपासकाध्ययन नामके सातवें अंग में किया गया है।

असम्यक् तुलना :- गृहस्थ कहता है, कि मैं भी मोक्ष की आकांक्षा करता हूँ। मुझमें और मुनियों में लक्ष्य की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है?

यथार्थ में यह कथन सत्य की सीमा का अतिक्रमण करता है। मोक्षाभिलाषी मुनिगण अपना सर्वस्व अर्पण करके मोक्ष का उद्योग करते हैं; निरन्तर आत्म शुद्धि के कार्य में सजग रहते हैं, कषायों तथा विकारों से बचने का प्रयत्न करते हैं: इससे विपरीत परिणमन गृहस्थ के जीवन में देखा जाता है।

तालू में जीभ लगाकर यह कहना सरल है कि हम भी मोक्ष चाहते हैं, किन्तु उसके लिए जो गृहस्थ कुछ भी उद्योग न कर संसार का बंधन बढ़ाता जाता है, वह मुक्ति का प्रेमी है या नहीं है यह कोई भी सोच सकता है? हां, सुज्ञ मुक्ति के सच्चे प्रेमी साधुओं की सेवा शुश्रूषा तथा जिनेन्द्र की भक्ति द्वारा विवेकी गृहस्थ परम्परा से मोक्ष का प्रेमी तथा अनुरागी कहा जा सकता है।

जो गृहस्थ अहंकार एवं अविवेक की वृद्धि होने पर अपने को श्रमणों से ऊंचा मानते हुए सिद्धों के समुदाय के मध्य बैठने की बातें

बनाता है, वह ऐसा अद्भुत बीमार है, जो औषधि से द्वेष करता है, चिकित्सकों को अज्ञानी तथा अनुभव शून्य कहता है तथा अपने को रोग विमुक्त बताता है। कुछ काल के बाद जब पाप कर्म का उदय ऐसी भ्रांत आत्मा को ठीक मार्ग दिखाता है, तब उसकी समझ में यह आ जाता है कि मैंने पूर्व में जो अहंकार और अविद्या का मार्ग पकड़ा था, वह मेरी बहुत बड़ी भूल थी।

प्रश्न—श्रावकों के व्रतादि के पालन द्वारा पुण्य बंध होता है। पुण्यबंध तो संसार का कारण है। ऐसे कार्य दान, पूजा, व्रतादि को करने में क्या लाभ है जिनसे जीव को मोक्ष नहीं मिलता है? बंधन की दृष्टि से पुण्य और पाप समान हैं।

समाधान—आत्महितैषी जीव को सर्व प्रथम पापों से छूटने का उपाय आगम में बताया जाता है। णमोकार की आराधना, तीर्थवंदना, पूजा आदि के द्वारा पाप का बन्ध नहीं होता है। इनसे पुण्य का बन्ध होता है। पाप पंक से मलिन पापी प्राणी को पुण्य का मार्ग बताया जाता है। जो गृहस्थ धन-धान्यादि के फंद से फंसा है, रमणी के राग, रंग में जिसका मन रमा है, वह विषयी-हृदय मोक्ष का रहस्य बौद्धिक स्तर पर मानते हुए भी अनुभव के स्तर पर नहीं सोच सकता है। योगी और विरागी के विचारों में बड़ा भारी भेद है। जम्बू स्वामी के चरित्र में लिखा है कि उनके घर में विद्युच्चोर चोरी के हेतु अनेक डाकुओं के साथ जब घुसा था, उस समय जंबू स्वामी की माता जिनदासी जग रही थी।

विद्युच्चोर ने पूछा, माता आज इतनी रात बीत जाने पर भी तुम क्यों जाग रही हो?

माता ने कहा, "बेटा! मेरा एक मात्र पुत्र जंबू कुमार विषयों से विरक्त हो गया है। सूर्योदय के उपरान्त वह मुनि बन जायेगा। मेरा मोही मन इसी से दुःखी हो रहा है। मैं सोचती हूँ, मेरी सारी संपत्ति

लेकर भी मेरे प्यारे बेटे को कोई तपोवन जाने से विमुख कर सके, तो मुझे खुशी होगी।

उस समय श्रेष्ठि रत्न जम्बूकुमार के राजोचित वैभव तथा उसको जीर्ण तृणवत मान छोड़ने की जम्बू-स्वामी की भावना पर विद्युच्चोर की दृष्टि गई। वह मन ही मन बड़ा दुःखी हुआ। उसके मनमें अद्भुत भावों का जागरण हुआ। वह सोचने लगा, कहां विषय विरागी जम्बू कुमार और कहां विषयासक्त मेरा मन! धिक्कार है मेरी मनोवृत्ति को।

गुणभद्र आचार्य के शब्दों में विद्युच्चोर सोचता है; "एवं संपन्न-भोगोपि किलैष विरिंसति" इस प्रकार भोगों से संपन्न यह कुमार त्यागी बनना चाहता है। "धिक् मां धन-मिहाहर्तुं प्रविष्ट मितिनिंदनं" (६० ६१ पर्व, ७६ उत्तर पुराण)—मुझे धिक्कार है कि मैं धन हरण करने के लिए यहां आया हूँ।

जम्बू स्वामी की निर्मल भावना विषयों से विरक्ति की शुद्ध मुद्रा अंकित है। ऐसी मानसिक स्थिति होते हुए भी वह जीव शुभ भावों के कारण पुण्य का बंध करता है। अत्यन्त सावधान मनोबली जितेन्द्रिय मुनीश्वर भी शुक्लध्यान के अंतर्मुहुर्त प्रमाण काल को छोड़कर धर्मध्यान रूप शुभ उपयोग द्वारा पुण्य का बंध करते हैं। ऐसे उच्च चरित्र वाले विशुद्ध सम्यक्त्वी जीवों को जो पुण्य प्राप्त होता है, उसकी असंयमी या मिथ्यात्वी जीव कल्पना भी नहीं कर सकता है।

शुद्धोपयोगी शुक्लध्यानी मुनि के भी पुण्य बंध :—उच्च आत्माएं तीर्थंकर पदवी सदृश पुण्य प्राप्ति के लिये महान उद्योग करती हैं। अपूर्व करण गुणस्थान में शुक्लध्यान होता है। वहाँ शुद्धोपयोग कहा गया है। उस गुणस्थान के छटवें भाग में तीर्थंकर प्रकृति रूप पुण्य कर्म का बंध होता है।

अविरत सम्यक्त्वी भी तीर्थंकर प्रकृति का बंधक कहा गया है किन्तु श्रेष्ठ मुनि पद धारण करने वाली निर्मल आत्मा द्वारा बांधी गई तीर्थंकर प्रकृति में तीव्र अनुभाग शक्ति रहती है।

पुण्य के फल की कथा धर्म कथा :—पुण्य के फल की कथा को धर्म कथा कहा गया है। उसे विकथा नहीं माना है। धवला टीका में वीरसेन आचार्य कहते हैं, "संवेयणीणाम पुण्ण - फल - संकहा"—(भाग, पृष्ठ १०५) पुण्य के फल का निरूपण करने वाली संवेदनी कथा है। "काणि पुण्ण-फलाणि ? तित्थयर-गणहररिसि - चक्कवट्टि बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहरि-द्धीद्धिओ"—

शंका :—पुण्य के फल क्या हैं ?

समाधान : तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियां पुण्य के फल हैं।

प्रश्न :— आजकल कुछ लोग पुण्य और पाप को समान सोचते हुए पुण्य को ऐसे घृणित शब्दों में कहते हैं, कि उसका उल्लेख भी सभ्यजनों में अयोग्य लगता है, तो क्या पुण्य ऐसा ही बुरा है जैसा पाप है ?

उत्तर— पुण्य और पाप को समान मान पाप की पूजा करने वाले, पापियों के पापों का समर्थन करने वाले, पापों का पोषण करने वाले तथा पुण्य और उसके फल की घृणित रूप मे चर्चा करने वाले व्यक्ति दया पात्र हैं, कि तीव्र कर्मोदय वश वे जीव दूसरों को पतन में लगाते हुए अपना भी सर्वनाश कर रहे हैं। दुःख है, कि ऐसे लोग अंधे की आंखों में अंजन आंजने के बहाने पिसी हुई कांच का चूर्ण आंजते हैं।

मोक्ष पद की दृष्टि से आगम में पुण्य और पाप को समान कहा है, किन्तु दोनों में हेतु और फल की अपेक्षा भिन्न भी कही गई है। आगम में गृहस्थों को पाप त्याग तथा श्रेष्ठ पुण्य संपादन के लिए प्रेरणा दी गई है। भगवान महावीर तीर्थंकर के गर्भ कल्याणक, जन्म कल्याणक, तप तथा ज्ञान कल्याणक में तीर्थंकर पद की पूजा की गई है। यह क्या पुण्य के फल की समाराधना नहीं है ? आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है, कि तीर्थंकर पदवी पुण्य का फल है। सहस्रनाम पाठ में भगवान को पुण्य राशि कहा है।

शुभंयुः सुख-साद्भूत पुण्यराशि-रनामयः
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्य-नायकः ॥

ऐसी स्थिति में धर्म के फल पुण्य की विवेक रहित निरन्तर निंदा का कार्य दर्शन मोहनीय के बंध का हेतु है; यह बात नहीं भूलना चाहिये। दर्शन मोहनीय कर्म सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति वाला बड़ा भयंकर है। उसके उदय होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति की कल्पना या सद्भाव की बात असंभव है।

पुण्य और पाप यदि सर्वथा समान होते, तो पुण्य के फल का कथन करने वाली तथा पाप के फल का निरुपण करने वाली कथा के नाम भिन्न-भिन्न न होते।

धवलाटीका में लिखा है "णिव्वेयणी णाम पाव--फल-संकहा"-पाप के फल का निरूपण करने वाली कथा निर्वेदनी कथा है।

प्रश्न—पाप के फल कौन है?—"काणि पाव--फलाणि?"

उत्तर—"णिरय--तिरिय--कुमाणुस -- जोणीसु जाइ--जरा--मरण वाहि--वेयणा--दालिद्दाणि"—नरक, तिर्यंच और कुमानुष्य की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं? पुण्य और पाप के कारण और फलों की भिन्नता को देखकर आगम में पुण्य के संचय तथा पाप के त्याग का उपदेश दिया गया है।

पुण्य--पाप को समान मानने वाले तथा पाप के विपक्ष में मौन धारण कर पुण्य को बुरा कहने वालों से यह प्रश्न है कि स्त्रीपना वेश्या में है, साध्वी सती में भी है। दोनों के स्त्री वेद का उदय है। द्रव्यवेद, भाव वेद की अपेक्षा दोनों स्त्री हैं, किन्तु क्या दोनों को शील की दृष्टि से एक बराबर माना जायगा?

पुण्य का उदाहरण सती स्त्री है। पाप का उदाहरण कुलटा स्त्री है। दोनों की भिन्नता को कौन चारित्रवान व्यक्ति अस्वीकार करेगा?

पुण्य संचय का पवित्र पथ—इससे परम कारुणिक एवं महान ज्ञानी आचार्यों ने पाप से बचकर पुण्य के संचय के लिए भोगलोलुपी गृहस्थ को प्रेरणा दी है। आचार्य जिनसेन पुण्य संचय के लिए उपदेश देते हुए चतुर्विधमार्ग बताते हैं—

पुण्यं जिनेन्द्र – परिपूजन – साध्यमाद्यम्।
पुण्यं सुपात्र – गत – दान–समुत्थमेतत्।
पुण्यं व्रतानुचरणादुपवास – योगात्।
पुण्यार्थिनामिति चतुष्टय – मर्जनीयम्॥ २१६–२८ पर्व, महापुराण

पहले तो पुण्य जिनेन्द्र देव के चरणों की पूजा द्वारा साध्य होता है। यह पुण्य सत्पात्र को दिए गए दान से उत्पन्न होता है। व्रतों के पालन से पुण्य प्राप्त होता है तथा उपवास से भी पुण्य की प्राप्ति होती है। पुण्यार्थी व्यक्ति को उपरोक्त चार कार्य करना चाहिए।

पुण्य प्राप्ति के कारणों से विपरीत प्रवृत्तियों द्वारा पाप का संचय होता है। अनादि काल से यह जीव पाप के कार्यों को करता हुआ पाप के फलों को भोगता रहा है। पुण्य के उदय से यह जीव सर्वार्थसिद्धि का देव होकर दूसरे भव में मोक्ष पाता है। वहां तेत्तीस सागर पर्यन्त काल सुख से बीतता है। पाप के उदय से जीव सातवें नरक का नारकी होकर ऐसे दुःखों से व्याकुल होता है, जिनका करोड़ मुखों से भी वर्णन असंभव है। वहां भी तेतीस सागर प्रमाण आयु रहती है। आयु की स्थिति की अपेक्षा सातवें नरक का नारकी और सर्वार्थ सिद्धि के देव समान हैं। इस आयु की स्थिति कृत समानता होते हुए अन्य बातों में उनमें तनिक भी समानता नहीं है। ऐसा ही पुण्य और उसके फल तथा पाप और उसके फलों के विषय में समानता और विषमता को सोचना चाहिए।

एक विषय में समानता होने पर सभी बातों में समानता मानना भ्रमपूर्ण है। नीम का फल और आम फल सामान्य की अपेक्षा एक हैं, किन्तु वे सर्वथा एक नहीं हैं। कौआ भले ही निबोरी को अच्छा

कहता रहे, किन्तु मनुष्य आम के स्तर पर निबोरी का मूल्य कभी नहीं करेगा।

कारण भेद से कार्य भेद—न्याय शास्त्र में कारण भेद होने पर कार्य की भिन्नता मानी जाती है। शुभ उपयोग से पुण्य का बंध होता है, अशुभ उपयोग से पाप का बंध होता है। प्रवचनसार में कहा है :—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ ६४ ॥

जीव का उपयोग अर्थात् भाव शुभ रूप है, तो पुण्य का संचय होता है। यदि उपयोग अशुभ है, तो पाप का संचय होता है। शुभ तथा अशुभ रूप उपयोगों के अभाव में बंध नहीं होता है।

शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग इतने ही भिन्न हैं, जितने हंस और बगुला हैं, यद्यपि दोनों ही धवल वर्णीय हैं।

शुभ उपयोग—शुभ उपयोग का स्वरूप प्रवचनसार में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकम्पो उवओगो सो सुहो तस्स ॥ ६५ ॥

जो अरहंत भगवान के स्वरूप को जानता है, सिद्ध भगवान को ज्ञान दृष्टि से देखता है; उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा साधु रूप अनगारों को जानता है तथा देखता है तथा सर्व जीवों पर अनुकम्पा भाव धारण करता है, उसके शुभ उपयोग होता है। इससे पुण्य का बंध होता है।

अशुभोपयोग—अशुभ उपयोग का स्वरूप इस प्रकार कहा है। उससे पाप बंध होता है।

विसय-कसाओ गाढो दुस्सुदि-दुच्चित्तदुट्ठ-गोट्ठि-जुदो।
उग्गो उम्मग्ग-परो उवओगो जस्स सो असुहो ॥ ६६ ॥

जिसका उपयोग इंद्रियों के विषय तथा क्रोधादि कषायों से मलिन है, जो मिथ्या शास्त्रों का श्रवण, आर्त, रौद्र ध्यान रूप मन युक्त है, पर-निंदा

आदि में तत्पर दुष्टों की गोष्ठी में रहता है, जो हिंसा, चोरी, कुशील आदि नीच कार्यों में उद्यत रहता है तथा जिनेन्द्र देव द्वारा कथित मार्ग से विपरीत पथ में प्रवृत्ति करता है, वह अशुभ उपयोग युक्त कहा गया है।

इस प्रकार पुण्य और पाप के कारणों में भिन्नता होने से कार्यों में भिन्नता स्वीकार करना न्याय्य है।

पुण्य बंध का हेतु है उसका पक्ष क्यों लिया जाय?

शंका—पुण्य कर्म बंध का ही भेद है। मुमुक्षु जीव के समक्ष मोक्ष में बाधक बंध की सामग्री रूप पुण्य की चर्चा करने में क्या लाभ है? पंचास्तिकाय में स्पष्ट शब्दों में लिखा है, कि भक्ति आदि से पुण्य होता है, कर्मों का क्षय नहीं होता; अतः कर्मक्षय के प्रेमी के समक्ष बंध की वार्ता असम्यक् है। कुन्दकुंद स्वामी की पंचास्तिकाय की वाणी ध्यान देने योग्य है।

अरहंत-सिद्ध-चेदिय-पवयण-गण-णाण-भत्ति-संपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि॥ १७३॥

जो पुरुष अरहन्त भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, उनकी प्रतिमा, जिनागम, चतुर्विध संघ तथा ज्ञान के साधनों में भक्ति धारण करता है, वह महान पुण्य का बंध करता है, किन्तु उनसे कर्मों का क्षय नहीं होता।

समाधान—यह बात सत्य है कि पुण्य बंध के कारणों से कर्मक्षय नहीं होता। कर्मक्षय के लिए निर्विकल्प समाधि रूप शुक्ल ध्यान कारण है। उसकी प्राप्ति इस पंचम काल में नहीं कही गई है।

पंचम काल में केवल धर्मध्यान कहा गया है। वह शुभ परिणाम रूप है। आर्त और रौद्र ध्यान अनादिकाल से चले आ रहे हैं। यदि जीव ने पुण्यबंध के कारण धर्मध्यान की उपेक्षा की तो, उसे आर्त और रौद्र ध्यान पकड़कर दुःख-प्रचुर कुगतियों में भटकाए बिना न न रहेंगे। पंचमकाल के प्राणी के लिए शुभ उपयोग ही एकमात्र शरण है,

जिसका फल पुण्यकर्म का बंध है। पुण्य के बंध के प्रति उपेक्षा करने का अर्थ यही होगा कि यह शुभोपयोग को छोड़े। उस दशा में यह पाप रूपी राक्षस उसको अपने पंजों के नीचे दबाए बिना न रहेगा।

इसीलिए महान कुशल आचार्यों ने अध्यात्म की दृष्टि से जहाँ पुण्य को विभाव भाव कहा है, वहाँ उसके संग्रह के लिए उपदेश भी दिया है। मोह के जीतने की चर्चा और वीतराग विज्ञानता को प्राप्त करने की वार्ता जितनी सरल है, उनकी उपलब्धि उनसे अनंत गुनी कठिन है।

कठिन चार बातें—आगम में कहा है कि चार बातें बड़ी कठिनता से सिद्ध होती हैं—

अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभं च।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति॥

इन्द्रियों में रसना, कर्मों में मोहनीय, व्रतों में ब्रह्मचर्य और गुप्तियों में मनोगुप्ति, ये चारों ही बातें बड़ी ही कठिनता से सिद्ध हुआ करती हैं।

इस प्रसंग में यह बात और स्मरण योग्य है कि गृहस्थ अवस्था को स्वीकार करने वाला व्यक्ति मोहनीय कर्म की गहरी बीमारी से जर्जरित शक्ति वाला होता है। मोहोदय से उसे बाह्य पदार्थों में सुख का भ्रम हुआ करता है, इसलिए वह अनेक प्रकार के कष्टों को भोगता हुआ भी धन आदि सामग्री के संचय करने में तथा तुच्छ भोगों में अपना बहुमूल्य जीवन नष्ट करता है। ऐसे असमर्थ व्यक्ति को रोग रहित बना मोह कर्म से युद्ध करने योग्य शक्ति-संपन्न बनाने के लिए चतुर चिकित्सक की कार्य पद्धति को अपनाना पड़ता है।

सुकुमार पद्धति:—आत्मानुशासन में लिखा है, कि इस जीव की बालक के समान सुकुमार पद्धति के द्वारा सरल चिकित्सा की गई है क्योंकि यह जीव मोह के रोग से अत्यन्त अशक्त बन गया है। यह विषय सुखों को छोड़ना नहीं चाहता। इसकी रुचि इन्द्रिय जनित सुखों

की ओर है, अतः चतुर शिक्षक के रूप में इन्द्रिय सुखों की चाशनी के भीतर अपनी त्याग रूप कटु औषधि इसे देते हैं।

बालक पाठशाला में नहीं आना चाहता और वह उससे दूर भागता है। ऐसी स्थिति में गुरुजी उसे प्रारंभ में मिष्टान्न देते हैं, ताकि उसकी रुचि आने की ओर कम न हो। धीरे धीरे बालक वयस्क बनता है। फिर उसे मिठाई की जरूरत नहीं रहती। उसे विद्या में स्वयं रस मिलने लगता है।

इसी प्रकार विषय लोलुपी जीव को कहते हैं--यदि तूने धर्म का शरण ग्रहण किया और पुण्य की पूंजी इकट्ठी की, तो तुझको मनुष्य पर्याय तथा देवावस्था में कल्पनातीत सुख मिलेंगे। जब वह धर्म के मार्ग में लग जाता है, तब उसे क्रम-क्रम से उसकी पात्रता और शक्ति के अनुसार आगे का मार्ग बतलाया जाता है।

शुभोपयोग मध्यम मार्ग—यदि प्रारंभ में ही विषयों के पूर्व त्याग की समस्या समक्ष ला दी जावे, तो यह विषयासक्त मोही प्राणी जिनेन्द्र के शरण को छोड़कर मिथ्यात्वियों के कुचक्र में फँसकर अपना अहित करेगा, इसलिए इस जीव की सच्ची भलाई भी हो और इसकी विषयों की ममता को विशेष चोट भी न पहुँचे, ऐसा शुभोपयोग रूप पुण्य प्रदाता मध्यम मार्ग बताया गया है।

यह कौन नहीं जानता कि आठों कर्म जब हेय हैं, तब पुण्यकर्म कैसे उपादेय होगा? परन्तु परिस्थिति विशेष के अनुसार पुण्य का सहारा लेना उसी प्रकार आवश्यक बन जाता है, जैसे वृद्ध व्यक्ति को आत्मरक्षा के लिए लाठी लेना आवश्यक हो जाता है।

मार्मिक कथन--महान योगी गुणभद्र स्वामी ने आत्मानुशासन में बड़ी मार्मिक तथा गंभीर अनुभव पूर्ण बात लिखी है—

शुभाशुभे पुण्यपापे सुखदुःखे च षट् त्रयम्।
हितमाद्य – मनुष्ठेयं शेषत्रय – मथाहितम् ॥ २३९ ॥

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप, सुख और दुःख ये छह हुए। इन छह के तीन युगलों में से आदि के तीन अर्थात् शुभ, पुण्य तथा सुख आत्मा के लिए हितकारक होने से आचरणीय हैं तथा शेषत्रय अशुभ, पाप तथा दुःख अहितकारी होने से त्याज्य हैं।

टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने "शुभाशुभे प्रशस्ताप्रशस्तौ वाक्कायमनो-व्यापारौ" लिखकर शुभ तथा अशुभ की इस प्रकार व्याख्या की है। प्रशस्त मन, वचन तथा काय की क्रिया को शुभ कहा है तथा अप्रशस्त मन, वचन तथा काय की क्रिया को अशुभ कहा है। प्रशस्त योग द्वारा पुण्यकर्म का आस्रव होता है और उस पुण्य के विपाक द्वारा सुख की सामग्री प्राप्त होती है। अशुभ योग से पाप का आस्रव होता है। उससे दुःख होता है।

साता-असाता वेदनीय साता वेदनीय के उदय होने पर सुख मिलता है और असाता के उदय होने पर प्रयत्न करने पर भी विपत्ति पिण्ड नहीं छोड़ती है। ऐसी सर्वज्ञदेव की देशना है।

वरांग चरित्र में लिखा है :—

दान-धर्म-दया-क्षान्ति-शौच-व्रत-तपोन्विताः।
शील संयम-गुणाश्च सातं बध्नंति जन्तव ॥ ५८-सर्ग ४ ॥

दान, धर्म, दया, क्षमा, निर्लोभवृत्ति रूप शौच धर्म, व्रत, तप शील, संयम युक्त प्राणी साता वेदनीय का बंध करते हैं।

उस साता वेदनीय के बंध से क्या होता है, यह कहते हैं :—

यत्सुखं त्रिषु लोकेषु शारीरं वाथ मानसम्।
तत्सर्वं सातवेद्यस्य कर्मणः पाक उच्यते ॥ ६०-४ ॥

तीनों लोकों में जो शारीरिक तथा मानसिक सुख प्राप्त होता है, वह सुख साता वेदनीय के उदय जनित है।

आचार्य पुनः कहते हैं :—

दुःख - शोक - वधाक्रन्द - बंधनाहार - रोधनम्।
असातवेदनीयस्य कर्मणः कारणं ध्रुवम ॥ ५७ ४ ॥

दुःख, शोक, वध, आक्रन्दन (भयंकर रूप से रुदन करना) बंधन तथा आहारपान का निरोध करने से नियमतः असाता वेदनीय कर्म आता है। उपरोक्त कार्य चाहे स्व सम्बन्धी हो, पर संबंधी हों अथवा उभय संबंधी हों, उनसे असाता का आस्रव होता है।

जो यह धारणा बांधे हैं, कि साता के समान असाता है। दोनों के फल में अन्तर नहीं है, उनके भ्रम को दूर करते हुए आचार्य कहते हैं:—

> यद्दुःखं त्रिषु लोकेषु शारीरं वाथ मानसम्।
> समस्तं तदसातस्य कर्मणः पाक उच्यते ॥ ५६—सर्ग ४

तीनों लोकों मे जो शारीरिक तथा मानसिक दुःख होता है, वह सब असाता वेदनीय कर्म के फल रूप है।

सच्चे निज सुख का प्रेम—जिस जीव का विश्वास शारीरिक तथा मानसिक सुखों से दूर हो गया है और जो आत्मिक सुख को ही सच्ची निधि मानता है, जानता है तथा उस पर हृदय से विश्वास करता है, वह क्षणमात्र में उस इंद्रिय जनित सुख रूप श्रेष्ठ वैभव को भी छोड़ देता है। श्रेष्ठिवर सुकुमाल को मुनिराज ने कहा था "अरे भोले प्राणी! तेरा जीवन तीन दिन शेष है; अब भी विषय सुखों की सेवा को छोड़कर परिग्रह का त्याग कर और मुनिपद को स्वीकार कर"। उस समय सुकुमाल के हृदय में गुरु के वचन पहुँच गए। उन्होंने वैभव को छोड़कर दिगम्बरत्व के मार्ग को प्रेम पूर्वक अंगीकार करके आत्महित की उच्च साधना की।

सागारधर्मामृत में लिखा है:

> शिरीष-सुकुमाराङ्गः खाद्यमानोऽतिनिर्दयं।
> शृगाल्या सुकुमारोऽसून् विससर्ज न सत्पथम् ॥ १०३—८

शिरीष पुष्प के समान कोमल देह वाले सुकुमाल मुनिराज का शरीर शृगाली ने अत्यन्त निर्दयता पूर्वक भक्षण किया; ऐसी स्थिति में

सुकुमाल ने प्राणों का परित्याग कर दिया, किन्तु प्रशस्त मार्ग को नहीं छोड़ा। इस प्रकार महान कष्ट सहन करते समय आर्तध्यान का उदय होना सहज स्वाभाविक बात थी, किन्तु सुकुमाल मुनि उस विकार से विमुक्त रहे आए और उन्होंने धर्मध्यान को नहीं छोड़ा।

योगी का अनुभव—इसका क्या रहस्य है, इस विषय में योगीश्वर पूज्यपाद स्वामी का कथन अत्यन्त गंभीर तथा अनुभव परिपूर्ण है। उन्होंने इष्टोपदेश में लिखा है :—

आत्मानुष्ठान-निष्ठस्य व्यवहार-बहिः स्थिते.।
जायते परमानदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥
आनंदो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतन. ॥ ४८ ॥

लोक व्यवहार को छोड़कर आत्मा के अनुष्ठान में निमग्न भेद विज्ञानी योगी को अध्यात्म योग के कारण परम आनन्द प्राप्त होता है। उस आत्मानन्द के द्वारा वह परिग्रह परित्यागी योगी बाह्य दुःखों के विषय में अचेतन सा-संज्ञा शून्य होता हुआ तनिक भी दुःखी नहीं होता है। इससे वह निरन्तर कर्म रूपी इंधन का नाश करता है।

विशुद्ध ध्यान के हेतु परिग्रह त्याग आवश्यक—ऐसी अवस्था परिग्रह त्यागी अहिंसा महाव्रती दिगम्बर मुनीश्वरों के ही होती है। वस्त्रादि परिग्रह की आकुलता तथा देखभाल में कहां श्रेष्ठ ध्यान हो सकता है। पात्रकेसरि स्तोत्र का यह कथन अत्यन्त मार्मिक तथा अनुभव पूर्ण है :—

परिग्रहवतां भयमवश्य मापद्यते।
प्रकोप-परिहिंसने च परुषानृत-व्याहृती ॥
ममत्व-मथ चौरतो स्वमनमश्च विभ्रान्तता ।
कुतो हि कलुषात्मनां परमशुक्लसद्-ध्यानता ॥ ४२ ॥

परिग्रह को धारण करने वालों के मनमें नियमतः भय का सद्भाव रहता है। क्रोध, हिंसा, के भाव होते हैं। कठोर तथा असत्य वचनालाप होता है। मनमें ममत्व भाव रहता है। चोरी की अशंका के कारण चित्त में चंचलता रहती है। ऐसे कलुषित परिणाम वालों के कैसे श्रेष्ठ शुक्ल ध्यान हो सकता है? यही कारण है कि ध्यान की उच्च अनुभूति पूर्ण चर्चा तथा चिन्तन में वे साधु वेष धारी लोग आगे नहीं आ पाते, जो परिग्रह-पिशाच के विकार से विमुक्त नहीं बन पाए हैं।

अंधानुकरण से हानि—मनुष्य अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचे कि क्या उसकी आत्मा मनस्वी सच्चे मुनियों के समान बन गई है या वह शारीरिक तथा मानसिक सुखों में उलझी हुई है, तब पता चल जायगा कि वह कितने पानी में है। अपनी सामर्थ्य तथा योग्यता का विचार बिना किए बड़ों का अनुकरण कभी-कभी संकट का कारण बन जाता है।

कहते हैं एक बैल की पीठ पर शक्कर लदी थी। उस कुशल वृषभराज ने नदी में से जाते समय कुछ क्षण पानी के भीतर बैठकर विश्राम किया। फलतः पानी ने शक्कर को शर्वत का रूप प्रदान किया। बैल का बोझा हलका हो गया। वह आनन्द से आगे बढ़ गया।

उस बैल को देखकर एक धोबी के गर्दभराज ने वैसा किया। उसकी पीठ पर कपड़ों का ढेर लदा था। पानी में बैठने से कपड़े पानी से गीले हो गए और उनका वजन घटने के स्थान में इतना बढ़ गया कि बेचारा गधा बैठने के बाद उठ न सका और उसे प्राणों से हाथ धोना पड़ा। बैल का बिना विचारे तथा अपनी परिस्थिति आदि को बिना सोचे गर्दभ राज ने अनुकरण कर जैसी दुर्गति पाई, वैसी ही स्थिति अध्यात्म के रहस्य को ठीक-ठीक न जानकर मुनीन्द्रों के मार्ग का अनुकरण करने वाला मूढ़राज अपनी तथा अपने साथियों की दुर्गति करता है।

श्रावक जीवन का सार—गृहस्थ जीवन संक्षिप्त शब्दों में इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है :—

सम्यक्त्वममलममला न्यणु-गुण-शिक्षाव्रतानि मरणान्ते ।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागार - धर्मोयम् ॥ १२—१

निर्मल सम्यग्दर्शन, निर्दोष अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षा व्रत रूप बारह व्रतों का पालन तथा मरण के अन्त में विधि पूर्वक सल्लेखना यह परिपूर्ण सागार धर्म अथवा उपासकाचार है।

कर्म की शक्तिः—पुरुषार्थी सत्पुरुष अपनी वासनाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ कर्मों के नाश का जोरदार उद्योग श्रमण अवस्था में आरम्भ करता है, किन्तु कर्मोदय की बलवत्ता भी नहीं भुलाई जा सकती। जिस कर्मोदय के कारण आत्मा अपने शाश्वतिक आनन्द का अनुभव नहीं ले पाता, सर्वज्ञता की दिव्य ज्योति से वंचित रहता है और संसार में जन्म-मरण का दुःख उठाया करता है, उस कर्म की शक्ति भी अपार माननी होगी। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है :—

कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गल दव्वस्स एरिसी सत्ती ।
केवलणाण-सहाओ विणासिदो जाइ जीवस्स ॥ २११ ॥

पुद्गल द्रव्य की भी कितनी अपूर्व शक्ति है, जिसने जीव के केवलज्ञान स्वभाव का लोप कर दिया है।

जिन कर्मों ने आत्मा को अनादिकाल से दास से भी गया बीता कर दिया है, उन कर्मों के विनाश का कार्य अत्यन्त गम्भीर है। सर्वज्ञ जिनेन्द्र के द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त शासन के प्रकाश में जीव यदि समर्थ उद्योग करता रहेगा, तो वह अवश्य जयश्री को प्राप्त करेगा। कर्मों के क्षय करने को रत्नत्रय रूपी अस्त्र चाहिए। वीरसेन स्वामी ने लिखा है "आचार्य परमेष्ठी रत्नत्रय रूपी तलवार के द्वारा मोहरूपी सेना का नाश करते हैं। उस रत्नत्रय का प्राणाधार सम्यग्दर्शन है, किन्तु सम्यक्चारित्र के बिना रत्नत्रय की पूर्णता असम्भव है। भगवान

ने प्रथम तथा सप्तम अङ्ग द्वारा सकल संयम तथा एक देश संयम के मार्ग पर प्रकाश डाला था।

आठवां अंतकृतदशांग—आठवें अंग का नाम अन्तकृत् दशांग है। एक एक तीर्थंकर के तीर्थकाल में दस-दस मुनिराज महान उपसर्ग सहन कर इन्द्र आदिक द्वारा की गई पूजा आदि प्रातिहार्य रूप प्रभावना को प्राप्त कर कर्म क्षय के अनन्तर संसार का अन्त कर मुक्त हुए। संसार का अन्त करने के कारण उन्हें अन्तकृत् कहा गया है। ऐसे अन्तकृत् दस महापुरुषों का वर्णन करने वाले आठवें अंग का नाम अन्तकृत् दशांग है।

वर्धमान भगवान के तीर्थ में (१) नमि, (२) मतंग, (३) सोमिल, (४) रामपुत्र, (५) सुदर्शन, (६) यमलोक, (७) वलिक, (८) किष्कंबिल, पालम्बष्ठ, (१०) पुत्र, ये अंतकृत केवली हुए। इसी प्रकार वृषभादि तीर्थंकरों के तीर्थ में दस दस अंतकृत् केवली हुए हैं।

नवम अनुत्तरौपपादिक अंग—नवम अंग का नाम अनुत्तरौपपादिक है। उपपाद है प्रयोजन जिनका उन्हें औपपादिक कहते हैं--"उपपादः प्रयोजन येषा ते औपपादिकाः" विजय, वेजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि रूप पंच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ संबंधी दस-दस मुनीश्वरों का वर्णन है, जिन्होंने महान उग्र उपसर्गों को शांतभाव से सहन कर बड़ी पूजा पाई, समाधिपूर्वक प्राणों का त्याग किया तथा अनुत्तर विमानों में जन्म लिया। वर्धमान भगवान के तीर्थ में जो दस महामुनीश्वर तथा घोर उपसर्ग विजेता सत्पुरुष हुए, उनके नाम आगम में इस प्रकार आए हैं (१) ऋजुदास (२) धन्य (३) सुनक्षत्र (४) कार्तिकेय (५) नन्द (६) नन्दन (७) शालिभद्र (८) अभय (९) वारिषेण (१०) चिलातपुत्र। इसी प्रकार वृषभादि तीर्थंकरों के तीर्थ में भी दस दस महामुनि हुए, जिन्होंने दारुण उपसर्ग सहन किया और इन्द्र आदि के द्वारा पूजा प्राप्त की तथा अनुत्तर विमान में जन्म प्राप्त किया।

प्रश्न व्याकरण दशमांग--प्रश्न व्याकरण नामका दसवां अंग है। इस अंग में प्रश्न के अनुसार हृत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवित-मरण, जय-पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का प्रश्न के अनुसार अतीत, अनागत तथा वर्तमानकाल संबंधी यथार्थ समाधान के उपाय रूप व्याख्यान किया गया है। "प्रश्नस्य व्याक्रियते यस्मिन् तत् प्रश्नव्याकरणं।" जिसमें त्रिकाल संबंधी प्रश्नों का निरूपण किया जाता है, वह प्रश्नव्याकरण है। इस अंग में शिष्य के प्रश्न के अनुसार चतुर्विध कथा का निरूपण किया गया है।

धवला टीका में (भाग १-पृष्ठ १०६) इन कथाओं का स्वरूप निरूपण करने वाला यह पद्य उद्धृत किया गया है--

> आक्षेपणीं तत्वविधानभूता विक्षेपिणीं तत्व-दिगंत-शुद्धिम्।
> संवेगिनीं धर्मफल-प्रपंचा निर्वेगिनीं चाह कथा विरागाम्॥

+तत्वों का निरूपण करने वाली आक्षेपणी कथा है। तत्व से विमुख हो दिशान्तर को प्राप्त हुई दृष्टियों का शोधन करने वाली अर्थात् एकांत मत का शोधन कर स्व समय (स्वसिद्धान्त) की स्थापना करने वाली विक्षेपिणी कथा है। धर्म के फल का विस्तार से वर्णन करने वाली संवेगिनी कथा है। वैराग्य उत्पन्न करने वाली निर्वेगिनी कथा है।×

वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में लिखा है कि जिसने जैनधर्म के रहस्य को नहीं समझा है, उसके समक्ष अन्य सिद्धान्तों की कथाओं का प्रतिपादन करने पर संभव है, कि व्याकुल चित्त श्रोता मिथ्यात्व को

+ आक्षिप्यते मोहात् तत्वं प्रत्याकृष्यते श्रोताऽनयेत्याक्षेपिणी-अभिधान-राजेन्द्रकोष।

× गोम्मटसार टीका में संवेगिनी के स्थान पर संवेजिनी तथा निर्वेगिनी के स्थान पर निर्वेजिनी नाम प्रयुक्त हुआ है।

स्वीकार कर ले। इसलिए उसके समक्ष शेष तीन कथाओं का उपदेश देना चाहिए, विक्षेपिणी का नहीं।+

जो पुण्य-पाप के स्वरूप को जानता है, जो जिन शासन में अनुरक्त है, जो भोग और विषयों से विरक्त है और तपशील और नियम से युक्त है, ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपिणी कथा का उपदेश देना चाहिए अर्थात् ऐसे सुसंस्कृत रुचिसंपन्न व्यक्ति के समक्ष एकान्तवाद का निराकरण रुप कठिन विवेचन करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि एकान्त सिद्धान्तों के निराकरण की कथा सामान्य दृष्टि वालों के समक्ष करना उचित नहीं है। वक्ता को विवेक से कार्य करना चाहिए। सत्कथा के श्रवण द्वारा श्रोता का अंतःकरण पवित्र होता है। श्रोता की पात्रता, योग्यता तथा रुचि को ध्यान में रखकर विवेकी वक्ता कथाओं का निरुपण करता है। यदि वक्ता ने विवेक से कार्य न किया तो, वह श्रोताओं को सच्चे कल्याण मार्ग में नहीं लगा सकेगा। धर्म का उपदेश देने वाले का कर्तव्य है, कि वह सच्चे मार्ग का प्रतिपादन करे।

जिनसेन स्वामी ने महापुराण मे लिखा है—

श्रेयोऽर्थं केवलं ब्रूयात् सन्मार्गं शृणुयाच्च वै।
श्रेयोऽर्था हि सतां चेष्टा न लोक-परिपंक्तये ॥ १४४-१ ॥

वक्ता को कल्याण मार्ग का निरूपण करना चाहिए तथा श्रोताओं को हितकारी मार्ग का उपदेश सुनना चाहिए। सत्पुरुषों की क्रियाएँ सच्चे कल्याण के लिए होती हैं, न कि लौकिक सन्मान आदि की प्राप्ति के लिए। उन्होंने इन कथाओं के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :—

+ श्रावक तथा मुनिधर्म के कथन रूप चरणानुयोग, तीर्थंकर आदि के चरित्र रूप प्रथमानुयोग, करणानुयोग तथा पंचास्तिकाय आदिक के कथन रूप द्रव्यानुयोग का अन्यमत की शंका रहित निरुपण करना आक्षेपणी कथा है— (जीवकांड टीका पृ० ७६८)

आक्षेपिणीं कथां कुर्यात्प्राज्ञः स्वमत-संग्रहे ।
विक्षेपिणीं कथां तज्ज्ञः कुर्याद् दुर्मत-निग्रहे ॥ १३५ ॥
संवेजिनीं कथां पुण्यफल – संपत्प्रपंचने ।
निर्वेदिनी कथां कुर्याद्वैराग्य-जननं प्रति ॥ १३६–१ ॥

बुद्धिमान पुरुष को अपने मत की स्थापना हेतु आक्षेपिणी कथा कहना चाहिए। मिथ्या मत का खण्डन के हेतु विशेषज्ञ को विक्षेपिणी कथा कहना चाहिये। पुण्य के फलस्वरूप संपत्ति का व्याख्यान करने के संवेजिनी कथा कहना चाहिए तथा वैराग्यभावों की उत्पत्ति के लिए निर्वेदिनी कथा कहना चाहिए। ×

सत्कथा के श्रवण द्वारा यह जीव पुण्य प्राप्त करता है। उसके फलस्वरूप वह लौकिक सुखों को प्राप्त करके आगामी मोक्ष को प्राप्त करता है। महापुराणकार के ये शब्द अत्यन्त मार्मिक हैं :—

सत्कथा – श्रवणात्पुण्यं श्रोतुर्यदुपचीयते ।
तेनाभ्युदय-ससिद्धिः क्रमान्नै- श्रेयसी स्थितिः ॥ १४७ १ ॥

सत्कथा के श्रवण से श्रोता को जो पुण्य प्राप्त होता है, उससे वह अभ्युदय को पाकर क्रम से मोक्ष को प्राप्त करता है।

ग्यारहवां अंग विपाक सूत्र—विपाकसूत्र नामके ग्यारहवें अंग में पुण्य और पाप रूप कर्मों के विपाक अर्थात फलों का वर्णन है—

× तत्र प्रथमानुयोग - करणानुयोग - चरणानुयोग - द्रव्यानुयोगरूप - परमागम - पदार्थानां तीर्थंकरादि वृत्तांत - लोकसंस्थान - देश - सकलयतिधर्म - पंचास्तिकायादीनां परमतशंकारहित कथन माक्षेपिणी कथा। प्रमाण-नयात्मक-युक्तियुक्तहेतुत्वादिबलेन सर्वथैकांतादि – परसमयार्थनिराकरणरूपा विक्षेपिणी कथा। रत्नत्रयात्मकधर्मानुष्ठान-फलभूत-तीर्थंकराद्यैश्वर्य-प्रभाव-तेजो-ज्ञान - सुखादि वर्णना रुपा संवेजनी कथा। संसारशरीर-भोग-रागजनितदुष्कर्मफलनारकादि - दुःख-दुष्कुल-विरुपांग-दारिद्रयापमान - दुःखादिवर्णनाद्वारेण वैराग्य - कथनरुपा निर्वेजनी कथा ॥ गो० जीवकाण्ड संस्कृत टीका पृ० ७६५–६६ ॥

"पुण्ण-पाव-कम्माणं विवायं वण्णेदि"।(धवला टीका, भा० १, पृ. १२७) शुभ अशुभ कर्मों का तीव्र, मंद, मध्यम भेद रूप शक्ति, स्वरूप, अनुभाग का द्रव्य, क्षेत्र-काल तथा भाव का आश्रय ले फलदान परिणति रूप उदय को विपाक कहा है। "विपाकं सूत्रयति वर्णयति इति विपाकसूत्रम्"- विपाक का वर्णन करने वाला विपाक सूत्र है।

बारहवां अंग दृष्टिवाद— बारहवें अंग का नाम दृष्टिवाद है; "एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ठ्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते"—इस दृष्टिवाद अंग में तीनसौ त्रेसठ मिथ्या दृष्टियों का निरूपण करने के साथ उनका निराकरण किया गया है।

इस दृष्टिवाद नामके अंग में कौत्कल, काण्ठे विद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, मांद्धपिक, रोमश, हारित, मुण्ड, आश्वलायन आदि एकसौ-अस्सी क्रियावादियों के मतों का; मारीचि, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाड्वलि, माठर, और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादियों के चौरासी मतों का, साकल्य, वाल्कलि, कुथुमि, सात्यमुग्री, नारायण, कठ, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्टिक्य, दैतिकायन, वसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादियों के सड़सठ मतों का तथा वसिष्ठ, पराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अगस्त्य आदि वैनयिक वादियों के बत्तीस कुमतों का वर्णन तथा निराकरण है।

३६३ कुवादियों की उपरोक्त संख्या का प्रतिपादन करने वाली यह गाथा सर्वार्थसिद्धि में पूज्यपाद स्वामी ने उद्धृत की है :—

असिदिसद किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीदि ।
सत्तच्छण्णाणीणं वेणइयाणं तु बत्तीसं ॥

उपरोक्त तीन सौ त्रेसठ एकान्तवादियों के सिवाय गोम्मटसार कर्मकाण्ड में दैववाद, पौरुषवाद, लोकवाद रूप एकान्तवादों का उल्लेख किया गया है। इन एकान्त सिद्धान्तों के द्वारा व्याकुलता उत्पन्न होती है तथा अज्ञानी व्यक्तियों के चित्त का हरण होता है—

पासंडिणं वाउलकारणाणि अण्णाणि चित्ताणि हरंति ताणि ॥ ८८६—
(गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

नयवाद—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने कर्मकांड में यह गाथा दी है—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णय-वादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥ ८९४ ॥

जितने वचन मार्ग हैं, उतने नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय हैं। सापेक्षता युक्त वाद नयवाद है; निरपेक्षता युक्त वे ही मिथ्यावाद हो जाते हैं।

सम्यक् तथा मिथ्या मत :—एकान्त पक्ष ग्रहण करने से अन्य पक्ष एकान्तवादी हो जाते हैं। कथंचित् अर्थात् अनेकान्तरूप पक्ष लेने से वे ही सम्यक्वाद हो जाते हैं। जैनमत तथा अन्य मत में यही अन्तर है। आचार्य कहते हैं :—

पर-समयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि-वयणादो ॥ ८९५ ॥

परमतों के वचन सर्वथा अर्थात् एकान्त रूप से कथन करने के कारण मिथ्या हैं। जैन सिद्धान्त के वचन कथंचित् अर्थात् अनेकान्त-वाद रूप होने से सम्यक् हैं।

इस प्रकार कथंचित् वाद के द्वारा एकान्तवादों का परस्पर का विरोध दूर किया जा सकता है।

असंख्यात नय—जैनागम में सप्तनयों का कथन किया गया है, किन्तु उनके अन्य भेद प्रभेदों की अपेक्षा असंख्यात भेद हो जाते हैं। धवला टीका में लिखा है—

"संक्षेपेण नयाः सप्तविधाः, अवान्तर-भेदेन पुनरसंख्येयाः"।

आचार्य कहते हैं, कि इन नयों का यथार्थ स्वरूप समझना हितकारी तथा आवश्यक है। धवला टीका में कहा है "व्यवहार कुशल

लोगों को इन नयों का स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये, अन्यथा पदार्थों के स्वरूप का प्रतिपादन और उनका ज्ञान नहीं हो सकता है।"+

नयवाद का अवबोध—जैन तत्व को ठीक समझने के लिए नयवाद का सम्यक् बोध आवश्यक है। आगम में कहा है × जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है, इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण है, उन्हें सिद्धान्त के ज्ञाता समझने चाहिये। इससे जिन्होंने सूत्र को ठीक रूप में समझ लिया है, उन्हें ही अर्थ संपादन में पदार्थों का परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि पदार्थों का ज्ञान नयवाद रूपी जंगल में छिपा हुआ है। इससे वह दुरधिगम्य है—जानने के लिए कठिन है।

शंका—नयों का कथन क्यों किया जाता है?

उत्तर—"नयै विना लोक-व्यवहारानुपपत्ते र्नया उच्यन्ते"—नयों के बिना लोक-व्यवहार नहीं चल सकता (पृ० ८३ ध० टी०)

परस्पर तंत्र नय - इनके विषय में यह बात मुख्य है, कि यदि ये परस्पर तंत्र हैं, तो इनके द्वारा लोक व्यवहार सम्यक् प्रकार संपन्न होता है। यदि नयों में स्वतंत्रता आ गई, तो वे दुर्नय हो जाते हैं। पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थ सिद्धि में लिखा है, "एते (नयाः) गुण-प्रधानतया परस्पर-तंत्राः सम्यग्दर्शन-हेतवः पुरुषार्थ-क्रिया-साधन-सामर्थ्यात् तन्त्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमानाः पटादि-संज्ञाः, स्वतंत्राश्चा-समर्थाः

+ एते च पुनर्व्यवहर्तृभिरवश्यम वगन्तव्याः, अन्यथार्थप्रतिपादना-वगमानुपपत्तेः" (धवला भाग १ पृष्ठ ९१)

× णत्थि णएहि विहूणं सुत्त अत्थो व्व जिणवर मदम्हि।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति ॥ ६८ ॥
तम्हा अहिगय-सुत्तेण अत्थ-संपायणम्हि जइयव्वं।
अत्थगई वि य णय-वाद-गहण-लीला दुरहियम्मा ॥ ६९ ॥
(धवला टीका भाग १, पृष्ठ ९१, उद्धृत गाथा)

(पृ. ५६ अ. १ सूत्र ३३) । ये नय गौण तथा मुख्य रूप होते हुए परस्पर में संबंधित रहते हुए सम्यग्दर्शन के कारण होते हैं। पुरुषार्थ की अर्थक्रिया-साधन में समर्थ होने से, जैसे तंतु आदिक यथायोग्य रीति से रखे जाने पर वस्त्रादि के नाम को प्राप्त करते हैं। यदि वे नय स्वतंत्र हो जाते हैं, तो सम्यग्दर्शन के हेतु नहीं होते हैं, इसी प्रकार तंतु भी निरपेक्ष हो यदि स्वतंत्र होते हैं, तो वे वस्त्र रूपता को नहीं धारण करते हैं। नयों के विषय में स्वतंत्रता का प्रवेश होते ही उनका सर्वनाश हो जाता है, तथा वे सम्यक्त्व के स्थान में मिथ्यात्व के दूत बन जाते हैं। दृष्टिवाद अंग में सम्यक् तथा विपरीत दोनों दृष्टियों का विशद वर्णन किया गया है।

दृष्टिवाद के पंचभेद— इस दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत तथा चूलिका रूप पंचभेद कहे गए हैं।

परिकर्म—परिकर्म का अर्थ है "परितः—सर्वतः कर्माणि-गणित करण-सूत्राणि यस्मिन् तत्परिकर्म"—जिसमें गुणाकार, भागहारादि रूप गणित के करण सूत्र पाए जाते हैं, वह परिकर्म है। उसके भेद हैं चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति । चन्द्र प्रज्ञप्ति तथा सूर्य प्रज्ञप्ति में चन्द्र तथा सूर्य के विमान, आयु, परिवार, गमन का प्रमाण आदि का वर्णन है। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीप सम्बन्धी मेरु गिरि, कुलाचल, क्षेत्र, वेदी, वनखण्ड, व्यंतरों के मन्दिर नदी आदि का वर्णन है।

द्वीपसागर प्रज्ञप्ति में असंख्यात द्वीप समुद्रों का वर्णन है। वहां रहनेवाले ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी देवों के आवास, उनमें पाए जानेवाले अकृत्रिम जिनमन्दिर आदि का निरूपण है।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति नामक परिकर्म में जीव, अजीवादि पदार्थों का तथा भव्य, अभव्यादि के भेद, प्रमाण लक्षणादि का वर्णन है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग तथा उपांग—व्याख्या प्रज्ञप्ति नामके पंचम अंग में अर्हन्त तीर्थंकर भगवान के सन्निधान में किए गए गणधर

देव के साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान किया गया है। दृष्टिवाद अंग के भेद रूप परिकर्म के पंचम भेद का नाम भी व्याख्या प्रज्ञप्ति है। इस व्याख्या-प्रज्ञप्ति में रूपी, अरूपी जीव, अजीव द्रव्यों, भव्य, अभव्य, अनंतर सिद्ध, परंपरा सिद्ध तथा अन्य वस्तुओं का कथन किया गया है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक पंचम अंग का कथन दो लाख अट्ठाईस-हजार पदों में किया गया है तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक दृष्टिवाद अंग के अंतर्भेद में चौरासी लाख छत्तीस हजार पदों में वर्णन किया गया है।+

सूत्र—इस दृष्टिवाद अंग के दूसरे भेद का नाम सूत्र है। „सूत्रयति कुदृष्टि-दर्शनानीति सूत्रम्"—× मिथ्यादर्शनों को जो सूचित

+ विशेषैः बहुप्रकारैः राख्यातं किमस्ति जीवः ? किं नास्ति जीवः ? किमेको जीवः ? किमनेको जीवः ? किं नित्यो जीवः ? किमनित्यो जीवः ? किं वक्तव्यो जीवः ? किमवक्तव्यो जीव इत्यादीनि षष्टिसहस्र-संख्यानि भगवदर्हत्तीर्थ-करसन्निधौ गणधरदेवप्रश्न-वाक्यानि प्रज्ञाप्यंते कथ्यंते यस्यां सा व्याख्याप्रज्ञप्तिनाम पंचममंगम्। पृ. ७६१ ॥

दृष्टिवादांगे अधिकाराः पंच। ते के ? परिकर्म, सूत्रं, प्रथमानुयोगः पूर्वगतं चूलिका चेति। परिकर्म पंचविधं चंद्रप्रज्ञप्तिः सूर्यप्रज्ञप्तिः जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीप-सागर प्रज्ञप्तिः व्याख्या-प्रज्ञप्तिश्च।

व्याख्या-प्रज्ञप्तिः रूप्यरूपिजीवा-जीव-द्रव्याणां भव्याभव्यभेद-प्रमाणलक्ष-णानां अनंतर-सिद्ध-परंपरा-सिद्धानां अन्यवस्तूनां च वर्णनं करोति (पृ. ७७३ गो. जी. संस्कृत टीका)।

× सूत्रयति—सूत्रयति-कुदृष्टि दर्शनानीति सूत्रं। जीवः अबंधकः, अकर्ता, निर्गुणः, अभोक्ता, स्वप्रकाशकः, परप्रकाशकः, अस्त्येव जीवः नास्त्येव जीवः इत्यादि क्रिया ऽ क्रियाज्ञान-विनय-कुदृष्टीनां त्रिषष्ठयुत्तर-त्रिशत-मिथ्यादर्शनानि पूर्व पक्षतया कथयति "गो० जी० सं० टीका पृ० ७७३।

क्रमशः

करता है, वह सूत्र है। उसमें एकान्तवाद का निरूपण है, जैसे जीव अबंधक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुरूप ही है, अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, पंचभूतों के समुदाय से जीव उत्पन्न होता है, जीव चेतना रहित है, ज्ञान के विना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है, इत्यादि रूप से क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियों के तीन सौ त्रेसठ मतों का पूर्व पक्ष रूप से वर्णन करता है। इसमें त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद और पुरुषवाद का भी वर्णन है।

त्रैराशिकवाद का प्रवर्तक गोशाल आजीवक था। वह सभी वस्तुओं को त्रिराशि रूप मानता था, यथा जीव, अजीव, जीवाजीव; लोक अलोक, लोकालोक; सत्, असत्, सदसत्; द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय उभयार्थिक नय इत्यादि।

नियतिवाद रूप मिथ्यावाद का स्वरूप कर्मकाण्ड गोम्मटसार में इस प्रकार कहा है:—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदिवादो णियदिवादो दु॥ ८८२॥

जो, जिस समय, जिससे, जैसे, जिसके नियम से होता है, वह उस समय उससे, तैसे, उसके ही होता है—ऐसा नियम से सब वस्तु को मानना नियतिवाद है। यह मिथ्यावाद है। प्रत्येक कार्य का सद्भाव

शेषांश

इस कथन से यह स्पष्ट होता है, कि जो जीव को सर्वथा बंध रहित मानते हैं, उसे सिद्ध स्वरूप ही मानते हैं, उसे कर्मों का सर्वथा अकर्ता मानते हैं तथा आत्मा को कर्मों का सर्वथा अभोक्ता मानते हैं, वे सब तीन सौ त्रेसठ मिथ्यावादियों के अंग रूप हैं। अध्यात्म शास्त्र जीव को कथंचित् बंध रहित, कथंचित् अकर्ता, कथंचित् अभोक्ता मानता है। जो भी जीव को सर्वथा बंध रहित, अकर्ता मानता है, वह सम्यक्त्व की ज्योति से पूर्णतया शून्य है, ऐसा परमागम कहता है।

असद्भाव अपने-अपने कारण कलाप के सद्भाव असद्भाव पर निर्भर है। पूर्ण कारण-सामग्री होने पर कार्य अवश्य होगा, उसके पूर्ण न होने पर कार्य नहीं होगा। कोई नियति नामका स्वतंत्र तत्व नहीं है, जिससे परिणमन नियंत्रित होता है।

बाह्य अर्थ का लोप करने वाले ज्ञान को ही परमार्थ सत्य मानने वाला विज्ञानवाद भी एकान्तमत है। शब्द-वाद में शब्दाद्वैत रूप एकान्त तत्व माना गया है। सत्व, रज तथा तम की साम्यावस्था रूप प्रधान को मानने वाला सिद्धान्त प्रधानवाद है। द्रव्यवादी एकान्त नित्य द्रव्य को सत्य मानता है। पुरुषवाद में पुरुषार्थ का एकान्त अथवा ब्रह्म रूप पुरुष को ही परमार्थ सत्य मानने का समावेश है।

तीसरा भेद प्रथमानुयोग— दृष्टिवाद के प्रथमानुयोग नामके तीसरे भेद में पंच सहस्र पदों द्वारा द्वादश प्रकार के पुराणों का वर्णन किया है। + वे पुराण जिनवंश तथा राजवंशों का वर्णन करते हैं। वे वंश (१) अरहंत, (२) चक्रवर्ती, (३) विद्याधर, (४) नारायण, प्रति-नारायण, (५) चारण मुनिराज, (६) प्रज्ञा श्रमण मुनीश्वरों का वंश, (७) कुरुवंश, (८) हरिवंश, (९) इक्ष्वाकुवंश, (१०) काश्यप

+ प्रथमानुयोगः प्रथमं मिथ्यादृष्टिमव्रतिकमव्युत्पन्नं वा प्रतिपाद्यमाश्रित्य प्रवृत्तो-ऽनुयोगो ऽधिकारः प्रथमानुयोगः। चतुर्विंशति-तीर्थंकर-द्वादशचक्रवर्ति-नव-बलदेव-नववासुदेव-नव – प्रतिवासुदेवरूप-त्रिषष्टि – शलाकापुरुष-पुराणानि वर्णयति (पृ. ७७३ गो. जी. सं. टी.)

जलगया जलगमण-जलत्थंभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि। थलगया भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत तवच्छरणाणि वत्थु-विज्जं भूमि संबंधमण्णं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि। मायागया इंद-जालं वण्णेदि। रूवगया सीहहय-हरिणादि-रूवायारेण परिणमण-हेदु-मंत-तंत-तवच्छरणाणि चित्त-कट्ठ-लेप्पकम्मादि-लक्खणं च वण्णेदि। आयासगया आगास-गमण-णिमित्त-मंत-तंत तवच्छरणाणि वण्णेदि। ध. टी. भा. १ पृ. ११३

वंश, (११) वादी मुनीश्वरों का वंश तथा (१२) नाथ वंश रूप कहे गए हैं। (ध. टी. भा. १ पृ. ११२)

चतुर्थ भेद पूर्वगत—चौथे भेद पूर्वगत भेद के चौदह विभाग कहे गए हैं। इन पूर्वों पर आगम में विस्तृत विवेचन है।

पंचम भेद चूलिका में आश्चर्यप्रद सामग्री—चूलिका जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के भेद से पंच विध बताई गई है।

जल का स्तंभन, जलमें गमन करना, अग्नि स्तंभन करना, अग्नि का भक्षण करना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरणादि का कथन जलगता चूलिका में किया गया है।

स्थलगता चूलिका में पृथ्वी के भीतर गमन करने के कारण रूप मन्त्र, तन्त्र, तपश्चरण रूप आश्चर्य आदि का तथा वास्तु विद्या और भूमि सम्बन्धी दूसरे शुभ, अशुभ कारणों का कथन है।

मायागता चूलिका में इन्द्रजाल आदि के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का वर्णन है।

रूपगता चूलिका में सिंह, घोड़ा और हरिणादिके स्वरूप के आकाररूप से परिणमन करने के कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का चित्रकर्म, काष्ठ कर्म, लेप्यकर्म और लेनकर्म, धातु, रसायनादि का कथन है।

आकाश गता चूलिका में आकाश में गमन करने के कारण भूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरण का कथन है। (ध. टी. पृ. ११३)

यह बात स्मरण योग्य है, कि पूर्वोक्त आचारांग आदि रूप द्वादशांग वाणी में प्रतिपादित महान विज्ञान का इस समय लोप हो गया है। उसमें वर्णित सामग्री ऐसी चमत्कारपूर्ण थी, कि उसके आगे वर्तमान भौतिक विज्ञान को भी हतप्रभ होना पड़ता। द्वादशांग के ज्ञाता श्रुतकेवली को इन सभी रहस्यपूर्ण विद्याओं का परिज्ञान था। उनकी

मनोवृत्ति वीतरागतापूर्ण रहने से वे महर्षि इन विद्याओं से अपने किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि नहीं करते थे। वे सच्चे मुमुक्षु थे और मोक्ष-पुरुषार्थ की सिद्धि के कार्य में पूर्ण रीति से सर्वदा सावधानीपूर्वक संलग्न रहते थे।

भगवान की दिव्यध्वनि में विश्व के समस्त पदार्थों का वर्णन किया गया था, जिसे महाज्ञानी गौतम गणधर ने द्वादशांग रूप में निबद्ध किया था। प्रभु की वाणी के ये शब्द चिरस्मरणीय हैं—

अभयं यच्छ जीवेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥

सम्पूर्ण जीवों को अभय प्रदान करो। निर्दोष मैत्री को अपने जीवन में स्थान दो तथा चराचर संपूर्ण जीवलोक को अपने समान समझो।

जगत् अभय चाहता है किन्तु वह दूसरों को अभयपूर्ण स्थिति में नहीं रहने देना चाहता। भगवान ने कहा, यदि तुम प्राणमात्र के प्रति आत्मीय भावना धारण करते हुए उनको मैत्री भाव से अपनाते हो, तो व्यक्तिगत जीवन के सिवाय समष्टि को भी सुख होगा। संकीर्ण और जघन्य स्वार्थ से पराभूत मानव दानव के क्रूर पथ को पकड़ता जा रहा है, इसीलिए वह वास्तविक आनन्द की उपलब्धि न होने के कारण व्यथित हो रहा है। भगवान ने आत्मदृष्टि को खोलकर विशुद्ध जीवन बनाने का उपदेश दिया है। अपनी धर्मसभा अर्थात् समव शरण में विद्यमान देव, मानव, पशु-पक्षी आदि को भगवान ने कहा था, कि वे अपने को चैतन्य-पुञ्ज अनन्त-शक्ति युक्त आत्मा मानते हुए कर्मों के कुचक्र से बचें। इसके लिए उन्होंने सम्यग्ज्ञान की समाराधना हेतु प्रेरणा प्रदान की थी।

आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में उन्होंने कहा था—

णाणप्पभास-विहीणो सपर तच्चं ण जाणए कि पि।
झाणं तस्स ण होई हु ताव ण कम्मं खवेइ णहु मोक्खो ॥ ७४ ॥

ज्ञानाभ्यास के बिना यह जीव आत्मतत्व तथा परतत्व को नहीं जानता। स्व और पर के विश्लेषणात्मक ज्ञान के अभाव में ध्यान की सिद्धि भी नहीं होती। ध्यान के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता और न मोक्ष ही प्राप्त होता है। इसलिए सतत ज्ञानाभ्यास आवश्यक है।

महाश्रमण १००८ तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर प्रभु की दिव्यध्वनि के द्वारा विपुलगिरि पर आगत भव्य जीवों का महान कल्याण हुआ। मोह के विष से मूर्छित आत्माओं को रत्नत्रय की संजीविनी मिली, जिससे उनकी मोहजनित मूर्छा दूर हुई और वे सब यथा शक्ति आत्मकल्याण के कार्यों में लग गए। जीवन को नवीन स्फूर्ति प्राप्त हुई।

जिस प्रकार सूर्य उदयाचल पर दर्शन देकर जगत् को प्रकाश और आनन्द प्रदान करता हुआ गतिशील हो बढ़ता जाता है, इसी प्रकार भव्यजीवों के सौभाग्य और पुण्य से प्रेरित हो महावीर भगवान ने विपुलाचल से प्रस्थान कर दिया और उनका विहार लोक-कल्याण के लिए विविध देशों में धर्म-वर्षा हेतु प्रारंभ हुआ। तीर्थंकर के विहारकाल का महापुराणकार इन शब्दों में चित्रण करते हैं :—

भगवान के विहार का चित्रण :—

अथ त्रिभुवन क्षोभी तीर्थकृत् पुण्यसारथिः।
भव्याब्जानुग्रह कर्तुम् उत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥

तीन भुवन में हलचल उत्पन्न करने वाले, तीर्थंकर रूप पुण्य प्रकृति है सारथी जिनकी ऐसे जिनेन्द्रदेव रूपी सूर्य भव्यजीव रूपी कमलों का कल्याण करने को तत्पर हुए।

जब भगवान ने विहार करना प्रारंभ किया, उस समय करोड़ों देव इधर उधर चलने लगे थे। भगवान के उस दिग्विजय के समय घबड़ाए हुए इंद्रों के मुकुटों से विचलित हुए मणि ऐसे जान पड़ते थे मानों जगत् जिनेन्द्र की आरती ही कर रहा हो। उस समय जय घोषणा करते हुए अपने तेज से नभोमण्डल को प्रकाशित करते हुए सुरवृन्द चल रहे थे। इस प्रकार सुरासुर समूह सहित भगवान ने

सूर्य के समान इच्छा रहित वृत्ति को धारण कर प्रस्थान किया। उस समय देव प्रभु की सेवा में महान भक्तिपूर्वक संलग्न थे। मंद सुगंध पवन बह रही थी। एक योजन प्रमाण भूमि को पवन कुमार देव भाड़ बुहार कर स्वच्छ करते जाते थे। मेघकुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करते थे, जिससे धूलि शान्त रहे। भगवान के चरणों के नीचे देवगण कमलों की रचना करते जाते थे। भगवान के आगे २ एक हजार आरों वाला धर्मचक्र चल रहा था। उसके आगे अष्ट मंगल द्रव्य थीं तथा ध्वजा फहरा रही थीं। भगवान के पीछे २ सुरासुर वृन्द चल रहा था। उस समय दुंदुभि का मधुर तथा गंभीर शब्द हो रहा था। पुष्पों की आकाश से वर्षा हो रही थी। दिशाओं को व्याप्त करता हुआ भेरीनाद हो रहा था। देवांगनाएँ नृत्य कर रहीं थी। देवगण पुण्य पाठ पढ़ रहे थे। किन्नर देव गीत गाते थे। गंधर्व विद्याधरों के साथ वीणा बजा रहे थे।

प्रकृति की सुषमा :—समस्त दिशाएं निर्मल हो गई थीं। पृथ्वी धान्यों से सुशोभित हो रही थी। वृक्ष पुष्पों से शोभायमान हो रहे थे। चार सौ कोश तक सुभिक्ष हो गया था। सर्वत्र कल्याण और आरोग्य था। पृथ्वी प्राणि हिंसा से रहित हो गई थी। सब जीवों में परस्पर में मैत्री हो गई थी।

यतो विजह्रे भगवान् हेमाब्ज - न्यस्त - सत्क्रमः।
धर्मामृताम्बु - सवर्षैस्ततो भव्या धृतिं दधुः ॥ २८२ ॥

सुवर्णमय कमलों पर पैर रखने वाले भगवान ने जहाँ-जहाँ से विहार किया, वहाँ-वहाँ के भव्यजीवों ने धर्मामृत रूप जल की वर्षा को प्राप्त कर परम संतोष को प्राप्त किया था।

महावीर भगवान ने मगध देश को कृतार्थ करने के पश्चात् मध्यप्रदेश की ओर विहार किया था।

आर्य देशों में विहार :—हरिवंश पुराण में लिखा है :—

मध्यप्रदेशे जिनेशेन धर्मे तीर्थे प्रवर्तिते ।
सर्वेष्वपि च देशेषु तीर्थमोहो न्यवर्तत ॥ १-सर्ग ३ ॥

महावीर प्रभु द्वारा मध्यप्रदेश में धर्म तीर्थ के प्रवर्तन होने पर अन्य देशों में भी तीर्थ सम्बन्धी मोह भाव दूर हो गया था ।

आशयाः स्वच्छतां जग्मु जिनेन्द्रोदय - दर्शनात् ।
लोकेऽगस्त्योदये तद्वत् कलुषाश्च जलाशयाः ॥ २ ॥

जिस प्रकार अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने पर सरोवर का जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार भगवान महावीर के उदय से राग द्वेषादि से मलिन मानवों का मन निर्मल हो गया था । भगवान ने आर्य देशों में विहारकर लोगों को अहिंसामय धर्म में लगाया था । हरिवंश पुराण में भगवान के विहार से पुनीत हुए देशों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं :—

+ काशी, कौशल, कौशल्य, कुसंध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पंचाल, भद्रकार, पाटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन एवं वृकार्थक ये मध्य के देश हैं । कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, काम्बोज, वाल्हीक, यवन, श्रुति, सिन्धु, गांधार, सौवीर, सूर, भीरू, दशेरुक, वाड्वान, भारद्वाज और क्वाथतोय ये समुद्र तट के देश हैं । तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि उत्तर के देशों में भगवान ने विहार किया था ।

+ काशि-कौशल-कौशल्य-कुसंध्याश्वष्ट नामकान् ।
साल्व - त्रिगर्त-पंचाल - भद्रकार - पटच्चरान् ॥
मौक - मत्स्यकनीयांश्च सूरसेन - वृकार्थपान् ।
मध्यदेशानिमान मान्यान कलिंग-कुरुजांगलान् ॥ ४ ॥
कैकेयाऽऽत्रेयाम्बोज - वाल्हीक - यवन-श्रुतीन् ।
सिंधु-गांधार-सौवीर - सूर - भीरुदशेरुकान् ॥ ५२ सर्ग ३ ॥
वाडवान-भरद्वाज - क्वाथतोयान् समुद्रजान् ।
उत्तरास्तार्णा कार्णाश्च देशान् प्रच्छालनामकान् ॥६-३ ॥

द्योतमाने जिनादित्ये केवलोद्योत - भास्करे।
क्व लीना इति न ज्ञातास्तीर्थ - खद्योत - संपदः ॥८॥

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर जुगुनू का प्रकाश विलीन हो जाता है, उसी प्रकार भगवान वर्धमान रूपी सूर्य के उदय होने पर मिथ्यामत रूपी खद्योत कहां चले गये थे, यह बात कोई नहीं जानता था।

पुनः मगध का भाग्य जगा--भगवान का वैभव अद्भुत था। उनकी दिव्यध्वनि साक्षात् अमृत की धारा समान थी। उसे कर्ण द्वारा श्रवण कर तीन लोक के जीव अपूर्व आनन्द तथा संतोष को प्राप्त करते थे। अनेक देशों में धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हुए भगवान वर्धमान प्रभु पुनः मगध के जीवों के पुण्योदय से राजगृह के विपुलाचल पर पधारे।

प्राति-हार्यादि-विभवैः विहृत्य विषयान् बहून्।
अर्च्यमानः सुरैरायामागधं विषय विभुः ॥ १६ ॥

वे भगवान प्रातिहार्यादि वैभव संपन्न हो देवों के द्वारा पूजित होते हुए बहुत से देशों में विहार करने के पश्चात् पुनः मगध देश में आए। उस समय उनके इंद्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति शुचिदत्त, सुधर्म, मांडव्य, मौर्यपुत्र, अकंपन, अचल, मेदार्य तथा प्रभास ये एकादश गणधर थे। इनके चौदह हजार शिष्य थे। उनमें तीन सौ पूर्व के पाठी, नौ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारक, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी, चार सौ परवादी विजेता तथा नौ हजार नौ सो सामान्य मुनिराज थे। पैंतीस हजार आर्यिका थीं। एक लाख श्रावक तथा तीन लाख श्राविका थीं। उस समय समवशरण की अपूर्व शोभा थी। (हरिवंशपुराण)

विपुलाचल का सौभाग्य—अब विपुलाचल का भाग्य पुनः जग उठा। राजगृह का जनसमुद्र समवशरण की अद्भुत शोभा दर्शन के हेतु और

उत्तरपुराण में चंदना आदि छत्तीस हजार आर्यिका कही हैं पर्व ७४--३७६। ऐसा ही तिलोयपण्णत्ति में कहा है (अ० ४—११७६)

देवाधिदेव भगवान वर्धमान तीर्थंकर की अमृतमयी देशना सुनने की तीव्र लालसावश विपुलाचल की ओर बढ़ा। मगध की राजधानी में विविध महोत्सवों के समय भी सदा चहल पहल हुआ करती थी, किन्तु इस समय का यह महान संरम्भ कल्पनातीत था। मानव समाज के सिवाय तिर्यंच भी प्रभु के समवशरण में जाने को उद्यत हो रहे थे।

समवशरण में पहुँचने वालों को प्रभात में पौद्गलिक सूर्य के साथ वीर भगवान रूप आध्यात्मिक सूर्य के भी दर्शन हुए। यह तो समवशरण का दिव्य प्रभाव था, कि वहाँ अपरिमित जन समुदाय बिना किसी कठिनता के शान्तता पूर्वक समा गया था।

भगवान का दिव्य दर्शन :—भाग्यशाली भव्यात्माओं ने देखा, कि भगवान श्रीमंडप में गंधकुटी से चार अंगुल ऊंचाई पर अंतरिक्ष में विराजमान हैं। पृष्ठ भाग में अशोक वृक्ष है। चौसठ चमर ढुराए जा रहे हैं। उन्हे देखकर सब भावुक भक्त यह सोचते थे, कि इन चमरों की तरह विनम्रभाव से जो इन वर्धमान भगवान के पादपद्मों को प्रणाम करता है, वह शीघ्र ही उनके ही सदृश उर्ध्वगति को प्राप्त होता है। देवगण पुष्पों की वर्षा कर रहे थे। प्रभामण्डल के समक्ष प्रभाकर की प्रभा क्षीण हो गई थी। मधुर-मधुर दुंदुभि की ध्वनि हो रही थी। छत्रत्रय स्पष्टतया सूचित करते थे, कि भगवान त्रिभुवन के स्वामी हो चुके हैं। दीक्षा लेने पर भगवान ने भूतल को अपना आसन बनाया था, किन्तु केवलज्ञान होने पर पुण्योदय वश वहाँ सिंहासन की रचना हो गई थी। उस स्थल का वैभव कल्पनातीत सौन्दर्य, आश्चर्य तथा शान्ति का केन्द्र हो गया था। उसे देखकर प्रत्येक के हृदय में महावीर तीर्थंकर की महत्ता अंकित होती थी। इनके सिवाय श्रेष्ठ विभूति भगवान की दिव्यध्वनि थी, जिसके द्वारा सर्वांगीण सत्य तत्व प्रत्येक के अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होता था।

स्वामी समंतभद्राचार्य ने जिनेन्द्र महावीर की दिव्य देशना को अपनी अभिवंदना का यह कारण बताया है कि भगवान के द्वारा प्ररूपित

तत्त्व युक्ति, अनुभव तथा अन्य प्रमाणों से अबाधित होता था। उसमें पूर्वापर विरोध नहीं रहता था। उस वाणी को सुनकर जीव अमृतपान के समान हर्षित होते हुए अमृतपद को प्राप्त करने के लिए जिनेन्द्र के द्वारा प्ररूपित मोक्षमार्ग में सोत्साह संलग्न हो जाते थे।

समवशरण में तेजोमय विभूतियां :—इन तेजःपुंज भगवान के प्रभाव से बड़े-बड़े वैभवशाली नरेशों ने भी दिगम्बर मुद्रा धारण कर उन वीर प्रभु के सानिध्य में आत्म विकास का श्रेष्ठ उद्योग आरम्भ किया था। भगवान की धर्म सभा के प्रथम प्रकोष्ठ में गौतम गणधर विराजमान थे। उनके समीप अनेक विभूतिमान सत्पुरुष भी वीर जिनेश्वर की दिगम्बर मुद्रा धारण किए हुए विराजमान थे।

एक तेजोमय विभूति को दिव्य सौन्दर्य समलंकृत देखकर राजा श्रेणिक के मन में यह शंका उत्पन्न हो गई थी, कि मुनियों के कोठे में यह दिव्यात्मा कैसे आ गई; क्योंकि देवगण मुनिपदवी स्वीकार करने में असमर्थ हैं। ऐसी अद्भुत स्थिति समवशरण में कैसे उत्पन्न हो गई? देवता दिगम्बर मुद्रा को स्वीकार कर स्वच्छंद प्रवृत्ति करेंगे, और वह भी तेजोनिधि भगवान महावीर स्वामी के समक्ष! ऐसा होना असंभव है। ऐसी स्थिति में यह घटना कैसे घटित हो गई, इसका क्या रहस्य है? आचार्य वादीभसिंह ने गद्य चिंतामणि में यह प्रश्न इस प्रकार व्यक्त किया है?

नानाभोग-पयोधि-मग्नमतयो वैराग्य-दूरोज्झिताः।
देवा न प्रभवंति दुःसहतमां वोढुं मुनीनां धुरम्।
इत्याहुः परमागमस्य परमा काष्ठामधिष्ठास्तव-
स्तद्देवो मुनिवेषमेष कलयन्दश्येत् कस्मादिति ॥ १३ ॥

अनेक प्रकार के सुखोपभोग के सिंधु में निमग्न बुद्धि धारक देव वैराग्यभाव से दूर रहते हैं। इससे वे अत्यन्त कठिन मुनि जीवन का भार उठाने में असमर्थ होते हैं, ऐसा परमागम के अधिष्ठाता जिनेन्द्रदेव

का कथन है। ऐसी स्थिति में मुनि के वेष को धारण करने वाला यह देव इस समवशरण में क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है ?

इस प्रश्न के समाधानार्थ आगे के पद्य में यह कहा गया है :—

इत्थं पृच्छति पार्थिवे गणधरस्तद्वृत्तमाख्यातवा–
न्राजन्नेष सुरः पुरा नरपतिर्विश्वंभरा–विश्रुतः।
वैराग्येण तृणाय राज्यमतुलं मत्वा विमुच्याशुतत्–
प्राविक्षत्पदवीं तपोधनगतां गीर्वाणतुल्याकृतिः॥ १४॥

दिव्य सौन्दर्यशाली जीवंधर मुनीश्वर :– राजा श्रेणिक का ऐसा प्रश्न सुनकर सुधर्माचार्य + नाम के गणधर देव ने कहा राजन्! यह महापुरुष पूर्व में पृथ्वी में विख्यात नरपति था। वैराग्य भाव उत्पन्न होने से यह अपने विशाल साम्राज्य को तृण तुल्य मानने लगा था, और इसने शीघ्र ही उस राज्य का परित्याग कर तपोधन की पदवी को प्राप्त किया। इसकी आकृति देवता के समान सुन्दर है।

ये मुनीश्वर पहिले हेमांगद देश के राजा सत्यंधर के पुत्र जीवंधर थे। एक दिन इनके हृदय में वैराग्यभाव उत्पन्न हो गया। इन्होंने सुरमलय उद्यान में वीरप्रभु से दीक्षा ली। उनकी रानियों ने, उन रानियों की माताओं ने, जीवंधर स्वामी की माता वैराग्यमूर्ति विजयादेवी ने चन्दना आर्यिका के पास साध्वी का पद ग्रहण किया। जीवंधर महाराज के मामा, उनके भाइयों तथा अनेक राजाओं ने भी जीवंधर स्वामी का अनुकरण कर दीक्षा ली थी। इस प्रसंग पर गुणभद्र स्वामी की यह सूक्ति बड़ी अनुभवपूर्ण है, "भुक्तभोगाः हि निष्कांक्षाः भवंति भुवनेश्वराः"—राजा लोग भोगों को भोगकर इच्छाओं के परितृप्त हो जाने से आकांक्षा रहित हो जाते हैं। गणधर ने श्रेणिक महाराज से कहा था :—

+ यह उत्तर गौतम गणधर के स्थान में सुधर्म गणधर ने दिया था, "श्रेणिक प्रश्नमुद्दिश्य सुधर्मो गणनायक उवाच"—क्षत्र-चूडामणिः(१ —३)

भवता परिपृष्टोयं जीवंधरमुनीश्वरः।
महीयान् सुतपा राजन् संप्रति श्रुतकेवली ॥ ६८२ ॥ पर्व ७५ ॥उ: पु.

हे राजन्! जिनके विषय में तुमने पूछा था, वे ही ये जीवंधर महामुनि हैं। ये महान् तपस्वी हैं। इस समय ये श्रुतकेवली हैं।

घातिकर्माणि विध्वस्य जनित्वाऽग्रहकेवली।
सार्धं विहृत्य तीर्थेशा तस्मिन्मुक्तिमधिष्ठिते ॥ ६८६ ॥ ७५ ॥

ये घातिया कर्मों का नाशकर अगृह केवली होंगे। ये तीर्थंकर महावीर प्रभु के साथ विहार करेंगे।

जीवंधर स्वामी का निर्वाण स्थल विपुलाचल :—

विपुलाद्रौ हताशेषकर्मा शर्माग्र्यमेष्यति।
इष्टाष्टगुण-संपूर्णो निष्ठितात्मा निरंजनः ॥ ६८७ ॥ ७५ ॥

ये महावीर भगवान के मोक्ष जाने पर इस विपुल गिरि पर समस्त कर्मों का क्षय करेंगे तथा यहाँ से श्रेष्ठ कल्याण मोक्ष को प्राप्त करेंगे। उनका कृत-कृत्य आत्मा इष्ट गुणाष्टक से समलंकृत होकर कर्मरूपी कलंक रहित हो जायगा।

महाराज जीवंधर की दीक्षा :—गद्यचिंतामणि में जीवंधर महाराज की दीक्षा का इस प्रकार चित्रण किया गया है। वे वीर प्रभु के चरणों के समीप पहुँचे और उन्होंने प्रभु की स्तुति में कहा —

अभानुभेद्यं तिमिरं नराणां।
ससारसंज्ञं सहसा निगृह्णन् ॥
अस्माकमाविष्कृत-मुक्तिवर्त्मा।
श्रीवर्धमानः शिवमातनोतु ॥

श्री वर्धमान भगवान मनुष्यों के, भानु के द्वारा अभेद्य जगत् रूप, अंधकार का उच्छेद करते हुए मोक्ष पथ को प्रदर्शित करके हमें मुक्ति प्रदान करें।

इसके पश्चात् "व्यजिज्ञपच्च विनयावनम्र-मौलिः कुड्मलित-करपुटः कौरवः काश्यपगोत्रजो जीवको नाम। जिननायक! प्रसीद प्रव्रजामि"—विनय से अपने मस्तक को झुकाकर तथा हाथ जोड़कर जीवंधर ने इस प्रकार निवेदन किया, "हे जिन नायक! मैं कुरुवंशी काश्यपगोत्री जीवक हूँ। मैं दिगम्बर दीक्षा धारण करता हूँ। मुझ पर कृपा कीजिए।"

भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। "लेभे च हितमेतत् इति हितमित-मधुर-स्निग्ध-गंभीरां दिव्यं गिरम्"। उस हित, मित, मधुर, प्रिय तथा गंभीर दिव्य ध्वनि में ये शब्द उत्पन्न हुए, यह दीक्षा धारण करना तुम्हारे लिए हितकारी है।

इस प्रकार भगवान का महाप्रसाद ग्रहण करने के पश्चात् वे गणधर के समीप पहुँचे और बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रह का त्याग करके "परमं संयमं दधौ"—श्रेष्ठ संयम को अंगीकार किया। (एकादशो लम्बः पृ० २५३-२५४)

धर्मरुचि मुनि की मधुर जीवनी :—भगवान के समवशरण में धर्मरुचि नामके महामुनि थे। वे पहिले चंपानगरी के राजा थे। उनका नाम श्वेतवाहन था। भगवान नेमिनाथ के उपदेश को सुनकर उन्होंने विमलवाहन पुत्र को राज्य दे अनेक लोगों के साथ दीक्षा धारण की।

उनका धर्मरुचि नाम क्यों रखा गया, इसका कारण उत्तरपुराण में इन शब्दों में बताया गया है :—

> धर्मेषु रुचिमातन्वन् दशस्वप्यनिशं जनैः।
> प्राप्तधर्मरुचिः ख्यातिः सख्यं यत्सर्वजंतुषु ॥ ११-पर्व ७६ ॥

वे उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों में सदा रुचि धारण करते थे। इससे लोगों के द्वारा धर्मरुचि रूप में विख्यात हुए। सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव रखना ही धर्मरुचि है।

वे महान तपस्वी थे। मासोपवास के पश्चात् वे आहार के राजगृह में गए। मार्ग में उन्होंने सुना कि पुत्र विमलवाहन को मंत्रियों ने बंधन बद्ध करके राज्य पर अपना अधिकार जमा लिया है। पुत्र स्नेह वश वे अपने महान पद को भूल गए। वे बिना आहार किए लौट आए। एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। आत्मा रौद्रध्यान के आधीन हो गई। वे शत्रु के विनाश की बात मन में सोच रहे थे। गौतम स्वामी ने श्रेणिक से कहा।

अतः परं मुहूर्ते चेदेवमेव स्थिति मजेत्।
आयुषो नारकस्यापि प्रायोग्योयं भविष्यति ॥ २३–पर्व ७६ ॥

हे श्रेणिक! यदि एक मुहूर्त तक उनकी यही स्थिति रही, तो अवश्य ही वे नरकायु का बंध करेंगे।

ततस्त्वया स संबोध्यो ध्यानमेतत्त्यजाशुभम्।
शमय क्रोध – दुर्वह्निं मोहजालं निराकुरु ॥ ॥ २४ ॥

इससे वहां जाकर उन्हें तुम समझाओ, "हे साधो! इस अशुभ ध्यान का त्याग करो। इस क्रोध रूपी भीषण अग्नि को शांत करो तथा मोहजाल को दूर करो।

गृहाण संयमं त्यक्तं पुनः त्वं मुक्तिसाधनम्।
दार–दारक–बंध्वादि – संबंधन – मबंधुरम् ॥ २५ ॥

मुक्ति के साधन रूप संयम को, जो तुमने छोड़ दिया था, पुनः धारण कीजिए। स्त्री, पुत्र, भाई, बंधु आदि लोगों का संबंध अकल्याणकारी है।

इस प्रकार श्रेणिक महाराज ने धर्मरुचि मुनिराज को जब समझाया, तो क्षणभर में वे सुमार्ग पर पुनः आ गए। उन्होंने एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

प्रीतिंकर महामुनिः—वीर भगवान के समवशरण में प्रीतिंकर कुमार भी महामुनि के रूप में विराजमान थे। उनके विषय में उत्तरपुराण में लिखा है :—

एत्य राजगृहं सार्द्धं बहुभिर्भृत्य-बांधवैः ।
भगवत्पार्श्वमासाद्य संयमं प्राप्तवानयम् ॥ ३८६-७६ ॥

प्रीतिंकर कुमार अनेक बंधुओं तथा सेवकों के साथ राजगृह आए और उन्होंने महावीर भगवान के समीप आकर महाव्रत धारण किया।

निश्चय-व्यवहारात्म-सार-निर्वाण-साधनम् ।
त्रिरूप-मोक्ष-सन्मार्गभावकं सद्भुलोदयात् ॥ ३८७ - ७६ ॥
निहत्य घातिकर्माणि प्राप्यानंतचतुष्टयम् ।
अघातीनि च विध्वस्य परमात्म्यं प्रयास्यति ॥ ३८८ ॥

इन्होंने निर्वाण की साधन निश्चय तथा व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्षमार्ग का भावना की है। उस रत्नत्रय की आराधना के बल से ये मुनिराज घातिया कर्मों का क्षयकर अनन्त चतुष्टय प्राप्त करेंगे। इसके अनंतर अघातिया कर्मों का क्षय करके ये परमात्म पदवी को प्राप्त करेंगे। इन प्रीतिंकर महाराज का अद्भुत पुण्य था। वर्णनातीत सौन्दर्य था। इनका जीवन जीवों को संयम का सौन्दर्य समझाने के लिए अपूर्व क्षमता धारण करता है।

प्रीतिंकर कुमार ने ऋजुमति और विपुलमति नामके दो चारण-मुनियों का दर्शन किया। गुरुओं से धर्म की देशना सुनने के उपरान्त जब प्रीतिकर ने अपना पूर्वभव पूछा, तब ऋजुमति नामके मुनिराज ने बताया कि पूर्वभव में तू एक गीदड़ की पर्याय में था। सागरसेन मुनिराज ने निकट भव्य जानकर यह कहा था :—

हे भव्य ! रात्रि भोजन त्याग रूप श्रेष्ठ व्रत को ग्रहण कर। यह व्रत परलोक के लिए पाथेय-कलेवा तुल्य है। उस गीदड़ ने बड़ी भक्ति से उनकी प्रदक्षिणा की तथा उन्हें प्रणाम किया और बड़ी प्रसन्नता पूर्वक उस व्रत को ग्रहण करते हुए मद्य, मांसादिक का भी त्याग किया था।

एक दिन अत्यन्त तृषित हो वह एक वापिका में दिन के समय पानी पीने को घुसा, किन्तु वहां प्रकाश का अभाव देखकर उसे अपना

व्रत स्मरण आया। उसने सोचा सूर्य अस्तंगत हो गया, अतः अत्यंत पिपासाकुल होते हुए भी वह नियम को स्मरण कर बिना पानी पिये ही बाहर आ गया। बाहर सूर्य प्रकाशमान हो रहा था। इससे वह पुनः उस जलाशय में घुसा और अंधकार देख बाहर आगया। इस प्रकार उसने दो चार बार किया। इतने में सूर्य वास्तव में डूब गया। रात्रि हो गई। दृढ़ व्रत गीदड़ ने तृषा परीषह को शान्तभाव से सहन करते हुए प्राणों का परित्याग किया। वही जीव व्रत के प्रभाव से कुबेरदत्त सेठ के यहाँ प्रीतिंकर कुमार हुआ।"

इस चरित्र को सुनकर कुमार का मन वैराग्य की ओर झुका था। मुनियों के कोठे में जो भी व्यक्ति प्रीतिंकर महर्षि को देखता था, उसके हृदय में व्रत धारण की प्यास उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती थी। व्रत की बड़ी सामर्थ्य है। उससे जीव का महान कल्याण होता है। व्रतों की निन्दा करने वाला महान पापी है। वह अपना अहित करने के साथ दूसरों का भी अकल्याण करता है। व्रत से बढ़कर जीव का कोई बंधु नहीं है तथा अव्रत से बढ़कर दूसरा अन्य शत्रु भी नहीं है।

अभय मुनि—भगवान के समवशरण में महाराज श्रेणिक के अत्यंत बुद्धिमान पुत्र अभयकुमार भी निर्ग्रंथ तपस्वी के रूप में दर्शनीय तथा वंदनीय थे। गौतम गणधर ने महामुनि अभय के पूर्व जन्म का वर्णन इस प्रकार बताया था, कि तीसरे भव में वे बुद्धिहीन एक ब्राह्मण के पुत्र थे। एक बार वह ब्राह्मण-पुत्र एक श्रावक के साथ देशाटन को निकला। मार्ग में एक वृक्ष को देख विप्र ने उसे अपना देव मान परिक्रमा की। श्रावक ने उस वृक्ष के पत्ते तोड़े और निरादर पूर्वक उन्हें फेंक दिया तथा यह कहा कि तेरी वृक्ष में देवता की धारणा ठीक नहीं है। इससे उस विप्र के चित्त को आघात पहुँचा।

आगे एक जगह कपिरोमा नाम की बेलि के बहुत वृक्ष थे। उस श्रावक ने अपने साथी को सुशिक्षा देने के उद्देश्य से कहा यह वृक्ष मेरा देवता है। उसने उसकी प्रदक्षिणा भी की। कुपित ब्राह्मण ने सोचा

कि इस साथी ने मेरे देवता का निरादर किया था। अतः उसने भी उस श्रावक के देव का तिरस्कार करने की भावना से कुछ पत्ते तोड़कर उन्हें मसलकर अपने शरीर पर हाथ लगाया। इससे उसके शरीर में खुजली की असह्य पीड़ा हुई। उस समय श्रावक ने उस ब्राह्मण से कहा, व्रत, तपादि के द्वारा कल्याण प्राप्त होता है। जो सदाचारी और पुण्य-वान होता है, उसकी सहायता देवता भी करते हैं। इस प्रकार उस ब्राह्मण के चित्त से देवमूढता दूर हुई।

आगे एक नदी मिली। उसमें उस ब्राह्मण ने स्नान कर यह माना कि इस स्नान मात्र से उसका आगामी जीवन पवित्र होगा। श्रावक ने समझाया कि सदाचार की गंगा में स्नान करने वाले की आत्मा शुद्ध होती है। इस प्रसंग को पाकर श्रावक ने उसे खूब समझाकर तीर्थ मूढ़ता दूर की।

इसके अनंतर कुछ तपस्वी मिले, जो पंचाग्नि तप तपते थे। उस विप्र ने उन साधुओं को प्रणाम किया, किन्तु श्रावक ने समझाया कि इस कार्य में बहुत जीव मरते हैं। सच्चा तप तो अहिंसा पूर्ण होता है। जहाँ जीवों का घात होता है, वहाँ तप नहीं है। इससे उस ब्राह्मण का यह भी भ्रम दूर हुआ और उसकी समझ में दयामय धर्म की बात प्रिय लगने लगी। और भी प्रसंग मिले जिनसे प्रभावित हो, उस ब्राह्मण ने जिनेन्द्रदेव को अपना आराध्य देव स्वीकार कर लिया।

कुछ आगे जाने पर पापोदय से भीषण वन में वे दोनों रास्ता भूल गए। श्रावक ने सन्यास ले लिया। आहार का त्यागकर शरीर से ममत्व छोड़ दिया। ब्राह्मण ने भी श्रावक का अनुकरण किया। समाधि सहित मरणकर वह ब्राह्मण सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से चयकर वही जीव राजा श्रेणिक का बुद्धिमान पुत्र अभयकुमार हुआ। गणधर देव ने यह पहिले ही कह दिया था, कि "अभयाख्यः सुतः तपः कृत्वा मुक्तेः पदं अवाप्स्यसि"—हे श्रेणिक। यह अभय नाम का तुम्हारा पुत्र तप के द्वारा मोक्ष प्राप्त करेगा।

गणधर देव की वाणी के अनुसार राजकुमार ने मुनिदीक्षा धारण की और अब महान तपश्चर्या और रत्नत्रय के प्रसाद से वे मुनि श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करेंगे।

भगवान के समवशरण में जो मुनीश्वर थे, उनका जीवन ऐसी लोकोत्तरता तथा पूज्यता से समलंकृत था। इसी से हजारों आत्माओं ने आश्चर्यप्रद आत्मविकास प्राप्त किया था। महान ज्ञान लाभ के साथ विविध ऋद्धियां प्राप्त की थीं।

विद्युन्माली देव :—भगवान के समवशरण में विद्युन्माली नामका ब्रह्म स्वर्ग का इंद्र आया था। उस समय राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से पूछा था "भरते कोऽत्र पाश्चात्यः स्तुत्यः केवलवीक्षणः"—हे प्रभो! इस भरत क्षेत्र में सबसे पीछे स्तुति करने योग्य कौन केवलज्ञानी होगा?

गौतम स्वामी ने विद्युन्माली इंद्र की ओर इशारा करते हुए कहा था। "आज से सातवें दिन इस इंद्र की आयु समाप्त हो जायगी। उस समय यह मरणकर अर्हद्दास श्रेष्ठिवर की धर्मपत्नी जिनदासी के के गर्भ में आयेगा। गर्भ में आने के पहले जिनदासी सेठानी स्वप्न में हाथी, सरोवर, चांवलों का खेत, धूम रहित अग्नि तथा जामुन का फल देखेगी। जन्म होने पर इसका नाम जंबुकुमार होगा। अनावृत देव भी इसकी पूजा करेगा। यौवन अवस्था आने पर भी इसका मन पवित्र रहेगा। उसमें विकार उत्पन्न नहीं होगा। भगवान महावीर प्रभु का पावापुर से निर्वाण होने पर उसी समय मुझे भी केवलज्ञान प्राप्त होगा। तदनंतर सुधर्माचार्य गणधर के साथ अनेक जगह विहार के पश्चात् मैं इसी विपुलाचल पर पुनः आऊँगा। उस समय रानी चेलना का पुत्र राजकुमार कुणिक मेरे पास आकर व्रतादि धारण करेगा।

उस समय जंबुकुमार भी आयेगा। वह दीक्षा धारण करने को तत्पर होगा, किन्तु उसके भाई बंधु उसे समझावेंगे, कि कुछ समय के पश्चात् हम भी तुम्हारे साथ दीक्षा लेंगे। इससे वह नगर में लौट आवेगा। उसे मोह में फंसाने के लिए उसका विवाह कर दिया जायेगा,

किन्तु जम्बूकुमार के हृदय में राग नहीं उत्पन्न होगा। जम्बुकुमार के सच्चे वैराग्य से प्रभावित हो महाराज कुणिक अठारह प्रकार की सेना लेकर वहाँ आयेगा। अनावृत यक्ष भी आवेगा। सर्व भाई बंधु भी आवेंगे। ये लोग जम्बुकुमार का अभिषेक करेंगे। फिर जम्बूकुमार देव-निर्मित पालकी पर बैठकर बड़ी विभूति के साथ विपुलाचल पर आयेगा। मेरे समीप आकर वह सुधर्माचार्य के समीप मुनि दीक्षा ग्रहण करेगा।

मुझे केवलज्ञान प्राप्त होने के बारह वर्ष बाद निर्वाण प्राप्त होगा। उस समय सुधर्माचार्य को केवलज्ञान होगा और जंबूकुमार श्रुतकेवली होंगे। बारह वर्ष बाद सुधर्माचार्य को मोक्ष होगा। उस समय जंबूस्वामी को केवलज्ञान होगा। वे अड़तीस वर्ष पर्यन्त धर्मोपदेश देकर मोक्ष प्राप्त करेंगे (उत्तरपुराण पर्व ७६)।

विद्युन्माली की विशेषता :—इस विद्युन्माली देव की यह विशेषता थी, कि मृत्यु के समीप होने पर भी इसके शरीर की दीप्ति कम नहीं हुई थी।

आर्यिका चंदना :—समवशरण में स्थित आर्यिकाओं के समुदाय पर यदि दृष्टि दो जाय, तो सर्व प्रथम मुख्य गणिनी चंदना की जीवनी चित्त को आकर्षित करेगी। वे माता त्रिशला की सगी बहिन थीं। उन्होंने श्रेष्ठ संयम धारण किया था। माता विजया का चरित्र भी बहुत प्रभावप्रद है। इसी प्रकार हजारों साध्वियों की गुण गाथा गौरवपूर्ण है। इसी से वे सभी मुमुक्षुओं तथा भव्यजनों द्वारा सर्वदा पूज्य थीं।

महावीर भगवान ने अपने विहार द्वारा समस्त आर्य देशों में रत्नत्रय धर्म की ओर असंख्य जीवों को लगाया। अहिंसा धर्म की सारे जगत् में महिमा फैलाई। लोगों के हृदय में यह बात प्रतिष्ठित हो गई थी, कि सच्चा धर्म अहिंसा है। जहां अहिंसा का अभाव हो, वहां धर्म का भी अभाव है। वास्तव में भगवान करुणा धन के स्वामी थे। उनका करुणा का भण्डार अक्षय था। इससे उन्होंने सारे विश्व को उस

निधि का दान करके उसकी आध्यात्मिक निर्धनता दूर की। जब कभी कहीं क्रूरता का नग्न नर्तन आरम्भ हुआ, तब मानव और पशु इन्हीं दया के देवता महावीर भगवान को स्मरण करते थे। वे प्रार्थना करते थे, कि वर्धमान सूर्य की करुणामयी रश्मियां क्रूरता के अंधकार को दूर करें, जिससे सबको सच्चा सुख और शान्ति मिले।

विपुलाचल पर जितशत्रु का कैवल्योत्सव—विपुलगिरि पर धर्मामृत की वर्षा करके भगवान ने भव्यात्माओं का कल्याण किया था।

एक दिन भगवान की दिव्यदेशना पूर्ण हुई। उसके अनंतर ही देवों ने एक नवीन रूप से उत्सव मनाना आरम्भ किया। दुंदुभि की मधुर ध्वनि होने लगी। आकाश से पुष्पवृष्टि तथा रत्नवृष्टि भी होने लगी।

उस समय श्रेणिक ने गौतम स्वामी से पूछा—"भगवन्! यह ध्वनि तथा आनन्दोत्सव किस कारण से होने लगा?" गणधर देव ने कहा, "कलिंगदेश के राजा जितशत्रु का विवाह महाराज सिद्धार्थ की छोटी बहिन यशोदा के साथ हुआ था। उन प्रतापी नरेश जितशत्रु महाराज ने महावीर भगवान के समीप जिन दीक्षा ली थी। "प्राव्राजीत् जिनसन्निधौ।" उन्होंने महान तप किया था।

तपोदुष्करमन्येषां बाह्यमाध्यात्मिकं च सः।
कृत्वा प्रातोप घात्यंते केवलज्ञानमद्भुतम् ॥ १८६–सर्ग ३ ॥

उन्होंने मिथ्यादृष्टियों के लिए दुष्कर ऐसा बाह्य और अंतरंग तप धारण किया था। उसके द्वारा घातिया कर्मों का क्षय कर उन्होने अपूर्व केवलज्ञान प्राप्त किया।

इस कारण देवताओं ने उन ऋषीश्वर की भक्ति पूर्वक पूजा की। उन जितशत्रु केवली ने अनेक देशों में विहार किया तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

इस विपुलाचल पर वीर भगवान के विराजमान रहने से विश्व की वंदनीय विभूतियों ने भी वहां आकर अपना जन्म कृतार्थ किया था तथा उस गिरिराज को पूज्यता प्रदान की थी।

विपुलगिरि की पूज्यता अथवा प्रसिद्धि में मूल हेतु त्रिभुवन पूज्य वीर प्रभु का वहां विराजमान होना था, अन्यथा पाषाण पिण्ड रूप पर्वत में क्या विशेषता होगी ? भव्य जीवों को विपुलाचल इस शब्द को सुनते ही महावीर वर्धमान भगवान और उनके दिव्य समवशरण का सहसा स्मरण हो जाता है।

जिनेन्द्र हंस की अवस्थान भूमि—विपुल गिरि पर धर्मामृत वर्षा करने के उपरान्त कारुण्य रत्नाकर महावीर भगवान ने अन्य स्थानों के जीवों के पुण्य से आकर्षित हो वहाँ विहार किया। भगवान तो हंस सदृश थे। हंस जहाँ रहता है, वही स्थान महत्व को प्राप्त करता है। मान सरोवर को इसलिए कीर्ति मिली, कि वहाँ हंसों ने निवास किया। वे हंस जब स्थानांतर पर चले जाते हैं, तो वहां ही सौन्दर्य और मधुरता दीखने लगती है। सूर्योदय के समय प्राची दिशा प्रिय लगती है; पश्चात् जहां-जहां सूर्य पहुँचता है, वहां-वहां विश्व अपनी दृष्टि डाला करता है, क्योंकि सबका ममत्व सूर्य के साथ है, इसी प्रकार वीर भगवान जब विपुल गिरि पर थे, तब वह दिव्य लोक से भी अधिक तेजमय तथा आनन्द प्रद लगता था; किन्तु अब प्रभु का समवशरण दूसरी जगह आ गया; इससे वह विपुलाचल श्री-हीन सा लगने लगा। भक्त लोग अपनी भावना के बल पर उस स्थान के सौन्दर्य और पवित्रता की कल्पना कर सकते हैं।

अस्तु, भगवान ने अनेक स्थलों पर प्राणीमात्र को अपनी मंगल-दायिनी अभय देशना द्वारा वर्णनातीत लाभ दिया।

पावापुरी में प्रभु का आगमन—इस प्रकार विहार करते-करते लगभग तीस वर्ष का समय व्यतीत हो गया। अब भगवान पावापुरी पहुँच गए। वे पावानगर के अत्यंत रमणीय उद्यान में पहुँचे, जो कमल युक्त वापिका से युक्त था तथा जिसमें अनेक प्रकार वृक्ष शोभायमान हो रहे थे। वहां भगवान कायोत्सर्ग मुद्रा में विराजमान हो गए।

अंतिम दिव्य देशना—अब भगवान के मोक्ष गमन का समय समीप आता जा रहा था। भगवान की दिव्यध्वनि अब कुछ काल के पश्चात् सुनाई न पड़ेगी। यह भगवान की मोक्ष के पूर्व की अंतिम धर्म देशना है। वर्धमान भगवान ने कहा "भव्यात्माओ! यदि तुम्हें सच्चा सुख प्राप्त करना है, तो सम्यग्दर्शन को धारण करो तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म का पालन करो। क्रोध, मान, माया, लोभ ये तुम्हारे असली शत्रु हैं। इन पर विजय प्राप्त करके अरिहंत बनो। "जीवः अन्यः, पुद्‍गलः अन्यः" – जीव अन्य है, पुद्‍गल अन्य है, यह तत्व हृदय में अवधारण करो। तुम चैतन्य पुंज आत्मा हो। अहिंसा के द्वारा तुम मोह शत्रु को नष्ट करके सिद्ध पदवी को प्राप्त कर सकते हो। संयम को धारण करने में तनिक भी मत डरो। उसके द्वारा तुम्हारी सर्व कामनायें पूर्ण होंगी और तुम कामनाओं का अंत करके श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त करोगे।" दिव्यध्वनि के अंतिम शब्द ऐसे थे, जो चिरस्मरणीय हैं। "तुम चैतन्य हो! पुद्‍गल के जाल से पुरुषार्थ द्वारा अपने को निकालो। अहिंसा की आराधना को त्रिकाल में भी न भूलो। तुम्हारा कल्याण हो"।

दिव्य ध्वनि बन्द हो गई—सहसा दिव्य ध्वनि बन्द हो गई। सब लोग विस्मय में पड़ गए।

योग निरोध—अब भगवान ने योगों के निरोध का कार्य प्रारम्भ किया है। ऋषभनाथ तीर्थंकर ने चौदह दिन पहिले से योग निरोध प्रारम्भ किया था। महावीर भगवान के योग निरोध का समय केवल दो दिन था। उनका विहार बन्द हो गया। निर्वाणभक्ति में कहा है :—

आद्यश्चतुर्दशदिनैर्विनिवृत्तयोगः।
षष्ठेन निष्ठितकृति-र्जिनवर्धमानः॥
शेषा विधूत-घन-कर्म - निवद्धपाशाः।
मासेन ते यतिवरास्त्वभवन्वियोगाः॥ २६॥

आदिनाथ भगवान की आयु के जब चौदह दिन शेष रहे थे, तब उन्होंने द्रव्य मन, वचन तथा काय की क्रियाओं का निरोध किया था अर्थात् उनका विहार बन्द हो गया। दिव्यध्वनि बन्द हो गई।+ अंतिम तीर्थंकर महावीर भगवान की आयु में जब दो दिन शेष थे, तब उन्होंने योगों का निरोध किया था अर्थात् कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को उनकी दिव्य देशना बन्द हुई थी। विहार बन्द हुआ। शेष बाईस तीर्थंकरों ने अपनी आयु के एक माह शेष रहने पर योग निरोध किया था।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

उसहो चोद्दस-दिवसे दुदिणं वीरेसरस्स सेसाणं।
मासेण य विणिवित्तो जोगादो मुत्ति-संपण्णो॥ १२०६-४॥

भगवान ऋषभदेव ने चौदह दिन पहिले, महावीर भगवान ने दो दिन पहिले, और शेष तीर्थंकरों ने एक माह पूर्व में योग से विनिवृत्त होने पर मुक्ति को प्राप्त किया।

उसमें यह भी लिखा है :—

उसहो य वासुपुज्जो णेमी पल्लंकबद्धया सिद्धा।
काउस्सग्गेण जिणा सेसा मुत्तिं समावण्णा॥ १२१०-४॥

भगवान वृषभ, वासुपूज्य तथा नेमिनाथ पल्यंक आसन से और शेष जिनेन्द्र कायोत्सर्ग से मोक्ष गए अर्थात् वीर भगवान की निर्वाण की मुद्रा कायोत्सर्ग थी।

तिलोयपण्णत्ति में लिखा है, कि वर्धमान भगवान के ८८०० शिष्य अनुत्तर विमान में गये (गाथा १२१७) तथा आठ सौ शिष्य सौधर्म स्वर्ग से लेकर उर्ध्व ग्रैवेयक स्वर्ग तक गए (गाथा १२३७)

+ प्रतीत होता है कि वीर भगवान के मुक्ति प्राप्ति के लिए योग निरोध-रूप महान कार्य का प्रारम्भ कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी को हुआ था। अतः उस त्रयोदशी को धन्य त्रयोदशी या धनतेरस कहने लगे थे।

+ केवली समुद्घात :—मोक्ष जाने वाले जीवों में जिनकी तीन अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है और आयु कर्म की स्थिति कम होती है, वे केवलि समुद्घात क्रिया के द्वारा आयु कर्म की स्थिति के बराबर शेष कर्मों की स्थिति करते हैं। इस विषय में आचार्य यतिवृषभ का कथन है, कि सभी केवली मोक्ष जाने के पूर्व नियम से केवलि समुद्घात करते हैं, किन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोक पूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की संख्या बीस ही कही गई है, उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात करते हैं और कितने नहीं करते हैं।

पावापुरी का अद्भुत भाग्य :—पावापुरी में असंख्य देवी देवता थे, विपुल जन समुदाय भी था। अनेक तिर्यंच भी थे, जिन्होंने भगवान की दिव्यध्वनि का अमृत पान अब तक किया था, किन्तु वह अवसर पुनः नहीं प्राप्त होगा। गौतम स्वामी, सुधर्माचार्य सदृश महाज्ञानी मुनिगण अपने दिव्यज्ञान से यह जान गए थे, कि अब महावीर केवली अयोगी जिन होने जा रहे हैं। अब इनकी विशुद्धता वर्धमान हो रही है।

भगवान का त्रयोदशी का दिन पावापुरी में गया। रात्रि व्यतीत हुई। भगवान कायोत्सर्ग मुद्रा से आत्म-निमग्न हैं। अत्यन्त प्रशान्त वातावरण है। भगवान वीरप्रभु स्वरूप में लीन हैं। प्रतिक्षण उनकी निर्मलता बढ़ रही है। चौदस का दिन गया। रात्रि आई। सब महर्षि गण अत्यन्त सावधान हो वीरप्रभु की रत्नत्रयमयी मनोज्ञ मूर्ति का

+ यतिवृषभोपदेशात् सर्वाघातिकर्मणां क्षीणकषाय-चरमसमये स्थितेः साम्याभावात्सर्वेपि कृतसमुद्घाताः सन्तो निवृत्तिमुपढौकंते। येषामाचार्याणां लोकव्यापि केवलिषु विंशतिसंख्या-नियमस्तेषां मतेन केचित्समुद्घातयन्ति। केचिन्न समुद्घातयंति।

के न समुद्घातयंति? येषां संसृतिव्यक्तिः कर्मस्थित्या समाना, ते न समुद्घातयंति, शेषाः समुद्घातयंति॥ धवला टीका भा १ पृ० ३०२ सूत्र ६०।

दर्शन कर रहे हैं। देव, देवेन्द्र उनकी छवि को निहारकर आत्मा में अपूर्व शान्ति प्राप्त कर रहे हैं। + चतुर्दशी की रात्रि का अंतिम प्रहर आया। उसे ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। आकाश में उषा के आगमन का कुछ-कुछ प्रकाश दिखाई पड़ने लगा।

भगवान वर्धमान जिनेन्द्र ने *सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति शुक्ल ध्यान* के द्वारा बादर योगों का सूक्ष्म रूप में परिणमन किया। क्षण भर में भगवान अयोगी जिन हो गये। अब उनके कर्मों का आस्रव रुक गया। अब ये पूर्ण संवर के स्वामी हो गए। इन्होंने परम यथाख्यात चारित्र प्राप्त कर लिया।

अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पंच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने में ये वीर प्रभु सबके देखते-देखते चतुर्दशी के पर्यवसान की वेला में स्वाति नक्षत्र के समय औदारिक तैजस, कार्माण शरीर का नाश कर 'सिद्ध भगवान' हो गए।

+ किन्हीं लोगों की यह मान्यता है कि भगवान के निर्वाण के कुछ समय पूर्व इन्द्र ने आकर प्रभु से सविनय कहा, "आप कुछ काल के लिए अपनी निर्वाण यात्रा स्थगित कर दीजिए, क्योंकि इस समय शुभ मुहूर्त नहीं है। कुछ काल के अनन्तर शुभ मुहूर्त आ जायगा।" इस कथन के उत्तर में उन व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति शुक्लध्यानी महामौनी भगवान ने कहा "हे सुरराज ! ऐसा करना मेरे लिए संभव नहीं है।" योगी जब आत्मध्यान में निमग्न होते हैं, तब उन्हें अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहता है। विवेकी अवधिज्ञानी इन्द्र का प्रश्न कार्य भी कल्पना मात्र है। भगवान महावीर ने दीक्षा लेने के साथ ही महामौन का नियम लिया था, उनकी इंद्र से निर्वाण जाते समय वार्तालाप की बात सर्वज्ञ प्रणीत आगम से नहीं आई है। योग विद्या के अंतस्तत्व से परिचित व्यक्तिको यह समझने में देर नहीं लगेगी, कि आत्मा के स्वरूप में मग्न योगी बहिर्जगत् से अपनी दृष्टि पूर्णतया हटा लेता है। अतः परम समाधिरूप शुक्लध्यान की स्थिति में श्रेष्ठ मौन का सद्भाव मानना चाहिए। यही आर्ष आगम का उपदेश है।

पहले उन्होंने दीक्षा लेते समय सिद्धों को प्रणाम किया। "नमः सिद्धेभ्यः" कहा था। अब कार्तिक की अमावस्या के प्रभात में वे वर्धमान भगवान स्वयं सिद्ध परमात्मा हो गए। अब वे जन्म जरा तथा मरण के चक्र से सदा को मुक्त हो गए। ज्योतिर्मयी शुद्ध आत्मा पौद्‌गलिक शरीर को छोड़कर लोकाग्र में एक समय में पहुँचकर तनुवात वलय के अंत में जाकर अनंत सिद्धों में मिल गई। सबने निर्वाण कल्याणक का जय जयकार आरंभ किया।

स्वराज्य प्राप्ति :—आज महावीर भगवान ने आध्यात्मिक स्वाधीनता पाई। आत्मा का स्वराज्य उन्होंने पाया। अब वे वास्तव में स्वतंत्र हो गए। पावापुरी ने समवशरण में विराजमान महावीर को प्राप्त किया था, किन्तु;

निरंजन परमात्मा—अब उस पावापुरी में देवाधिदेव महावीर भगवान नहीं है। वहां उन्होंने तेरहवें गुणस्थान के पश्चात् चौदहवां गुणस्थान प्राप्त किया। निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता की। यह पावापुरी महावीर की आध्यात्मिक अमर समर-भूमि हो गई, जहां उनका कर्मों के साथ घोर युद्ध हुआ। उन्होंने पहले पाप को पछाड़ा था; अब पुण्य प्रकृतियों को भी शुक्लध्यान रूप अग्नि में समाप्त कर दिया। अब तीर्थंकर महावीर सिद्ध बन गए। अब वे न त्रिशलानन्दन है, न सिद्धार्थ महाराज के राजदुलारे हैं। अब वे इन समस्त उपाधियों से परे हो गए। अब वाणी उनका वर्णन करने में असमर्थ है। वे परं ज्योति परमात्मा हो गए। निरंजन-निराकार हो गए।

वास्तविक निर्वाणस्थल--कहा जाता है भगवान पावापुरी के सरोवर के कमलों से परिपूर्ण उद्यान से मुक्त हुए। यथार्थ में उन्होंने पृथ्वी को स्पर्श ही नहीं किया। उनका शरीर पृथ्वी तल से चार अंगुल ऊंचा रहा आया। अतः सूक्ष्मता से विचार किया जाय, तो आकाश के वे प्रदेश, जिन्हें उनके परमौदारिक शरीरधारी आत्मा ने घेरा था, क्षेत्र

मंगलरूप होंगे। तिलोयपण्णत्ति में कहा है: – + इस क्षेत्र मंगल के उदाहरण पावानगर, ऊर्जयन्त और चंपापुर आदि हैं; अथवा साढे तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवल ज्ञान से व्याप्त आकाश-प्रदेशों को क्षेत्र मंगल समझना चाहिये; अथवा जगत् श्रेणी के घन मात्र अर्थात लोक प्रमाण आत्मा के प्रदेशों से लोक पूरण-समुद्घात द्वारा पूरित सभी लोक के प्रदेश क्षेत्र मंगल हैं।

× काल मंगल– मोक्ष के प्रवेश का काल सब पाप रूपी मलों के गलाने के कारण काल मंगल कहा गया है। पावापुरी से अकेले ही वीर भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया था। तिलोयपण्णत्ति में कहा है :—

कत्तियकिण्हे चोद्दसि पच्चूसे सादि-णाम-णक्खत्ते ।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥ १२०८-८ ॥

भगवान वीर प्रभु कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन प्रत्यूष काल में स्वाति नक्षत्र के रहते हुए पावापुर से अकेले ही सिद्ध हुए हैं। हरिवंश-पुराण में लिखा है "वीरस्यैकस्य निर्वाणः" (२८२, सर्ग ६०) वीरभगवान अकेले मोक्ष गए।

धर्म प्रपा की पुरी पावापुरी—वर्धमान चरित्र में असग कवि ने लिखा है, कि भगवान के निर्वाण के समय नौ हजार शिक्षक मुनि-उपाध्याय परमेष्ठी थे। तेरह सौ अवधि ज्ञानी मुनि, पाँचसौ मनःपर्ययज्ञानी लोकोत्तम केवलज्ञानी सातसौ, वैक्रियिक ऋद्धिधारी मुनी नौ सौ, वादी

+ एदस्स उदाहरणं पावा-णगरुज्जयंत-चंपादी ।
आउट्ठ-हत्थ-पहुदी पणुवीसब्भहिय-पणसय-धणूणि ॥ २२ ॥
देह-अवट्ठिद-केवलणाणावट्ठद्ध-गयण-देसो वा ।
सेढि-घण-मेत्त-अप्प-प्पदेस-गद-लोयपूरणा पुण्णा ॥ २३ ॥
विस्सार्णं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।
जस्सिं काले केवलणाणादि-मंगलं परिणमति ॥ २४ ॥

× पावमल गालणादो पण्णत्तं कालमंगलं एदं ॥ २५-१-ति० प० ॥

मुनि चार सौ थे। इस प्रकार बारह हजार आठ सौ श्रेष्ठ तपस्वी तथा अद्भुत आध्यात्मिक विभूति संपन्न मुनीन्द्र विद्यमान थे। चन्दना आर्यिका के साथ समस्त आर्यिका संघ छत्तीस हजार था। व्रती श्रावक एक लाख थे। तीन लाख श्राविकाएं थीं। असंख्यात देवी देवता थे। मोह रहित तिर्यंच संख्यात थे। सब वीतराग धर्म में प्रगाढ श्रद्धा समलंकृत थे। इनके सिवाय और भी जीव भगवान के अंतिम दर्शन के हेतु उपस्थित थे। वीर भगवान ने मोक्ष गमन के पूर्व इन सबको धर्मामृत का पान कराया था। तत्व की देशना दी थी।

पवा-पुरी—इससे वह नगर वास्तव में धर्म की प्रपा-प्याऊ की पुरी बन गया था। प्राकृत में प्रपा को पवा कहते हैं। इससे वह पुण्य स्थल पवा-पुरी बन गया था। 'पवा' एव 'पावा'-पवा ही पावा हो गया। इस प्रकार उस पुरी में श्रुत ज्ञानामृत रूप अंतिम प्रसाद सकल-सत्वहितोपदेशी धर्म के सूर्य तथा विश्व के पितामह महावीर वर्धमान ने प्रदान किया था। इस पावापुर से ही स्वाति नक्षत्र पर चन्द्र के अवस्थित रहते हुए कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्त में भगवान सन्मति ने सिद्धि प्राप्त की थी +

यहां महाकवि ने लिखा है कि दो दिन पर्यन्त योग-निरोध करने के पूर्व भगवान ने समवशरण को छोड़ दिया था। "उज्झित-सभः"-शब्द

\+ एभिः समं त्रिभुवनाधिपति र्विहृत्य।
त्रिशत्समाः सकलसत्वहितोपदेशी ॥
पावापुरस्य कुसुमांचित पादपानां।
रम्य श्रियोपवन माप ततो जिनेन्द्रः ॥ ६७-६८ ॥
कृत्वा योगनिरोध मुज्झितसभः षष्ठेन तस्मिन्वने।
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरुचिः कर्माण्यशेषाणि सः ॥
स्थित्वे दांग्पि कार्तिकासितचतुर्दश्यां निशांते स्थिते।
स्वातौ सन्मतिराससाद भगवान् सिद्धिं प्रसिद्धश्रियम् ॥ ६८ ॥

महत्वपूर्ण है। उसका अर्थ है छोड़ दिया है सभा अर्थात् समवशरण जिन्होंने ऐसे वे वीर जिनेन्द्र हो गए थे।

गणधर द्वारा निर्वाण की पूर्व सूचना—उत्तरपुराण में गुणभद्र स्वामी ने कहा है, कि गौतम गणधर ने विपुलाचल पर ही भगवान के निर्वाण के विषय में इस प्रकार भविष्यद्वाणी की थी। + अनेक देशों में विहार करते करते अंत में वर्धमान भगवान पावापुर में पहुँचेंगे। वहाँ के मनोहर नाम के वन के भीतर अनेक सरोवरों के मध्य में महा-मणियों की शिलातल पर स्थित होकर विहार त्याग करके निर्जरा को बढ़ाते हुए (योग निरोध करते हुए) दो दिन व्यतीत करेंगे तथा कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अंतिम समय में स्वाति नक्षत्र में तीसरे शुक्लध्यान में तत्पर होंगे। तदनंतर तीनों योगों का निरोध कर समुच्छिन्न-क्रिया नाम के चौथे शुक्लध्यान का आश्रय लेंगे तथा चारों अघातिया कर्मों को नष्ट कर शरीर रहित आत्म गुणमय होकर सर्व जीवों के द्वारा वांछित निर्वाण को एक सहस्र मुनियों के साथ प्राप्त होंगे।

दो परम्पराओं का सद्भाव—यहाँ भगवान के साथ एक सहस्र मुनि मोक्ष गए ऐसा उपदेश विशेष परम्परा को सूचित करता है। तिलोय-पण्णत्ति और हरिवंशपुराण में भगवान के अकेले मोक्ष गमन का कथन है। इस प्रकार निर्वाण के संबंध में दो परम्पराओं का सद्भाव पाया जाता है।

+ क्रमात्पावापुरं प्राप्य मनोहरवनांतरे।
बहूनां सरसां मध्ये महामणि-शिलातले ॥ ५०६ ॥
स्थित्वा दिनद्वयं वीतविहारो वृद्ध निर्जरः।
कृष्णकार्तिक पक्षस्य चतुर्दश्यां निशात्यये ॥ ५१० ॥
स्वातियोगे तृतीयेद्ध-शुक्लध्यान-परायणः।
कृतत्रियोग-संरोधः समुच्छिन्न क्रियं श्रितः ॥ ५११ ॥
हताघाति-चतुष्कः सन्नशरीरो गुणात्मकः।
गंता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् ॥ उत्तर पु०पर्व ७६॥५१२॥

विपुलाचल के विषय में गणधर की वाणी—गौतम गणधर ने यह भी कहा था, "जिस दिन महावीर भगवान मोक्ष पधारेंगे, उसी दिन मुझे भी केवलज्ञान प्राप्त होगा। मैं अनेक देशों में विहार करता हुआ विपुलाचल से मोक्ष प्राप्त करूँगा—"गत्वा विपुलशब्दादिगिरौ प्राप्स्यामि निर्वृतिम्" (उत्तरपुराण पृष्ठ ५१७, पर्व ७६,)

गौतम स्वामी ने यह भी कहा था "मोक्ष प्राप्त कर भगवान अनंत सुख प्राप्त करेंगे। तदनंतर देवेन्द्र मोह का नाश करने वाले भगवान के शरीर की विधिपूर्वक दिव्य गंध, माला आदि द्रव्यों से पूजा करेंगे, फिर अग्निकुमार देवों के इंद्र के मुकुट से प्रगट हुई अग्नि की ज्वाला में उस शरीर को स्थापन करेंगे और भवातीत भगवान की अर्थ पूर्ण शब्दों में स्तुति करेंगे।

तदेव पुरुषार्थस्य पर्यन्तोनंतसौख्यकृत् ।
अथ सर्वेपि देवेन्द्रा वन्हीन्द्रमुकुटस्फुरत् ॥ ५१३ ॥
हुताशन-शिखा न्यस्त-तद्देहा मोहविद्विषं ।
अभ्यर्च्य गंधमाल्यादि-द्रव्यैर्दिव्यैं यथाविधि ॥ ५१४ ॥
वंदिष्यते भवातीतमर्थ्यैं - वेंदारव - स्तवैः ॥ ५१५ ॥ पर्व ७६ ॥

निर्वाणोत्सव :—गौतम गणधर से भगवान के निर्वाण कल्याणक का पहिले ही परिचय प्राप्त हो चुका था। अतः सुचतुर जीवों ने निर्वाण वेला पर उपस्थित रहकर अपने जीवन को धन्य बनाया था। उस समय अपार शान्ति थी। अद्भुत गंभीर वातावरण था। सब मोक्ष कल्याणक का महत्व जानते थे। वह जीवन की सर्व श्रेष्ठ परम सिद्धिमयी वेला थी। उस समय लोगों ने वैराग्य का अपूर्व प्रकाश प्राप्त किया था।

उस समय यह स्पष्ट हो गया था, कि भगवान ने यथार्थ कहा था "जीवः अन्यः, पुद्गलः अन्यः"—जीव अन्य है, पुद्गल अन्य है। देखो! चैतन्यमय जीव सर्व विकारों और विभावों से विमुक्त हो अपने भवन सिद्धालय में पहुँच गया और यह शरीर यहीं ही रह गया। यह शरीर सामान्य नहीं है। यह परमौदारिक शरीर है, जिसमें

सयोग केवलीवस्था प्राप्त आत्मा का निवास रहा; पश्चात् परम शुद्ध योगातीत योगिराज वर्धमान भगवान का आवास रहा तथा मोक्षावस्था के पूर्व तक इसी पौद्‌गलिक पिण्ड में वे महावीर भगवान रहे।

अंतिम दिगम्बर मुद्रा :—इसकी शुद्धता की कल्पना नहीं की जा सकती है। भगवान का शान्त, सौम्य, वस्त्र रहित तथा आभूषण शून्य शरीर अद्भुत दीप्तिपूर्ण दिखता था। उस शरीर पर किसी प्रकार का आवरण नहीं था, जो यह सूचित करता था, कि परम श्रेष्ठ स्थिति अयोगी गुणस्थान को प्राप्त भगवान महावीर वस्त्र रहित थे। दिगम्बर थे। इस श्रेष्ठ विशुद्धता की स्थिति में भगवान को दिगम्बर रूप में ही पाकर विश्व के अंतःकरण में यह अकाट्य बात जम गई, कि श्रेष्ठ सिद्धि रूप मुक्ति की प्राप्ति के लिए निर्मल मन के साथ बाह्य शरीर भी वस्त्राडम्बर से पूर्णतया विमुक्त रहना चाहिए। भगवान का शरीर यही परम सत्य प्रगट कर रहा था।

शरीर का अंतिम संस्कार :—वर्धमान भगवान का निर्वाण हो गया। भगवान की जय हो। जय हो। इस जयघोष से सारी पावापुरी मुखरित हो उठी थी। श्रेष्ठ वैभव और विभूति सहित देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र आदि वहां आए। उन्होंने सोचा "भर्तुः शरीरं पवित्रं, निर्मलं, मोक्षसाधनं, शुचि, निर्मलं"— यह भगवान का शरीर पवित्र है। निर्मल है। यह मोक्ष का साधन है, क्योंकि इसके ही द्वारा भगवान ने सर्व प्रकार महान तपादि श्रेष्ठ कार्य किए थे। यह शुचिता पूर्ण है। उन्होंने उस शरीर को बहुमूल्य पालकी में विराजमान किया। इसके अनन्तर अग्निकुमार देवों के इंद्र के रत्नों की कान्ति से दैदीप्यमान, उन्नत मुकुट से उत्पन्न हुई तथा चन्दन, अगुरु, कर्पूर, केशर आदि सुगंधित पदार्थों से युक्त तथा घृत दुग्ध आदि के योग द्वारा संप्रदीप्त अग्नि ने उस शरीर को भस्म रूपता प्रदान की। त्रिभुवन उसकी सुगंधि से व्याप्त हो गया।

देवेन्द्रों ने वह भस्म उठाई और हम लोग भी इसी प्रकार हों अर्थात् सच्ची अमर पदवी को प्राप्त करें, ऐसा सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट, भुजा युगल, कण्ठ तथा वक्षःस्थल में पंच कल्याण वाले भगवान की वह भस्म लगाई। वे उस भस्म को अत्यन्त पवित्र मानकर धर्मानुराग से तन्मय हो रहे थे। +

अंत्येष्टि का भाव—भगवान का शरीर रत्नत्रय की साधना में सहायक था। अत्यन्त पवित्र था। इससे उस शरीर की अंत में पूजा की गई थी। उसे अत्येष्टि-अंतिम पूजा की क्रिया कहते हैं। वह यद्यपि चैतन्य शून्य था, किन्तु श्रेष्ठ चेतना-संपन्न परं ज्योति परमात्मा की निवास भूमि था, इससे वह पूजा का पात्र बना। उसकी पूजा द्वारा भावों में अपूर्व विशुद्धता उत्पन्न हुई थी। इस रहस्य को विस्मरण करने के कारण जन-साधारण किसी के मरने पर उसके शरीर का दाह किए जाने को अंत्येष्टि क्रिया कहते हैं। भोगी विषय लोलुपी का शरीर पूजा का पात्र नहीं होता है। उसके स्पर्श से तो पवित्र का लोलुप होता है; अशुचिता प्राप्त होती है। केवली का शरीर शुचिता का उत्पादक होता है, इसी

+ तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्त-पूजा-चिकीर्षया।
पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम्॥ ३४३॥
शरीरं भर्तुरस्येति परार्घ्य-शिबिका-र्पितम्।
अग्नीन्द्र-रत्न-भा भासि-प्रोत्तुंग-मुकुटोद्भवा॥ ३४४॥
चन्दनागरु-कर्पूर-पारी-काश्मीरजादिभिः।
घृत-क्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिना॥ ३४५॥
जगद्-गृहस्य सौगन्ध्यं सम्पाद्याभूतपूर्वकम्।
तदाकारोपमर्देन पर्यायान्तरमानयन्॥ ३४६॥
ततो भस्म समादाय पंचकल्याणभागिनः।
वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये॥ ३४६॥
कण्ठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः।
तत्पवित्रतमं मत्वा धर्म-राग-रसाहिताः॥ महापुराण पर्व ४७॥३५०॥

कारण देवेन्द्रों ने तक उस शरीर के भस्मरूप अवशेष को अपने अत्यंत निर्मल शरीर में लगाकर कृतार्थता अनुभव की थी।

दो परम्पराओं का सद्भाव—हरिवंशपुराण में भगवान नेमिनाथ के निर्वाण का वर्णन करते हुए कहा है, कि भगवान का शरीर बिजली के समान क्षण भर में स्वयमेव क्षय को प्राप्त हो गया था। इससे मोक्ष गमन के समय शरीर के बारे में दो परंपराओं का सद्भाव सूचित होता है।

हरिवंशपुराण का कथन—हरिवंशपुराण में कहा है :—

परिनिर्वाणकल्याण - पूजामंत्य - शरीरगाम् ।
चतुर्विध-सुरा जैनीं चक्रुः शक्रपुरोगमाः ॥ ११-६५ ॥

इन्द्रादि चार प्रकार के देवों ने जिनेन्द्र भगवान के अंतिम शरीर सम्बन्धी निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

गंधपुष्पादिभिर्दिव्यैः पूजितास्तनवः क्षणात् ।
जैनाद्या द्योतयन्त्यो द्यां विलीना विद्युतो यथा ॥ १२ ॥

जिनेन्द्र भगवान के शरीर की दिव्य गंध, पुष्प आदि के द्वारा पूजा की गई थी। जिनेन्द्र का शरीर दैदीप्यमान होते हुए विद्युत् के समान अल्पकाल में विलीन हो गया।

स्वभावोयं जिनादीनां शरीरपरमाणवः ।
मुंचति स्कंधतामते क्षणात्क्षणरुचामिव ॥ १३-६५ ॥

ऐसा स्वभाव है कि जिनेन्द्र भगवान आदि के शरीर संबंधी परमाणु अन्त में स्कन्धता का परित्याग कर देते हैं; जिस प्रकार विद्युत क्षण भर में लुप्त हो जाती है।

विचारणीय कथन—हिन्दी भाषी समाज में रूपचन्द जी रचित पंचमंगल के आधार पर यह कथन प्रचार पा गया है, कि भगवान का निर्वाण होने पर शरीर के सब परमाणु कपूर के समान उड़ जाते हैं, केवल नख और केश शेष रहते हैं। उस समय इन्द्र मायामयी शेष शरीर की रचना

करता है, जिसका अग्नि संस्कार किया जाता है। इस निरूपण का आचार्य प्रणीत क्या आधार है? यह नहीं मिल पाया। शंका होती है कि जब हड्डी उड़ जाती है, तब नख, केश क्यों शेष रहते हैं? मूल संघ से संबंधित भगवज्जिनसेनाचार्य रचित महापुराण के आधार पर विवेचन पहिले किया जा चुका है, जिससे यह ज्ञात होता है, कि भगवान का शरीर उनके मोक्ष जाने के पश्चात् विद्यमान रहता है, उसकी पूजा की जाती है और अग्निसंस्कार किया जाता है।

पंचमंगल में यह पाठ दिया गया है—

तनुपरमाणु दामिनी पर, सब खिर गए।
रहे सेस नखकेश - रूप, जे परिणए॥
तब हरि प्रमुख चतुरविधि, सुरगण शुभ सच्यो।
मायामयि नख केश – रहित जिनतनुरच्यो॥

मायामयी नख-केश रचना के पश्चात् यह कार्य हुआ :—

रचि अगरचन्दन प्रमुख परिमल, द्रव्य जिन जयकारियो।
पदपतित अगनिकुमार मुकुटानल, सुविध संस्कारियो॥
निर्वाणकल्याणक सु महिमा, सुनत सब सुख पावहीं।
भणि 'रूपचन्द' सुदेव जिनवर, जगत मंगल गावहीं॥

भूधरदास जी का कथन—पारसपुराण में जिनेन्द्रभगवान के निर्वाण के विषय में इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण किया है—

मोममई एक पुतला ठान, नखशिख सम्मचतुर संठान।
सब तन सुन्दर पुरुषाकार, नराकार इसही विधिसार॥
माटीसों इमि लेपहु सोय, जैसे त्वचा देह पर होय।
कहीं अंग खाली नहि रहै, सब उपचार कल्पना यहै॥
पुनि सो लीजै अगनि तपाय, सांचा रहै मोम गल जाय।
अब ला भीतर करो विचार, कहा रह्यो बुध ताहि निहार॥
अन्तर मूस पोल है जहाँ, पुरुषाकार रह्यो नभ तहाँ।
याही अम्बर के उनहार, ब्रह्मस्वरूप जान निरधार॥

यह आकाश शून्य जड़ रूप, वह पूरन चेतन चिद्रूप।
यही फेर है या मामाहिं, आकृति में कछु अन्तर नाहीं॥
या विधि परम ब्रह्म को रूप निराकार साकार स्वरूप।
यह दृष्टान्त हिये निज धरो, भवि जिय अनुभव गोचर करो॥

दोहा— बसैं सिद्ध शिवखेत में, ज्यों दर्पन में छाहिं।
ज्ञान नयन सों प्रगट हैं, चर्म नैंन सों नाहिं॥

निर्वाण कल्याण के विषय में भूधरदास जी ने महापुराण का अनुकरण करते हुए इस प्रकार लिखा है :—

तब इन्द्रादिक सुर-समुदाय, मोक्ष गए जाने जिनराय।
श्री निर्वाणकल्याणक काज, आये निज निज वाहन साज॥
परम पवित्त जानि जिनदेह, मणि शिवका पर थापी तेह।
करी महापूजा तिहिं बार, लिए अगर चन्दन घनसार॥
और सुगंधदरब शुचि लाय, नमें सुरासुर शीस नमाय।
अगनिकुमार इन्द्रतैं ताम, मुकुटानल प्रगटी अभिराम॥
तत खिन भस्म भई जिनकाय, परम सुगंध दशौं दिशि थाय।
सो तन भस्म सुरासुर लई, कंठ हिये कर मस्तक ठई॥
भक्ति भरे सुर चतुर निकाय, इहविधि महा पुन्य उपजाय।
कर आनन्द निरत बहुभेव, निज निज थान गये सब देव॥

पावापुरी की अपूर्वता :—पावापुरी को वीर निर्वाण के कारण विश्ववंद्यपता प्राप्त हो गया। मुमुक्षुवर्ग को पावापुरी का पावनप्रदेश पुण्य का प्रदाता बन गया। उस प्रदेश के महत्व का कारण यह है, कि भगवान का अत्यन्त पवित्र लोकोत्तर प्रभाव पूर्ण शरीर पावापुरी को ही प्राप्त हुआ था, इससे भव्यजीव उस स्थान के दर्शन द्वारा विशेष प्रेरणा, स्फूर्ति और निर्मलता प्राप्त करते हैं।

निर्वाण भक्ति में लिखा है :—

इक्षोर्विकार – रसपृक्त – गुणेन लोके।
पिष्टोऽधिकं मधुरतामुपयाति यद्वत्॥

तद्वच्च पुण्यपुरुषैरुषितानि नित्यम् ।
स्थानानि तानि जगतामिह पावनानि ॥ ३१ ॥

इक्षु रस की गुड़ रूप पर्याय इक्षु रस की अपेक्षा जैसे विशिष्ट मधुरता संपन्न होती है, उसी प्रकार तीर्थंकर, गणधर, सामान्य केवली आदि के द्वारा सेवित स्थान जगत् में जीवों को पवित्रता के हेतु पुण्य की प्राप्ति में निमित्त रूप होते हैं।

सिद्ध अवस्था :—वर्धमान भगवान का शरीर पावापुरी में रह गया था, किन्तु उनकी अविनाशी आत्मा परिशुद्ध हो अनंत सिद्ध समुदाय में सम्मिलित हो गई। मरीचिकुमार की पर्याय में इनकी भरतादि के साथ पहले निकटता थी, अब वे सब आत्म परिवार में पुनः मिल गए। परमार्थ दृष्टि से सभी आत्माएँ अपने गुण पर्याय की अपेक्षा पूर्णतया स्वतंत्र हैं। सिद्ध पद प्राप्त करने पर ये अष्टगुण प्रकट हो जाते हैं :—

संमत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥

सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरु-लघुत्व तथा अव्याबाधत्व ये आठ गुण सिद्धों के होते हैं।

वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में सिद्ध भगवान के सुख के सम्बन्ध में ग्रन्थान्तर की यह गाथा दी है :—

अदिसयमाद-समुत्थं विसयादीदं अणोवम-मणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवजोगो य सिद्धाणं ॥ ४६ ॥ पृ. ५८ ॥

अतिशय रूप, अपनी आत्मा से उत्पन्न हुआ, विषयों से रहित, अनुपम, अनंत, विच्छेद रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धों के होता है। (ध. टी. भा. १)

सिद्ध भगवान बनने पर महावीर भगवान के आठ कर्मों का पूर्णतया क्षय हो चुका। किस कर्म के अभाव से कौन गुण प्रगट हुआ, इस विषय में अमृतचन्द्र सूरि तत्वार्थसार में लिखते हैं :—

ज्ञानावरणहानान्ते केवलज्ञान शालिनः ।
दर्शनावरणोच्छेदा दुद्यत्केवलदर्शनाः ॥ ३७ ॥
वेदनीय – समुच्छेदादव्याबाधत्वमाश्रिताः ।
मोहनीय-समुच्छेदात्सम्यक्त्वमचलं श्रिताः ॥ ३८ ॥
आयुः कर्मसमुच्छेदात्परमं सौक्ष्म्यमाश्रिताः ।
नामकर्म-समुच्छेदादवगाहन – शालिनः ॥ ३९ ॥
गोत्रकर्मसमुच्छेदात्सदाऽ गौरवलाघवाः ।
अन्तराय – समुच्छेदादनंतवीर्यमाश्रिताः ॥ ४० ॥

ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने पर भगवान केवलज्ञानी हुए तथा दर्शनावरण का क्षय होने से केवलदर्शन संयुक्त हुए। वेदनीय का विनाश होने से अव्याबाधपना प्राप्त हुआ। मोह क्षय से अक्षय सम्यक्त्वी बने तथा आयु कर्म के क्षय से उत्कृष्ट सूक्ष्मत्व संयुक्त हुए। नाम के क्षय होने से अवगाहन गुण युक्त हुए। गोत्र कर्म के नाश से गुरुता तथा लघुता रहित अर्थात् अगुरुलघुपना प्राप्त हुआ तथा अंतराय कर्म के अभाव में अनन्त वीर्यपने को प्राप्त हुए।

निर्वाण का काल :—जिस क्षण कर्मों का क्षय होता है, उसी क्षण में निर्वाणपना प्रगट होना है। तत्वार्थसार में कहा है :—

उत्पत्तिश्च विनाशश्च प्रकाश-तमसोरिह ।
युगपद्भवतो यद्वत्तद्वन्निर्वाण - कर्मणोः ॥ ३६ ॥

जैसे प्रकाश की उत्पत्ति तथा अंधकार का विनाश एक ही समय होते हैं, उसी प्रकार जीव का निर्वाण तथा कर्मों का विनाश एक काल में होते हैं।

उपमातीत सुख :—मोक्ष का सुख उपमातीत कहा है। इसका कारण आचार्य कहते हैं :—

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽ प्यन्यो न विद्यते ।
उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरुपमं स्मृतम् ॥ ५५ ॥

संपूर्ण लोक में उसके समान दूसरा पदार्थ नहीं है, जिससे उसकी तुलना की जा सके, इस कारण उसे निरुपम कहा गया है।

भगवान की आयु—महावीर भगवान ने बहत्तर वर्ष की अवस्था में मोक्ष प्राप्त किया ऐसी एक परम्परा है। निर्वाण भक्ति में लिखा है, कि असाढ़ सुदी षष्ठी को भगवान का माता त्रिशला के गर्भ में आगमन हुआ। चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को उनका जन्म हुआ था। कुमारकाल में ३० वर्ष व्यतीत हुए "भुक्त्वा कुमारकाले त्रिंशद्वर्षाणि"। उन्होंने मार्ग शीर्ष कृष्णा दशमी को दीक्षा ली। "द्वादशवर्षाणि प्रविजहार"—उन्होंने बारह वर्ष तप करते हुए विहार किया। वैशाखसुदी दशमी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने ३० वर्ष धर्मोपदेश दिया "धर्मं देशयमानो त्रिंशद्वर्षाणि व्यवहरत्"। कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी के प्रभात में मोक्ष प्राप्त किया। इस प्रकार कुमारकाल ३० वर्ष काल मिलाकर ७२ वर्ष आयु कही गई है।

दूसरी परम्परा—जयधवला टीका में वीरसेन आचार्य लिखते हैं, "अण्णे केवि आइरिया पंचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरि—वासाणि त्ति वड्ढमाण-जिणिंदाउअं परुवेंति" (भाग १ गाथा १ पृष्ठ ७६)—कुछ अन्य आचार्य पांच दिन आठ माह कम बहत्तर वर्ष प्रमाण अर्थात् इकहत्तर वर्ष, तीन माह पचीस दिन वर्धमान जिनेन्द्र की आयु थी, ऐसा प्ररूपण करते हैं। उनके कथनानुसार भगवान का गर्भकाल ९ माह ८ दिन है, क्योंकि असाढ सुदी ६ को गर्भावतरण हुआ तथा चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को जन्म हुआ था। वे भगवान का कुमारकाल अट्ठाईस वर्ष, सात माह, बारह दिन कहते हैं, क्योंकि भगवान ने मार्गशीर्ष कृष्ण द्वादशी को दीक्षा ली थी। वे भगवान का छद्मस्थकाल बारह वर्ष, पांच माह, पंद्रह दिन कहते हैं, क्योंकि भगवान ने वैशाख सुदी दशमी को केवलज्ञान प्राप्त किया था। भगवान का धर्म तीर्थ प्रवर्तन काल उनतीस वर्ष पांच माह बीस दिन कहा है, क्योंकि उन भगवान का निर्वाण कार्तिक कृष्ण चौदस को हुआ था।

इस प्रकार उनके कथनानुसार भगवान का गर्भकाल ९ माह ८ दिन तथा कुमारकाल २८ वर्ष, ७ माह १२ दिन और छद्मस्थकाल १२

वर्ष, ५ माह, १५ दिन है। उसमें केवलज्ञान का काल २६ वर्ष ५ माह, २० दिन मिलाने पर कुल आयु ७१ वर्ष ३ माह २५ दिन निकलती है।

जयधवला में चर्चा—जयधवला में यह प्रश्नोत्तर आया है।

शंका—"दोसु वि उवदेसेसु को एत्थ समंजसो ?"—

इन दोनों ही उपदेशों में यहां कौनसा उपदेश ठीक है ?

समाधान—"एत्थ ण बाहइ जीब्म-मेलाइरिय-वच्छओ अलद्धोवदेसत्तादो दोण्हमेक्कस्स बाहाणुवलंभादो, किंतु दोसु एक्केण होदव्वं, तं च उवदेसं लहिय वत्तव्वं"—

एलाचार्य के शिष्य अर्थात् जयधवलाटीकाकार आचार्य वीरसेन को इस विषय में अपनी बात नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इन दोनों में कौन योग्य है, कौन योग्य नहीं है, इस विषय का उपदेश नहीं है। दोनों में से किसी एक के समीचीन होने में बाधा नहीं है, किन्तु दोनों में एक ही होना चाहिये। इसके सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त होने पर ही कुछ कहा जा सकता है।

+ जब गर्भ और निर्वाण की तिथि एक नहीं है, तब पूरे बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु कैसे हो सकेगी ? फिर भी बहत्तर वर्ष की देशना का क्या रहस्य है इसको जानने का इस समय साधन नहीं है। (जयधवला टीका पृष्ठ ७६ से ८२ पर्यन्त, भाग १)

+ भगवान की बहत्तर वर्ष प्रमाण आयु का कथन स्थूल दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है। जैसे आदिनाथ भगवान के विषय में कहा गया है, कि उन्होंने एक वर्ष के अनन्तर पारणा की, किन्तु सूक्ष्मता से काल गणना द्वारा ज्ञात होता है, कि उन्होंने एक वर्ष, एक माह तथा नौ दिन बाद आहार लिया था, क्योंकि उनकी दीक्षा चैत्र कृष्ण नवमी को हुई थी, तथा उन्होंने आहार अक्षय तृतीया अर्थात् वैसाख सुदी तीज को लिया था। इससे एक वर्ष एक माह तथा नौ दिन का अन्तर पड़ा, किन्तु सामान्य कथन द्वारा एक वर्ष ही कहते हैं।

महावीर भगवान के निर्वाण के तीन वर्ष, आठ माह तथा पंद्रह दिन के पश्चात् श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को दुःषमा काल अवतीर्ण हुआ। "सावणमास-पडिवयाए दुस्समकालो ओइण्णो" (पृष्ठ ८१)

दीपावली उत्सव :—भगवान के निर्वाण के उपलक्ष में देव, देवेन्द्रों ने दीपावली उत्सव मनाया था। हरिवंशपुराण में लिखा है, +"कल्याण के कर्ता भगवान महावीर ने अनेक स्थानों पर विहार कर अनेक भव्यों को संबोधा था। अंत में वे पावा नगरी आए और उसके मनोहर स्थान में विराजमान हो गए।

जब चतुर्थ काल का तीन वर्ष साढ़े आठ मास समय बाकी रहा उस समय स्वाति नक्षत्र में कार्तिक वदी अमावस के दिन प्रभात-काल में योगों का निरोधकर घातिया कर्म के समान अघातिया कर्मों का सर्वथा नाश कर वे मोक्ष पधारे और वहाँ के अंतराय रहित सुख का अनुभव करने लगे।

पांचों कल्याणों के अधिपति सिद्ध-शासन भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक के समय देवों ने उनके शरीर की विधिपूर्वक पूजा की। उस समय भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक के उत्सव

+ जिनेन्द्रवीरोपि विबोध्य सततं समंततो भव्यसमूहसंततिम् ।
प्रपद्य पावानगरी गरीयसी मनोहरोद्यानवने तदीयके ॥ १५ ॥
चतुर्थकालेऽर्ध-चतुर्थमासकै विहीनताविश्चतुरब्द-शेषके ।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूत-सुप्रभात-संध्यासमये स्वभावतः ॥ १६ ॥
अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातीधन-वद्-विबंधनः ।
विबंधन स्थानमवाप-शंकरो निरंतरायोरु-सुखानुबन्धनम् ॥ १७ ॥
स पंचकल्याणमहा-महेश्वरः प्रसिद्ध-निर्वाणमहे चतुर्विधैः ।
शरीर-पूजाविधिना विधानतः सुरैः समभ्यर्च्यत सिद्धशासनः ॥ १८ ॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।
तदा स्म पावानगरी समंततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥ १९ ॥

के समय सुर असुरों ने अत्यन्त देदीप्यमान दीपक जलाए, जिससे पावा नगरी अति सुहावनी जान पड़ने लगी तथा दीपकों के प्रकाश से समस्त आकाश जगमगा उठा। महाराज श्रेणिक आदि ने अपनी प्रजा के साथ तथा देव और देवेन्द्रों ने निर्वाण कल्याणक की पूजा की तथा ज्ञान लाभ की प्रार्थना कर वे अपने-अपने स्थान चले गए।

भगवान के निर्वाण दिन से लेकर आज तक भी जिनेन्द्र महावीर के निर्वाण कल्याण की भक्ति से प्रेरित हो लोग प्रतिवर्ष भरत क्षेत्र में दिवाली के दिन दीपों की पंक्ति से उनकी पूजा करते हैं।"

पावापुरी की अवस्थिति—भगवान का निर्वाण पावापुरी में हुआ था। कहते हैं प्राचीन भारत में तीन पावा नाम की नगरियां थी। गोरखपुर जिले के पपउर ग्राम को कोई इतिवृत्त विशारद पावापुर रूप निर्वाणभूमि कहते हैं। कोई कुशीनगर से वैशाली की ओर जाती हुई सड़क पर नौ मील की दूरी पर पूर्व-पश्चिम दिशा में सठियांव नामक गांव के भग्नावशेष को पावापुर कहते हैं। यह भग्नावशेष लगभग डेढ मील विस्तार युक्त है। इस स्थान को फाजिल नगर भी कहते है। कोई पावा को मलय देश की राजधानी बताते है। इस प्रकार पुरातत्वज्ञों की भिन्न २ धारणायें हैं।

जैन समाज द्वारा पावापुरी के नाम से पूजा जाने वाला निर्वाण स्थल विहारशरीफ स्थान से लगभग १० मील दूरी पर स्थित है। यहाँ सरोवर के मध्य में संगमरमर का अत्यन्त भव्य तथा सुरम्य मंदिर है। लगभग ६०० फुट लम्बे लाल पत्थर के पुल पर चलकर यह जल-मंदिर प्राप्त होता है। इस जल मंदिर के भीतर भगवान महावीर के श्याम वर्ण के पाषाणके छोटे चरण विद्यमान हैं। इस मंदिर में प्रवेश करते ही भगवान महावीर की पावन स्मृति जग जाने से भक्त के हृदय मे आनन्द की धारा बहने लगती है। अद्भुत तथा वाणी के अगोचर शांतिप्रद वह पुण्य स्थल है। योग विद्या के अभ्यासी उसे महान साधना का स्थल मानते हैं। डा० जैकोबी इसे ही निर्वाण स्थल मानते हैं।

निर्वाणकाल—भगवान महावीर का निर्वाण सामान्यतया ईसवी सन से ५२७ वर्ष पूर्व माना जाता है। इस प्रकार सन १९६८ में भगवान को मोक्ष गए २४९५ हो गए यह स्वीकार करना होगा। डा० जेकोबी का कथन है, कि भगवान का निर्वाण विक्रम राजा से ४७० पूर्व हुआ; यह श्वेताम्बरों की मान्यता है, किन्तु दिगम्बरों के शास्त्रानुसार वह काल ६०५ वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। यह दिगम्बर मान्यता श्वेतांबरों की मान्यता से १३५ वर्ष पूर्व निर्वाण को बताती है। ईसवी सन से ५७ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् माना जाता है। इस अपेक्षा महावीर निर्वाण संवत ईसवी सन से (६०५+५७=६६२ वर्ष) ६६२ वर्ष पूर्व माना जाना चाहिए। इस प्रकार सन १९६८ में वीर निर्वाण संवत १९६८+६६२= २६३० पूर्व मानना चाहिए। प्रचार में जो वीर निर्वाण २४९४ माना जाता है, वह श्वेताम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। डा० जैकोबी ने कहा है "The traditional date of Mahavira's nirvana is 470 years before Vikrama according to the Swetambaras and 605 according to the Digambaras."

"श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण विक्रम से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था तथा दिगम्बर परम्परा के अनुसार उनका निर्वाण विक्रम से ६०५ वर्ष पूर्व हुआ था।"

अपने ग्रंथ शिलालेख संग्रह में राईस (Rice) नाम के विद्वान विक्रम का समय महावीर के निर्वाण के ६०५ वर्ष बाद मानते हैं।

अतः दिगम्बर जैन आगम के अनुसार प्रचलित वीर निर्वाण काल २४९५ मे १३५ जोड़ने पर २६३० वीर निर्वाण मानना सुसंगत होगा।

विहार शासन द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ "Bihar through the ages" में लिखा है कि महावीर भगवान के निर्वाण का काल अभी विवादास्पद है और यह अब तक निर्णीत नहीं हो पाया है। स्वयं जैन परम्परा इस विषय में एक मत नहीं है। "The date of the death of Mahavira is matter of controversy and is not yet

definitely fixed. Even Jain tradition itself is not unanimous about it."—(P 128)

भगवान के निर्वाण काल निर्णय से या निर्वाण क्षेत्र के विवाद से उनकी मुक्ति में स्थिति को कोई बाधा नहीं पहुँचती है। उन पुरुषार्थी महान आत्मा ने कर्मों का क्षय करके जो सिद्धि प्राप्त की है, वह विनाश रहित है। सादि होते हुए भी अनन्त है। उन पूज्य आत्मा ने अनादि बद्ध कर्मों का अंत करके अनंत शान्ति तथा अविनाशी आनंद को प्राप्त किया है। उनका पुण्य स्मरण भी पतित आत्मा का उद्धार करता है तथा उसे संकटों से विमुक्त बनाता है।

भगवान महावीर प्रभु के पुरुरवा पर्याय से लेकर तीर्थंकर अवस्था तक की विविध पर्यायों पर दृष्टि डालते हुए उत्तर पुराण में महर्षि गुणभद्र ने उनका इन शब्दों में स्मरण किया है :—

"भगवान वर्धमान का जीव पहिले पुरुरवा भील था, फिर पहिले स्वर्ग में देव हुआ, फिर भरत का पुत्र मरीचि हुआ। पाँचवे स्वर्ग में देव हुआ, फिर जटिल ब्राह्मण हुआ। वहाँ से सौधर्मस्वर्ग में देव हुआ, फिर अग्निविप्र नाम का ब्राह्मण हुआ। वहाँ से तीसरे सानत्कुमार स्वर्ग में देव हुआ। फिर अग्निमित्र नाम का ब्राह्मण हुआ, वहाँ से आकर भारद्वाज नाम का ब्राह्मण हुआ। और फिर चौथे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर फिर मनुष्य हुआ और फिर असंख्यात वर्षों तक नरकों में तथा त्रस और स्थावर पर्यायों में उस जीव ने परिभ्रमण किया। वहाँ से निकलकर फिर स्थावर नाम का ब्राह्मण हुआ। वहाँ से चौथे स्वर्ग मे देव हुआ, फिर राजा विश्वनन्दी हुआ। इसके बाद महाशुक्र नाम के दशवें स्वर्ग में देव हुआ; फिर तीन खंड का स्वामी त्रिपृष्ट नारायण हुआ। वहाँ से सातवें नरक गया और फिर सिंह हुआ। वहाँ से फिर पहिले नरक में गया, वहाँ से आकर सिंह हुआ।

इसी सिंह की पर्याय में उसने निर्मल सद्धर्म धारण किया और उस पर्याय को छोड़कर सौधर्मस्वर्ग में वह सिंहकेतु नाम का उत्तम

देव हुआ। तदनन्तर कनकोज्ज्वल नाम का विद्याधरों का राजा हुआ। फिर सातवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर राजा हरिषेण हुआ। फिर महाशुक्र नामके दशवें स्वर्ग में देव हुआ। उसके बाद प्रियमित्र राजा हुआ। फिर सहस्रार नामके बारहवें स्वर्ग में सूर्यप्रभ नाम का देव हुआ। वहाँ से आकर नन्द नामका राजा हुआ। वहाँ से सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्र हुआ और वहाँ से च्युत होकर महाश्रमण भगवान महावीर हुआ; जिन्होंने पंचकल्याणक रूप श्रेष्ठ वैभव प्राप्त किया और जिन्हें मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हुई। ऐसे वे महाश्रमण भगवान श्री वर्धमान स्वामी गुणभद्र के लिए अथवा गुणवानों के लिए सब तरह के मंगल प्रदान करें।"

गौतम गणधर ने उन देवाधिदेव वर्धमान भगवान को इन शब्दों में प्रणामांजलि अर्पित की है :—

श्रीमते वर्धमानाय नमो नमित-विद्विषे।
यज्ज्ञानान्तर्गतं भूत्वा त्रैलोक्यं गोष्पदायते॥

मैं उन अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी समन्वित वर्धमान भगवान को प्रणाम करता हूँ, जिन की उपसर्गकारी संगम आदि देवों ने वंदना की तथा जिनके ज्ञान के मध्य तीनों लोक गोष्पद (गाय के पैर) सदृश प्रतीत होते हैं।

'भगवं सरणो महावीरो'

शुभमस्तु

—०—०—

परिशिष्ट

सर्वज्ञता और समवशरण

मोहनीय कर्म तथा घातिया त्रय के क्षय होने पर महाश्रमण महावीर प्रभु ने केवलज्ञान ज्योति प्राप्त करली। उनके कैवल्य को आगम में सर्वज्ञता रूप में कहा गया है। वह युक्तिसंगत भी है। जैन आगम की नय पद्धति की योजना के बारे में भ्रमयुक्त व्यक्ति सर्वज्ञता के सम्बन्ध में सोचता है कि सर्व शब्द का अभिधेय केवल आत्मा ही है। विश्व के अनन्त पदार्थों का ज्ञान केवलज्ञान होने पर नहीं होता।

जैन आगम के व्यवस्थित परिशीलन के द्वारा उपरोक्त धारणा अयथार्थ रूप में अवगत होती है।

आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है:—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥ २३॥

जीव ज्ञान के बराबर है, क्योंकि द्रव्य अपने गुण पर्यायों के समान है। ज्ञान ज्ञेय के प्रमाण है ऐसा जिनेन्द्र भगवान का कथन है। ज्ञेय लोक तथा अलोक हैं। इसलिए ज्ञान सर्वव्यापक है। इस प्रकार केवली के केवलज्ञान को लोकालोक का ज्ञाता कहा गया है।

परमात्मप्रकाश में कहा है :—

तारायणु जलि बिंबियउ णिम्मलि दीसइ जेम।
अप्पए णिम्मलि बिंबियउ लोयालोउवि तेम॥ १०३॥

जैसे ताराओं का समुदाय निर्मल जल में प्रतिबिम्बित हुआ दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार निर्मल आत्मा में लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित होते हैं।

विशेष बात :—इस प्रसंग में यह बात ध्यान देने की है, कि आत्मा लोक तथा अलोक का ज्ञाता होते हुए भी अपने प्रदेशों के बाहर नहीं जाता है। जैसे घट, पटादि पदार्थ दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं, तथा दर्पण अपने स्वरूप में स्थित रहता है, उसी प्रकार पदार्थ भी अपने स्वरूप में रहते हैं। दर्पण पदार्थों में नहीं जाता है तथा पदार्थ दर्पण में नहीं आते हैं। सर्व द्रव्य अपने स्वरूप में रहते है। इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप आत्मा लोक तथा अलोक का ज्ञान करते हुए भी लोक अलोक भी ज्ञान स्वरूप से भिन्न हैं, क्योंकि उसका स्वचतुष्टय भिन्न २ है।

अमृतचन्द्रसूरि का यह कथन मनन योग्य है :—"तत्र निश्चय-नयेनानाकुलत्व-लक्षण-सौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्म-प्रमाण - ज्ञानस्वतत्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकारानुपगम्या - वबुध्य - मानोपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते" + (प्रवचनसार गाथा ३६ की टीका)—भगवान निश्चयनय की अपेक्षा अनाकुलता लक्षण रूप सुख के संवेदन के अधिष्ठान रूप आत्मप्रमाण

+ निश्चय दृष्टि के द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप जैसे यथार्थ है, उसी प्रकार व्यवहार नय के द्वारा निरूपित पदार्थ का स्वरूप भी मिथ्या नहीं है। पंचाध्यायी में लिखा है, कि सम्यक्त्वी ऐसा विचारता है :—

लोको मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः।
नापर लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥

मेरा चैतन्य लोक ही यथार्थ लोक है। वह वास्तव में नित्य है। उसके सिवाय अन्य लौकिक लोक नहीं है; अतः लोक का भय मुझे क्यों होगा ?

यह विचार निश्चय नय की अपेक्षा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहार नय निरूपित जीवादि छह द्रव्य अस्तित्व शून्य हो गए। यदि निश्चय नय विद्यमान वस्तुओं का सर्वथा लोप करने लगे, तो जैनागम की तत्व व्यवस्था गड़बड़ी में पड़ जायगी। इसी प्रकार केवली भगवान की सर्वज्ञता है। निश्चय नय से वे आत्मज्ञ हैं तथा व्यवहार नय से लोक तथा अलोक के ज्ञाता हैं।

ज्ञानमय निजतत्व का त्याग नहीं करते हैं तथा विश्व के ज्ञेय के आकार को नहीं प्राप्त करते हैं, यद्यपि वे उनका ज्ञान करते हैं। व्यवहार नयसे भगवान सर्वगत (सर्व व्यापक) कहे गए हैं।"

यह भी बात सुस्पष्ट है, कि ज्ञान का स्वभाव पर के तथा स्व के स्वरूप का प्रकाशन करना है, किन्तु ज्ञान पर को प्रकाशित करते हुए भी वह अपने द्रव्य के साथ तादात्म्य संबंध को नहीं छोड़ता है। वह अन्य द्रव्य के साथ तादात्म्य रूप नहीं होता है।

जो यह सोचते हैं, कि आत्मा सर्वज्ञ नहीं है, किन्तु आत्मतत्व का पूर्णतया ज्ञाता है, वे वस्तु स्वरूप से अपरिचित हैं।

मर्म की बात—कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं :—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

जो पुरुष तीन लोक में स्थित त्रिकाल सम्बन्धी पदार्थों को एक समय में नहीं जानता है, उसके अनंतपर्यायों सहित एक द्रव्य को भी जानने की शक्ति नहीं है।

आत्मज्ञता तथा सर्वज्ञता :—अमृतचंद्र सूरि का कथन है, "यः सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानाति"—जो सबको नहीं जानता है, वह आत्मा को भी नहीं जानता है। "यआत्मानं न जानाति, स सर्वं न जानाति" - जो आत्मा को नहीं जानता है, वह समस्त पदार्थों को नही जानता है। अतः उनके ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, "अथ सर्व-ज्ञानादात्मज्ञानं - आत्मज्ञानात्सर्वज्ञानम्" संपूर्ण पदार्थों के ज्ञान होने पर आत्मा का ज्ञान होता है तथा आत्मा का ज्ञान होने पर सर्व पदार्थों का ज्ञान होता है।

शंका :—जयसेनाचार्य की टीका में एक सुन्दर शंका की गई है, "छद्मस्थानां सर्वपरिज्ञानं नास्ति आत्म-परिज्ञानं कथं भविष्यति? आत्म-परिज्ञानाभावे चात्मभावना कथं? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्ति-

नास्तीति" (पृ. ६५)—छद्मस्थों के सर्व पदार्थों का परिज्ञान नहीं पाया जाता है, उनके आत्मा का ज्ञान कैसे होगा? आत्मा के परिज्ञान का अभाव होने पर आत्मा की भावना कैसे होगी? उसके अभाव में केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है।

समाधान :—परिहारमाह – "परोक्षप्रमाणभूत – श्रुतज्ञानेन सर्व पदार्था ज्ञायन्ते। कथमिति चेत्–लोकालोकादि–परिज्ञानं व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञानं परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषय-ग्राहकं कथंचिदात्मैव भण्यते।"

उसका समाधान यह है कि परोक्ष प्रमाण रूप श्रुतज्ञान से संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान होता है। कैसे? व्याप्तिज्ञान के द्वारा लोक तथा अलोक का ज्ञान छद्मस्थों के भी पाया जाता है। वह व्याप्तिज्ञान परोक्ष रूप से केवलज्ञान के विषय का ग्राहक कथंचित् आत्मा कहा जाता है।

"अथवा स्वसंवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तथा रागादि - विकल्परहित - स्वसंवेदनज्ञान - भावनया केवलज्ञानं च जायते।"

अथवा स्व-संवेदनज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान होता है; इसके द्वारा भावना की जाती है। रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन-ज्ञान रूप भावना के द्वारा केवलज्ञान उत्पन्न होता है। इससे कोई दोष नहीं आता है। जो ज्ञान क्रम-क्रम से पदार्थों को जानता है, वह सम्पूर्ण जगत् के अनन्त पदार्थों को नहीं जान सकता है। जो ज्ञान युगपत् सबको जानता है, उससे ही सर्वज्ञ पद की सिद्धि होती है।

प्रवचनसार में कुंदकुंद स्वामी कहते हैं :—

तिकाल-णिच्च-विसमं सयल सव्वत्थ संभवं चित्तं।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं॥ ५१॥

केवलज्ञान का फल—केवल ज्ञान प्रमाण स्वरूप है। उसका फल क्या है? प्रमाण का फल होना चाहिये। इस विषय में समंतभद्र

स्वामी लिखते हैं, "उपेक्षा-फल माद्यस्य"+ प्रथम अर्थात् केवलज्ञान का फल उपेक्षाभाव है। उपेक्षा का स्वरूप सर्वार्थसिद्धि में इस प्रकार कहा गया है "रागद्वेषयोर-प्रणिधान मुपेक्षा" (सूत्र १०, अ. १, पृ. ४१) राग तथा द्वेष रूप उपयोग का नहीं होना उपेक्षा है।

भगवान महावीर प्रभु के सर्वज्ञ बनने पर विश्व के भले, बुरे सभी प्रकार के पदार्थ उनके ज्ञानगोचर हो गए। स्वर्ग के देवेन्द्रों के आनन्द के साथ एक श्वास में अष्टादशवार जन्म मरण का दुःख भोगने वाले निगोदिया जीवों एवं सप्तम नरक के नारकियों आदि का पूर्ण स्वरूप भी उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो गया। फिर भी उनके भावों में न राग का उदय था, न द्वेष का सद्भाव था; क्योंकि राग तथा द्वेष के कारण मोहनीय का क्षय करने के पश्चात् ही सर्वज्ञता की उज्ज्वल ज्योति प्राप्त हुई थी। वे वीतराग बन चुके थे, अतः रागात्मक करुणाभाव से वे ऊपर उठ चुके थे। रागयुक्त कारुण्यमूर्ति बनकर यदि लोकसेवा या लोकोपकार के कार्य में सर्वज्ञ की प्रवृत्ति हो, तो उनके शुक्लध्यान का अभाव होकर समाधि का क्षय होगा।

तीर्थंकर कर्म के कारण लोक हित:—इस विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि तीर्थंकर के द्वारा लोक हित का पुण्यकार्य नहीं होता है। अष्टसहस्री में लिखा है; "तीर्थंकरत्व नामोदयात्तु हितोपदेश-प्रवर्तनात् परदुःख-निराकरणसिद्धिः,"—तीर्थंकर प्रकृति नामक कर्म के उदय होने पर भगवान के द्वारा कल्याणकारी उपदेश दिया जाता है, उससे दूसरे जीवों के दुःखों के निराकरण की सिद्धि होती है।

केवली की दया का रहस्य:—"निःशेषान्तराय-क्षयादभयदानं स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया"—समस्त अन्तराय कर्म का क्षय हो जाने से ज्ञानावरणादि के क्षययुक्त जिनेन्द्र के अभयदानरूप धर्म की देशना श्रेष्ठ दया है।" (अष्टसहस्री विवरणम् पृ. ३५०)।

+ आप्तमीमांसा, कारिका १०२ ॥

रागमयी प्रवृत्ति का अभाव :—कोई कोई दार्शनिक अपने आराध्य प्रभु में रागमयी करुणा का सद्भाव मानते हैं। उनके यहाँ आत्म मोहनीय कर्म के जाल से नहीं छूट पाता है, अतः वह मुक्ति के मन्दिर में प्रवेश नहीं कर पाता।

वीतराग बनने वाली आत्मा को सम्पूर्ण आकांक्षाओं का परित्याग आवश्यक है।+ मोक्ष की इच्छा भी मोक्ष के लाभ में विघ्नकारी है।

वास्तविक तीर्थंकरपना का उदय :—महावीर भगवान के गर्भ में आने पर गर्भकल्याणक मनाया गया। आगे जन्म तथा तप कल्याण भी मनाये गये और उन्हें तीर्थंकर भगवान माना गया, किन्तु वह कथन नैगमनय की अपेक्षा किया जाता था। भगवान आगे केवलज्ञान प्राप्त करने पर तीर्थंकर प्रकृति के उदय का अनुभव करेंगे, इस अपेक्षा से भावी नैगमनय की दृष्टि से उनको तीर्थंकर कहते थे। वास्तव में देखा जाय, तो तीर्थंकर प्रकृति का उदय सयोगी जिन बनने के पूर्व नहीं पाया जाता है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखा है :—

> आहारं तु पमत्ते तित्थं केवलिणि मिस्सयं मिस्से।
> सम्मं वेदग सम्मे मिच्छदुगयदेव आणुदओ ॥ २६१ ॥

आहारक युगल का उदय प्रमत्त गुणस्थान में ही होता है। तीर्थंकर प्रकृति का उदय केवली के ही होता है। मिश्र प्रकृति का उदय मिश्र गुणस्थान में, सम्यक्त्व प्रकृति का वेदक सम्यक्त्व में तथा आनुपूर्वी का उदय मिथ्यात्वी, सासादनी तथा असंयत सम्यक्त्वी के होता है।

महावीर प्रभु ने जृम्भिक ग्राम के मनोहर वन में केवलज्ञान प्राप्त किया था। वहाँ ऋजुकूला नदी बहती थी। केवली होने पर

\+ विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शांति मधिगच्छति ॥ ७१-२ ॥ गीता

तीर्थंकर प्रकृति का उदय उसी समय हो गया। उसके उदय से त्रिभुवन में महावीर भगवान के केवलज्ञान की पुण्य वार्ता क्षणमात्र में पहुँच गई।

कैवल्योत्पत्ति की सूचना—जिस क्षण में महावीर भगवान ने केवलज्ञान प्राप्त किया, उसी समय कल्पवासी देवों के यहाँ स्वयमेव घण्टा बजना आरम्भ हो गए। ज्योतिषियों के यहाँ सिंहनाद, व्यंतरों के यहाँ नगाड़ों की ध्वनि, भवनवासियों के भवनों में शंखनाद हो रहे थे। उस समय इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए थे।

महाकवि जिनसेन स्वामी कहते हैं:—

विष्ट राण्यमरेशानां अशनैः प्रचकंपिरे।
अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं जिन-जयोत्सवे ॥ ६—२२ ॥

उस समय इन्द्रों के आसन भी शीघ्र ही कम्पायमान हो गए थे, मानो जिनेन्द्र भगवान को घातियां कर्मों के जीतने से जो गौरव प्राप्त हुआ था, उसे वे सहन करने में असमर्थ होते हुए कम्पायमान होने लगे थे।

कल्पवृक्षों से पुष्पों की वर्षा हो रही थी, मानों वे भगवान के लिए पुष्पांजलि ही समर्पित कर रहे हों।

दिशः प्रसत्तिमासेदुः बभ्राजे व्यभ्रमम्बरम्।
विरजीकृत – भूलोकः शिशिरो मरुदाववौ ॥ ६—२२ ॥

समस्त दिशाएं निर्मल हो गई थीं; आकाश मेघ रहित हो शोभायमान हो रहा था; तथा पृथ्वी मण्डल को धूलि रहित करती हुई शीतल पवन बह रही थी।

दिव्य लोक में उत्साह—इन्द्रों ने इन चिन्हों से जिनेन्द्र देव के केवलज्ञान की उत्पत्ति का निश्चय कर लिया था। देवगण सुरपति के साथ जृंभक ग्राम की ओर बढ़े। सौधर्मेन्द्र ने इन्द्राणी तथा ऐशान इन्द्र के साथ बलाहक देव निर्मित कामग विमान में आभियोग्य जातीय नागदत्त देव द्वारा ऐरावत रूप विक्रियात्मक गज पर आरूढ़ होकर प्रस्थान किया।

आगे आगे किल्विषिक जाति के देव जोर जोर से नगाड़ों के मधुर शब्द करते थे। उनके पीछे इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक तथा प्रकीर्णक देव अपने अपने वाहनों पर आरूढ़ होकर सौधर्मेन्द्र के पीछे पीछे आ रहे थे।

उस समय अप्सराएं नृत्य कर रही थीं, गन्धर्व देव बाजे बजाते थे। किन्नरियाँ गीत गा रही थीं। इस महान वैभव तथा पवित्र उल्लास के साथ देवगण ज्ञानकल्याणक के लिए आ रहे थे।

समवशरण का निर्माण—इन्द्र के आदेश को पाकर कुबेर ने वर्णनातीत वैभव युक्त समवशरण की रचना की थी।

पारस पुराण में लिखा हैं :—

यों चली चतुर्विधि सुर समाज, जिन–केवल–पूजा करन काज।
अम्बर तजि आए अवनि मांहि, जहं समोसरन धुज फहराहिं ॥६२॥
जो सुरपति को उपदेस पाय, धनपति ने कीनो प्रथम आय।
वर पंचवर्ण मणिमय अनूप जगलक्ष्मी को कुलग्रह सरूप ॥ ६२ ॥
समोसरन की सम्पदा लोकोत्तर तिंहु भौन।
वचन द्वार वरने तिसै, सो बुध समरथ कौन ॥ ६४ ॥

तीर्थंकर भगवान के आश्चर्यकारी पुण्य के प्रभाव से उनके समवशरण की रचना इतनी अपूर्व रहती है, कि स्वयं कुबेर भी स्वतंत्र रूप से वैसी रचना करने में असमर्थ है। हरिवंश पुराण में लिखा है—

अथ त्रैलोक्य - सारैक - संदोहमय - मद्भुतम्।
भाति भर्तृ - प्रभावोत्थं तत्पदं बहुविस्मयम् ॥ १२३ ॥
कृतावधान स्तत्सिद्धि भूयः स्रष्टापि चिंतयन्।
ध्रुवंमोमुह्यतेऽन्यस्य तथा चेत्तत्र का कथा ॥ १२४—सर्ग ५७ ॥

जिनेन्द्रदेव के प्रभाव से तीन लोक के एकत्रीकृत सार का पुंज रूप वह समवशरण बड़ा ही आश्चर्यकारी होता है।

जब उसका निर्माता स्वयं कुबेर विशेष ध्यान लगाकर भी पुनः चिंतवन करते हुए फिरसे निर्माण करने में असमर्थ है, तब अन्य लोगों की क्या बात है ?

दश-षोडशभिस्तस्य सुवर्णमणिजातिभिः ।
यथास्थानं स्वयं चित्रं निर्माणमभिराजते ॥ १२५ ॥ ५७ ॥

वह समवशरण छव्वीस प्रकार के मणियों तथा सुवर्ण से निर्मित होता है, अतः उसका सौन्दर्य आश्चर्य जनक रहता है ।

भगवान आदिनाथ प्रभु का समवशरण द्वादशयोजन प्रमाण था । समवशरण की भूमि कमल के समान कही गई है । गंधकुटी कली के समान है तथा बाह्य विस्तार कमल पत्रों के आकार का होता है ।

हरिवंश पुराण में लिखा है :—

इंद्रनीलमयी भूमिर्बाह्यादर्श–तलोपमा ।
भूयसामपि भूयस्त्वं विशतां विदधाति या ॥ ८ ॥ ५७ ॥

उसकी भूमि इंद्रनीलमणि निर्मित रहती है । उसका बाह्य भाग दर्पण के समान स्वच्छ रहता है । अनेक व्यक्तियों के प्रवेश करने पर भी वहां स्थान की कभी कमी नहीं रहती है ।

मानस्तंभ में प्रतिमा :—समवशरण में विराजमान त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्र को जहां से भक्तिवश दूर से नमस्कार करते हैं, उस स्थान को मानांगण कहा गया है । इस मानांगण भूमि की चार दिशाओं में विस्तृत चार गलियां होती हैं । उनके मध्यम में मानस्तंभों के पीठ रहते हैं । उन पर स्वर्ण तथा रत्ननिर्मित प्रतिमा रहती हैं । उनकी सुरासुर वंदना करते हैं ।

जहां आकर मनुष्य और देव मानस्तंभ की पूजा करते हैं, उस पद्मराग मणि से देदीप्यमान भूमिका नाम आस्थानांगण है । पीठों के ऊपर चार मानस्तंभ होते हैं, जो एक योजन से कुछ अधिक ऊंचे होते हैं, तथा द्वादश योजन की दूरी से दृष्टिगोचर होते हैं । उनका मूलभाग

कमलमणिमयी, मध्य भाग स्फटिकमयी तथा अग्रभाग वैडूर्यमणिमयी होता है। इनके अग्रभाग में रत्नमयी जिन बिम्ब रहते हैं। इन मानस्तम्भों का अद्भुत तेज होता है। ये बीस योजन पर्यन्त आकाश को प्रकाशित करते हैं। ये अभिमानी देव तथा मनुष्यों के अहंकार को नष्ट करते हैं।

सरोवर—मानस्तम्भों के आगे चारों दिशाओं में चार सरोवर रहते हैं, जो मनोहर कमलों से व्याप्त तथा हंस, सारस आदि पक्षियों के मधुर स्वर से मनोहर जान पड़ते हैं।

प्राकार—सरोवरों से आगे महा देदीप्यमान प्राकार-परकोटा रहता है।

खाई—परकोटा के चारों ओर घोंटू पर्यन्त जलसे भरी खातिका-(खाई) रहती है। उसकी भूमि स्फटिकमणि के समान होती है। इसका जल सुवर्णमयी कमलों के रज से पीत वर्ण का दिखता है।

लतावन—खाई के चारों ओर सुगन्धित पुष्पों से अलंकृत लताओं का वन होता है, जिस पर विविध पक्षी तथा भ्रमर विचरते रहते हैं। उस लतावन को वेष्टित करने वाले चांदी के रंग के विजय, वैजयंत आदि चार गोपुरों से सुशोभित परकोटा रहता है। उन गोपुरों पर व्यंतर जाति के द्वारपाल रहते हैं, जो दुष्ट जीवों को रोकते हैं और हाथ में मुगदग अस्त्र लिए रहते हैं। इन गोपुरों में मणिमय तोरण रहते हैं। उनके पसवाड़ों में छत्र, चामर, भृङ्गार आदि एकसौ आठ द्रव्य विराजमान रहती हैं।

नाट्यशाला · दरवाजे के दोनों ओर दो नाट्यशाला रहती हैं। वे तीन मंजिल की होती हैं।

वन—नाट्यशाला के आगे पूर्व दिशा में अशोक, दक्षिण में सप्तपर्ण, पश्चिम में चंपक, और उत्तर में आम्रवन पाये जाते हैं।

चैत्यवृक्ष—इन वनों में एक एक चैत्य वृक्ष होता है। वे चैत्य-वृक्ष जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं से युक्त रहते हैं।

वापिका—इन वनों में सुन्दराकार वाली वापिकाएं रहती हैं। चारों वनों में चौबीस वापिकाएं रहती हैं।

तद्वापी- पुष्प -संदोहं यमोत्कं प्रास भाक्तिकाः।
श्रास्तूपं क्रमशोभ्यर्च्य विशंति क्रम-कोविदाः ॥ ३७ ॥

भक्त जन इन वापियों के पुष्पों को तोड़कर स्तूप पर्यन्त जिनेन्द्र बिम्बों को पूजते हुए समवशरण में प्रवेश करते हैं।

वेदी—गोपुरों से आगे दिव्य वज्रमयी वेदी रहती है।

ध्वजा—मार्ग के दोनों पसवाड़ों में ध्वजा फहराती हैं। उनमें मयूर, हंस, गरुड़, माला, सिंह, हाथी, मगर, कमल, वृषभ और चक्रों के चिन्ह रहते हैं।

नृत्यशाला से आगे पांच मजले वाले रत्नमयी चार गोपुरों से शोभायमान सुवर्णमयी दूसरा परकोटा पाया जाता है। उसके पसवाड़ों में दो दो मङ्गल कलश और द्वारों पर हाथ में बेत लिए हुए मनोज्ञ भवनवासी देव द्वारपाल रहते हैं। द्वारों के आगे दो दो नाट्यशालाएं और उनके आगे दो दो सुवर्णमयी धूप के घड़े रहते हैं।

कल्पवृक्ष वन :—उससे आगे चारों दिशाओं में सिद्धों की प्रतिमा से युक्त दो-दो सिद्धार्थ वृक्षों के धारक यथायोग्य वीथियों के अन्त में कल्पवृक्षों के वन रहते हैं।

स्तूप—इसके पश्चात चार गोपुरों से युक्त चारों ओर वन की वेदी रहती है तथा मार्ग में तोरणों से व्याप्त नौ-नौ स्तूप रहते हैं।

पद्मरागमणिमयी स्तूपों के अन्त में मुनि तथा देवों के योग्य रत्नमयी सभागृह रहते हैं।

तृतीय परकोटा—इन सभागृहों के आगे स्फटिक मणिमयी नाना-रत्नों से व्याप्त सतखने चार द्वारों से भूषित तृतीय परकोटा है। द्वारों के दोनों पसवाड़ों में दर्शकों को अतीत भव दिखाने वाले सुन्दर रत्न

के आसनों पर स्थित मङ्गल-दर्पण रहते हैं। गोपुरों में कल्पवासी देव द्वारपालों का काम करते हैं।

उससे आगे नाना प्रकार के वृक्ष, लतागृह, वाद्यशाला आदि से अलंकृत वन रहते हैं। वीथियों के मध्य में वेदिकाओं से युक्त 'कल्याण जय' नाम का आंगण रहता है। उसमें जगह-जगह केले के वृक्ष शोभायमान होते हैं। वेदी के मध्य में वाद्यशाला रहती है। उसके बीच में देदीप्यमान दूसरा पोठ रहता है। पीठ से आगे चैत्यवृक्ष रहते हैं, जिन पर सिद्ध भगवान की प्रतिमा रहती हैं।

स्वर्णमयी स्तूप :—उससे आगे सुवर्णमयी द्वादश स्तूप रहते हैं। चारों दिशाओं में द्वार और वेदियों से भूषित नंदा, भद्रा, जया और पूर्णा नाम की चार विशाल बावड़ी रहती हैं। उनके विषय में आचार्य कहते हैं :—

ताः पवित्रजलापूर्णा - सर्वपाप - रुजाहराः ।
परापरभवाः सप्त दृश्यंते यासु पश्यतां ॥ ७४ ॥ ५७ ॥

वापिकाओं की विशेषता :—वे वापिकाएँ पवित्र जल से पूर्ण हैं। समस्त पाप रूप रोगों को दूर करने वाली हैं। उनमें मनुष्य अपने तीन पिछले भव, एक वर्तमान तथा तीन आगामी भवों को देखते हैं।

वापिकाओं के आगे एक जयांगण (इन्द्रध्वज) रहता है। वहां पर देव, मनुष्यों से व्याप्त अनेक प्रासाद-मंडप तथा आनन्ददायी स्थान रहते हैं, जिससे वह स्थल सुन्दर दिखता है।

चित्रों का सद्भाव :—उस जयांगण के महलों की दीवालों पर पुराणोक्त महापुरुषों के चित्र अंकित पाये जाते हैं। × कहीं पुण्य फलों की प्राप्ति, कहीं पापों के फलों के चित्र रहते हैं, जिनसे वे धर्म अधर्म का स्वरूप बताते हैं।

× क्वचित्पुण्य - फल-प्राप्त्या पाप - पाकेन च क्वचित् ।
धर्माधर्मगतिं साक्षात् दर्शयंतीव पश्यतः ॥८१॥-सर्ग ५७

कहीं पर दान, शील, तप और पूजा के चित्र हैं। कहीं उनके द्वारा प्राप्त फलों के चित्र रहते हैं। कहीं-कहीं दान आदि नहीं करने वालों की विपत्ति के चित्र हैं। इनसे वह जयांगण मनुष्यों को दान आदि के लिए प्रेरित करता है। उस जयांगण के मध्य में एक स्वर्णमयी पीठ रहता है, जो जिनेन्द्र की जयलक्ष्मी का मूर्तिमान शरीर रूप लगता है।

श्रुतदेवी मंडप :—उसके पश्चात हजार स्तम्भों के मध्य में 'महोदय' नाम का मंडप है। उसमें मूर्तिमती नामकी श्रुतदेवी निवास करती है। उस श्रुतदेवी की दाहिनी ओर अनेक विद्वानों से मण्डित श्रुतकेवली विराजमान रहते हैं और पवित्र श्रुत का व्याख्यान करते हैं।

कथा मंडप :—महोदय मंडप के समीप चार और मंडप रहते हैं। उनमें भव्य जीव आक्षेपणी, विक्षेपिणी, संवेदिनी तथा निर्वेदिनी नाम की चार कथाओं का कथन करते हैं। इन मंडपों के समीप में ऐसे भी स्थान हैं, जहाँ विराजमान हो, केवल आदि ऋद्धियों से मंडित ऋषिगण व्याख्यान करते हैं।

आगे चलकर नाना प्रकार की लताओं से परिपूर्ण एक सुवर्णमयी पीठ रहता है। उसकी भव्यजीव पूजा करते हैं। पीठ के मार्गों पर इधर-उधर दो-दो मंडप रहते हैं। उनमें नवनिधि के रक्षक दो प्रभासक देव बैठते हैं, जो याचकों को यथेष्ट दान देते हैं।

उसके आगे प्रमदा नाम की दो विशाल नाट्यशालाएँ हैं। जयांगण के कोने में एक-एक योजन ऊँचे चार लोक-स्तूप रहते हैं। ये लोकाकार होते हैं तथा स्फटिक मणि के समान स्वच्छ रहते हैं इसलिए उनकी समस्त भीतरी रचना स्पष्ट रीति से दिखाई पड़ती है। इनके आगे मध्यलोक के स्तूप होते हैं। उनमें मध्यलोक का स्वरूप स्पष्ट रीति से दीखता है।

मंदर स्तूप :—आगे मंदराचल के समान देदीप्यमान मंदर नाम के स्तूप रहते हैं। उन पर चारों दिशाओं में जिनेन्द्र भगवान

की प्रतिमा विराजमान रहती है। वहां कल्पवासियों की रचना से युक्त कल्पवासी स्तूप, ग्रैवेयकों की रचना से युक्त ग्रैवेयक स्तूप रहते हैं। इसी प्रकार नव-अनुदिश स्तूप पाये जाते हैं। आगे सर्वार्थसिद्धि नाम के स्तूप रहते हैं, जिनमें विजय आदि विमान तथा सर्वार्थसिद्धि की रचना शोभायमान होती है।

सिद्ध स्तूप :—आगे स्फटिक के समान निर्मल सिद्ध नाम के स्तूप होते हैं। उनमें दर्पणों की कान्ति के समान निर्मल सिद्धों के स्वरूप का बोध होता है।+

उसकी भूमि की रचना अनेक रत्नों से दैदीप्यमान वज्रमयी होती है। वह अपनी प्रभा से इन्द्र धनुष का सन्देह उत्पन्न करती है। वहाँ की दैदीप्यमान दीवारें तथा केले के वृक्ष अतिशय शोभायमान होते हैं।

प्रत्येक जगती की दोनों ओर दो-दो द्वारपालों के स्थान बने रहते हैं। वहाँ कुबेर निर्मित पदार्थ शोभायमान होते हैं। वहाँ तीन विशाल पीठ रहते हैं।

प्रथम पीठ की विशेषता—उनमें प्रथम पीठ में चारों दिशाओं में चार हजार धर्मचक्र होते हैं।

द्वितीय महापीठ में मयूर और हँसों की ध्वजाओं से युक्त आठ प्रकार की ध्वजाएँ होती हैं।

तीसरे पीठ में मंगलमय गंधकुटी रहती है।

इस संबंध में आचार्य लिखते हैं—

गंधकुटी—

अग्रे श्री-मण्डपोद्भासी प्रासादो बहुमंगलः।
गन्धकुट्यभिधानः स्यात्तत्र सिंहासनं विभोः॥ १४२–५७॥

+ सिद्धस्तूपाः प्रकाशंते ततोऽन्ये स्फटिकामलाः।
यत्रैव दर्पणच्छाया दृश्यते सिद्धरूपभाक्॥ १०३–५७॥

आगे श्रीमंडप में विद्यमान गंधकुटी नाम का अनेक मंगलमय प्रासाद है।

भव्य कूट का अद्भुत प्रभाव—इसके पश्चात् उत्तम शिखरों से शोभित भव्यकूट +नाम के स्तूप पाये जाते हैं, जिनकी दीप्ति की ओर अभव्य जीव निहार भी नहीं सकते। भव्य कूट के प्रभाव से अभव्य जीव अन्ध सदृश हो जाते हैं।

प्रमोह कूट—आगे प्रमोह नाम का कूट आता है, जिसके दर्शन से मोही प्राणी चिरकाल से अभ्यस्त मोह का परित्याग कर देते हैं।

प्रबोध स्तूप—इसके आगे प्रबोध नाम के स्तूप हैं। उनके विषय में हरिवंश पुराण में लिखा है कि—

प्रबोधाख्या भवन्त्यन्ये स्तूपा यत्र प्रबोधिताः।
तत्वमासाद्य संसारान्मुच्यंते साधवो ध्रुवं ॥ १०६–५७ ॥

इन प्रबोध स्तूपों को देखते ही साधु पुरुष प्रबुद्ध हो वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानकर संसार से छूट जाते हैं। इस प्रकार परिधि के चारों ओर क्रम से वेदिका और तोरणों से सुशोभित अति उन्नत ये दश प्रकार के स्तूप रहते हैं।

आगे एक परकोटा रहता है। उसके मंडल की पृथ्वी को छोड़कर मनुष्य और देव पर्यटन करते रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य का परिवेष सूर्यमण्डल को शोभायमान करता है, उसी प्रकार परकोटा का रत्नमयी परिवेष भी मण्डल को शोभायमान करता है।

+ भव्यकूटाख्यया स्तूपा भास्वत्कूटास्ततोपरे।
यानभव्या न पश्यंति प्रभावांधीकृतेक्षणाः ॥ १०४ ५७ ॥

यह केवल ज्ञानी तीर्थंकर भगवान का अद्भुत प्रभाव है, जो भव्यकूट के द्वारा कौन भव्य है, कौन अभव्य है, इस कठिन समस्या का समाधान प्राप्त हो जाता है। श्रेष्ठ निमित्त कारण के द्वारा अपूर्व बोध प्राप्त हो जाता है।

वहाँ अनुपम प्रभा युक्त एक दिव्य पुर बन जाता है, जिसकी शोभा अवर्णनीय है। उसके सौ नाम कहे गए हैं। उसके तल भाग में वीच जगती रहती हैं।

उस पर एक सिंहासन है, जिस पर तीर्थंकर भगवान विराजमान रहते हैं। अनेक मनुष्य, सुर असुर उन देवाधिदेव को नमस्कार करते हैं।

द्वादश सभा :—गंधकुटी की प्रदक्षिणाभूत पूर्व आदि दिशाओं में द्वादश सभाएं थीं। पहली सभा में मुनिराज विराजमान रहते हैं। दूसरी में कल्पवासी देवों की देवांगनाएँ, तीसरी में आर्यिका आदि स्त्रियाँ, चौथी में ज्योतिषी देवों की देवांगनाएँ, पाँचवी में व्यंतरिणी, छँटवी में भवनवासिनियाँ, साँतवी में भवनवासी देव, आठवीं में व्यंतर, नवमी में ज्योतिषी, दसवीं में कल्पवासी देव, ग्यारहवीं में चक्रवर्ती आदि मनुष्य तथा बारहवीं में सिंह, हाथी आदि पशु बैठते थे। इस प्रकार द्वादशांग के प्रतीक स्वरुप, द्वादश सभा वहां विद्यमान थीं।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि मनुष्य, सुर-असुर बड़ी विभूति के साथ वहाँ आते थे। समवशरण देखते ही वे अपने अपने वाहनों से उतरते थे और जहाँ पर मानस्तंभ स्थित थे, वहाँ आकर मस्तक झुकाकर नमस्कार करते थे।

उत्तम भव्यों का समवशरण में प्रवेश—उत्तम भव्य जीव भीतर प्रवेश करते थे तथा नीच पापी आदि जीव बाहर ही रहते थे तथा वहाँ से नमस्कार करते थे। आचार्य लिखते हैं—

तत्र बाह्ये परित्यज्य वाहनादिपरिच्छदं ।
विशिष्टकाकुदैर्युक्ता मानपीठं परीत्य ते ॥ १७१—५७ ॥
प्रादक्षिण्येन वंदित्वा मानस्तंभमनादितः ।
उत्तमाः प्रविशंत्यंतरुत्तमाहितभक्तयः ॥ १७२ ॥
पापशीला विकर्माणः शूद्राः पाखंडपांडवाः ।
विकलांगेंद्रियोद्भ्रांता : परियंति बहिस्ततः ॥ १७३ ॥

समवशरण में सिंहासन पर विराजमान वर्धमान भगवान के प्रभाव से वहां आने वाले सभी जीव सुख तथा शांति प्राप्त करते थे। हरिवंश पुराण में लिखा है :—

+ समवशरण में जाने वालों को महान सुख लाभ :—

न मोहो न भयद्वेषौ नोत्कंठारति-मत्सरा ।
श्रस्यां भद्रप्रभावेन जंभाजृंभा न संसदि ॥ १८१ ॥
निद्रा तंद्रा-परिक्लेशा-क्षुत्पिपासाऽसुखानि न ।
नास्त्यन्यच्चा शिवं सर्वमहरेव च सर्वदा ॥ १८२ ॥

भगवान के पुण्य प्रभाव से वहाँ जीवों को न मोह था, न भय, न द्वेष, न उत्कण्ठा, न अरति, न मात्सर्य, न छींक, न जंभाई, न निद्रा, न तंद्रा, न क्षुधा, न तृषा, न खेद, न किसी प्रकार का अकल्याण था। सबको निरन्तर अपना कल्याण ही कल्याण सूझता था।

प्रभु का सिंहासन से ऊंचे रहना :—उस समवशरण में वे वर्धमान भगवान सिंहासन पर विराजमान थे, ऐसा स्थूल रूप में कहा जाता है। वास्तव में परम वीतरागी, श्रेष्ठ अकिंचन्य भाव भूषित वे प्रभु उस सिंहासन से चार अंगुल ऊंचे विराजमान थे।

योग के प्रभाव से उनका शरीर इतना हलका बन गया था, कि उसे भूतल का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं थी। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है :—

चउरंगुलंतराले उवरिं सिंहासणाणि अरहंता ।
चेट्ठंति गयणमग्गे लोयालोय-पयास-मत्तंडा ॥ ८६५-४ ॥

लोक और अलोक को प्रकाशित करने के लिए मार्तण्ड अर्थात् सूर्य के समान अरहन्त भगवान उन सिंहासनों के ऊपर आकाश मार्ग में चार अंगुल के अन्तराल से स्थित रहते हैं।

+ हरिवंशपुराण के पद्य १७३ से यह स्पष्ट होता है कि शूद्रादि मानस्तंभ पर्यन्त ही जाते हैं। उससे आगे वे नहीं जाते हैं। उत्तम वर्ण वाले आगे जाकर द्वादश सभा पर्यन्त पहुँचा करते हैं।

चौतीस अतिशय :—भगवान के जन्म से दश अतिशय थे। केवलज्ञान होने पर दस केवलज्ञान सम्बन्धी अतिशय तथा चतुर्दश देवरचित अतिशय कहे गए हैं। इसी से तीर्थंकर भगवान को "चउतीस-अतिसय - विसेस - संजुत्ताणं"—चौतीस अतिशय विशेष संयुक्त कहा गया है। तिलोयपण्णत्ति में लिखा है, "स्वेदरहितता, निर्मलशरीरता, दूध के समान धवल रुधिर, वज्रर्षभ संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, अनुपम रूप, नवचंपक की उत्तमगंध के समान गंध का धारण करना, एक हजार आठ उत्तम लक्षणों का धारण करना, अनंतबल, हित, मित तथा मधुर भाषण ये दश अतिशय जन्म ग्रहण से ही उत्पन्न होते हैं" (पृष्ठ २६३)

पूज्यपाद स्वामी ने नंदीश्वर भक्ति में उपरोक्त अतिशयों की इस प्रकार गणना की है :—

> नित्यं निःस्वेदत्वं निर्मलता क्षीरगौर-रुधिरत्वं च।
> स्वाद्याकृति-संहनने सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥ १ ॥
> अप्रमितवीर्यता च प्रिय-हित-वादित्वमन्यदमितगुणस्य।
> प्रथिता दशख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयंभुवो देहस्य ॥ २ ॥

केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर घातिया कर्मों के क्षय से दश अतिशय उत्पन्न होते हैं :

> गव्यूति-शतचतुष्टय-सुभिक्षता गगनगमन-मप्राणिवधः।
> भुक्त्युपसर्गाभाव श्चतुरास्यत्वं च सर्व - विद्येश्वरता ॥ ३ ॥
> अच्छायत्व - मपक्ष्मस्पंदश्च समप्रसिद्ध - नखकेशत्वं।
> स्वतिशयगुण भगवतो घातिक्षयजा भवंति ते दशैव ॥ ४ ॥
> नंदीश्वरभक्तिः ॥

दया के देवता का प्रभाव :—

(१) चारसौ कोश भूमि में सुभिक्षता :—श्लोक में आगत गव्यूति शब्द का अर्थ आचार्य प्रभाचंद ने "गव्यूतिः क्रोशमेकं" किया है। तीर्थंकर महावीर भगवान के लोकोत्तर व्यक्तित्व के प्रभाव से

सभी प्राणी संतुष्ट, सुखी तथा स्वस्थता संपन्न होते थे। इस आध्यात्मिक प्रभाव से पृथ्वी भी ईति भीति विमुक्त हो शस्य-श्यामला-धन धान्यादि से परिपूर्ण हो गई थी।

भगवान ने अहिंसा की श्रेष्ठ साधना द्वारा यह पुण्य संपत्ति संचित की थी, जिससे सभी जीव सुखी रहते थे। यह अहिंसा का प्रभाव है। इससे यह अनुमान स्वयं निकाला जा सकता है, कि पापी तथा जीव बध में निरन्तर संलग्न रहने वाले क्रूर व्यक्तियों के चारों ओर दुर्भिक्षता आदि का प्रदर्शन रोती हुई दुःखी पृथ्वी के प्रतीक रूप प्रतीत होता है।

(२) वर्धमान भगवान का शरीर पृथ्वी का स्पर्श न कर आकाश में रहता था। उससे यह स्पष्ट होता था, कि इतर संसारी जीवों के समान ये महावीर भगवान भूतल के भार रूप नहीं हैं। ये तो योगीन्द्र चूड़ामणि हैं।

(३) अप्राणिवध—उनके चरणों का शरण ग्रहण करने वाले जीवों को अभयत्व प्राप्त होता था। दया के देवता के समीप क्रूरता कहाँ टिक सकती है?

(४) उन योगीश्वर के शरीर रक्षण हेतु सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता था, इससे स्थूल भोजन का आश्रय लेना उनके लिए अनावश्यक हो गया था। कैवल्य रूप परमसिद्धि के लिए स्थूल भोजन कवलाहार महान विघ्नकारी होता है।

(५) उनका व्यक्तित्व तपश्चर्यारूपी अग्नि में तपकर लोकोत्तर तेजोमय बन गया था, अतः उनके शरण में आने वालों को कोई भी कष्ट नहीं होता था, तब उन प्रभु पर क्रूर मनुष्यादि कृत उपद्रवों की कल्पना भी असंभाव्य है। अब महावीर भगवान सामान्य श्रेणी के मानव नहीं रहे। अब वे अपूर्व आध्यात्मिक सिद्धियों के ईश्वर हो

गए। इसी से सर्वज्ञोक्त आगम में उनके स्थूल भोजन तथा उपसर्गों का अभाव कहा गया है।

(६) समवशरण में वे प्रभु उत्तर या पूर्व दिशा की ओर मुख करके विराजमान रहते हैं, किन्तु समवशरण की बारह सभाओं में विद्यमान जीवों को योगशक्ति के प्रभाव से ऐसा प्रतीत होता था, कि उनका मुख चारों ओर है।

(७) द्वादशांग रूप सर्व विद्या का स्वामित्व :—वे सर्व विद्याओं के ईश्वर हो गये थे। सर्व विद्या का अर्थ प्रभाचंद्र आचार्य ने द्वादशांगरूप विद्या किया है। उसके मूलजनक के रूपमें ये जिनराज प्रसिद्ध हैं।

(८) उनका शरीर स्फटिक सदृश निर्मल हो गया था। उसकी छाया नहीं पड़ती थी। राजवार्तिक में छाया को प्रकाश के आवरण में कारण कहा है। "प्रकाशावरण-निमित्ता छाया"। उनका शरीर परम औदारिक हो गया था। जिस शरीर के भीतर सर्वज्ञ सूर्य विद्यमान है, वह तो प्राची दिशा के समान प्रभात में स्वयं प्रकाश परिपूर्ण दिखेगा।

कर्मों की छाया से विमुक्त जीवन्मुक्त जिनेन्द्र के शरीर की छाया न पड़ना पूर्णतया उपयुक्त है।

(९) शरीर की दुर्बलता के कारण नेत्रों के पलक बन्द होते हैं, खुलते हैं। वीर्यान्तराय के क्षय होने से उन अनन्तवीर्यधारी महावीर भगवान के नेत्रों में विश्रामार्थ पलक बन्द करने रूप कमजोरी का अभाव हो गया था। मोही जीवों के समान इन प्रभु को आंख बन्द करके निद्रा लेने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उन्होंने दर्शनावरण कर्म का क्षय किया था, अतः निद्रा के विकार से ये विमुक्त हो गए थे।

(१०) सम-प्रसिद्ध-नख-केशत्व—कैवल्य होने पर उनके नख और केश समान रूप में ही रहते थे। केवली होने पर उन्होंने स्थूल

भोजन ग्रहण का त्याग कर दिया था। उस पुण्यमय शरीर में मलरूपता धारण करने योग्य परमाणुओं का आगमन नहीं होता था, जिससे नख और केशों की वृद्धि होती।

विशेष कथन—तिलोयपण्णत्ति में तीर्थंकरों के घातिया कर्म के क्षय से उत्पन्न एकादश अतिशय कहे गए हैं। + "अपने पास से चारों दिशाओं में सौ योजन पर्यन्त सुभिक्षता, आकाश-गमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, सबकी ओर मुख करके स्थित रहना, छाया-रहितता, निर्निमेष दृष्टि; विद्याओं की ईशता, सजीव होते हुए भी नख और रोमों का समान रहना।" इन दश अतिशयों के सिवाय 'ग्यारहवां अतिशय' इस प्रकार कहा है—"अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्रभाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की अक्षरात्मक अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं, उनमें तालु, दाँत, ओष्ठ और कंठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय भव्यजनों को दिव्य उपदेश देना।"

दो परम्पराएं :—तिलोयपण्णत्तिकार के मत से भगवान की दिव्यध्वनि केवलज्ञान का अतिशय है। पूज्यपाद स्वामी, हरिवंश पुराणकार आदि ने दिव्यध्वनि को देवकृत चौदह अतिशयों में माना है। तिलोयपण्णत्ति में देव रचित चौदह के स्थान में तेरह अतिशय इस प्रकार कहे गए हैं :—

"जिनेन्द्र भगवान के माहात्म्य से संख्यात योजनों तक वन असमय में ही पत्र, पुष्प तथा फलों की वृद्धि से संयुक्त हो जाता है। × कंटक तथा रेती को दूर करती हुई सुखदायक वायु चलने लगती है।

+ घादिक्खयेण जादा एक्कारस अदिसया महच्छरिया।
एदे तित्थयराणं केवलणाणम्मि उप्पण्णे ॥९०६-४॥ ति.प.

× माहप्पेण जिणाणं संखेज्जेसुं च जोयणेसु वणं।
पल्लव - कुसुम - फलद्धी - भरिदं जायदि अकालम्मि ॥

(क्रमशः)

जीव पूर्व वैर भाव को त्याग कर मैत्री भाव से रहने लगते हैं। उतनी भूमि दर्पणतल के समान स्वच्छ तथा रत्नमय हो जाती है। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से मेघकुमार देव सुगंधित जल की वर्षा करते हैं। देव विक्रिया से फलों के भार से नम्रीभूत शालि, जौ आदि को रचते हैं। सब जीवों को नित्य आनन्द प्राप्त होता है। वायु कुमार देव विक्रिया से शीतल पवन को चलाता है। कूप तथा तालाब आदि निर्मल जल से पूर्ण हो जाते हैं। आकाश धूम्र तथा उल्कापातादि से रहित होकर निर्मल हो जाता है। सम्पूर्ण जीवों को रोगादि बाधाएँ नहीं होतीं। यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर स्थित तथा किरणों से उज्ज्वल ऐसे चार दिव्य धर्मचक्रों को देखकर लोगों को आश्चर्य होता है। तीर्थंकरों के चारों दिशाओं में से प्रत्येक में छप्पन सुवर्ण कमल, एक पादपीठ और दिव्य एवं विविध प्रकार के पूजन द्रव्य होते हैं।" (६०७-६१४ अध्याय ४, पृष्ठ २६३-६४)

देवकृत चतुर्दश अतिशयों को इस प्रकार गिनाया गया है :—

देवरचित हैं चार दश, अर्धमागधी भाष।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश॥
होत फूल फल ऋतु सबै, पृथिवी कांच समान।
चरणकमल तल कमल हैं, नभतैं जय जय बान॥
मन्द सुगन्ध बयारि पुन, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषै कंटक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि॥

(शेषांश)

भगवान दयामूर्ति जिनेन्द्र के चरणों के नीचे सुवर्ण के कमलों की रचना होने से प्रतीत होता है, कि लोक में लक्ष्मी को कमल में निवास करने वाली कहा गया है। भगवान के सहस्र नामों मे उन्हें श्री-पति—लक्ष्मी के स्वामी कहा है। उनके चरणों की भक्ति से अकिंचन भी धन-कुबेर बन जाता है। चरणों का निवास कमलों पर होता है अर्थात् कमलों पर लक्ष्मीपति का सद्भाव माना गया, इससे लक्ष्मी को कमलासना मानने का रूपक प्रचार में आ गया प्रतीत होता है।

धर्मचक्र आगे रहै, पुनि वसु मंगलसार।
अतिशय श्रीअरहंतके.... .... ॥

कमल रचना—आचार्य प्रभाचन्द्र ने नदीश्वर भक्ति की संस्कृत टीका में लिखा है, कि भगवान के चरणों के नीचे २२५ सुवर्ण रचित कमल रहते हैं। चार दिशाओं, चार विदिशाओं तथा उनके आठ अंतरालों में सात सात कमलों की रचना होने से ११२ कमल हुए। इन सोलह अंतरालों में भी पूर्ववत् सात सात कमल हैं। इस प्रकार ११२ कमल और हुए। कुल मिलाकर २२४ हुए। "पादन्यासे च एकं"—चरण रखने के स्थान पर एक कमल, इस प्रकार २२५ कमल कहे गए हैं। ४—"अष्टसु दिक्षु तदन्तरेषु चाष्टसु सप्त-सप्त-पद्मानि इति द्वादशोत्तरमेकं शतं। तथा तदन्तरेषु षोडशसु सप्त-सप्तेति अपरं द्वादशोत्तरशतं, पादन्यासे पद्मं चेति पंचविंशत्यधिकं शतेद्वयम्।" (क्रियाकलाप टीका पृष्ठ २४६, श्लोक ६)

तिरुक्कुरल नामक सर्व मान्य तामिल काव्य में लिखा है "जो उन भगवान की आराधना करते हैं, जो दिव्य कमलों पर चलते थे, वे उर्ध्व लोक में अविनाशी जीवन को प्राप्त करते हैं" अर्थात् अरहंत भगवान की आराधना करने वाला सिद्धालय में सिद्ध परमेष्ठी के रूप में विराजमान होता है।

अरहन्त भगवान के सिवाय अन्य किसी में यह विशेषता नहीं पाई जाती है। अतः दिव्य कमलों पर भगवान जिनेन्द्र के गमन रूप साक्षी के आधार पर तिरुक्कुरल को निष्पक्ष तथा सहृदय विशेषज्ञ जैनाचार्य की रचना बताते हैं। यही बात स्व० प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती मद्रास ने अंग्रेजी ग्रंथ तिरुक्कुरल मे लिखी है। उन्होंने उक्त पद्य का इस प्रकार अंग्रेजी मे अनुवाद किया है, "Those that adore the feet of the Lord, who walked over the Divine Lotus will have an ever-lasting life in the world above (Page 11, chapter 1, Stanza 3 Tirukkural)

प्रोफेसर चक्रवर्ती ने तिरुक्कुरल को कुंदकुंद स्वामी की रचना अकाट्य तर्कों द्वारा प्रमाणित करते हुए उन्हें ईसा के पूर्व की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध का माना है–"In short the author of Tirukkural was a Jain saint, who lived in the second half of the first century B. C." (Introduction page L xix)

केवली भगवान के तीर्थंकर रूप पुण्य प्रकृति द्वारा महान कार्य होते हैं। यह लोकोत्तर विश्व वंदनीय पुण्य स्पृहणीय है। वह हेय नहीं है। सत्पुरुष इसके लिए महान प्रयत्नशील रहते हैं। हेयोपादेय की समस्या को विवेक पूर्वक समझ कर हल करना चाहिये।

मैं वीतराग हूँ, ऐसी कल्पना मात्र से व्यक्ति उस स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता है। मोह क्षय द्वारा सच्ची वीतरागता की उपलब्धि होती है। उसका उपाय शुद्ध भाव है। गृहस्थ उस उच्च स्थिति को नहीं प्राप्त कर सकता है।

शंकाकार कहता है; शुभ हेय है। पाप समान पुण्य भी हेय है। शुभ भावों से पुण्य का आस्रव होता है, अतः गृहस्थों को भी शुद्ध भावों को अपनाना चाहिए। यह बात सुनने में सुन्दर लगती है, किन्तु उसके अनुसार किसी भी गृहस्थ ने आचरण नहीं किया। परिग्रह धारी शुक्ल ध्यान की स्थिति को प्राप्त करता है, ऐसा दिगम्बर श्रमणोत्तम महावीर तीर्थंकर का शासन नहीं है। गुणभद्र स्वामी ने पहले अशुभ, पाप तथा दुःखों को छोड़कर शुभ, पुण्य तथा सुख का अनुष्ठान उचित बताया था। उसके आगे वे महामुनि आत्मानुशासन में कहते हैं।

तत्राप्याद्यं परित्याज्यं शेषौ न स्तः स्वतः स्वयम्।
शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम्॥ २४०॥

अशुभादि को छोड़कर शुभादि को अपनाने के बाद प्रथम का अर्थात् शुभ का भी त्याग करना चाहिये। उसके अभाव होने पर पुण्य और सुख दोनों स्वयं नहीं रहते हैं। कारण के अभाव में कार्य का स्वयं अभाव होता ही है। इस प्रकार शुभ का त्याग कर और शुद्ध

स्वभाव में स्थित होकर जीव अंत में परम पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है।

विचारणीय तथ्य—इस काल में शुद्ध भाव की उपलब्धि श्रुत-केवलियों तक को नहीं हुई, तब इस बीसवीं सदी के स्वच्छन्दता पोषक भोगप्रधान वातावरण में रहने वाला व्यक्ति जब शुद्ध बनने का स्वप्न देखता है, तो महान आश्चर्य होता है। आज के विवेकी मानव का कर्तव्य है कि अपनी हीन स्थिति को स्वीकार करने से न डरे और श्रेष्ठ पुण्य संपादन करे, जिससे आगामी भव से मोक्ष के योग्य संहननादि सर्व अनुकूल सामग्री मिले।

महापुराण में भरतेश्वर के पुण्य को लक्ष्य में रखकर महान आचार्य गुणभद्र स्वामी पुण्यसंचय के लिए प्रेरणा करते हैं। जिनेन्द्रोक्त आगम का कथन अनेकान्त दृष्टि से परिपूर्ण है। उसमें पुण्य को हेय कहा है, उसमें पुण्य को उपादेय भी कहा है। दोनों कथन आगम में हैं। किस कथन का क्या रहस्य है और उसे कब और किसको अपनाना चाहिए, वह ज्ञानी पुरुष ही बता सकते है।

मुमुक्षु धर्मात्मा को भगवज्जिनसेन स्वामी के इन महत्वपूर्ण शब्दों पर गंभीरता पूर्वक ध्यान देकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। वचन पक्ष पकड़कर एक ही राग आलापने से वीतरागता नहीं मिलेगी। पूर्ण वीतरागता यहां नहीं है, वह विदेह में है। वह केवल ज्ञानी भगवान सीमंधर, जुगमंधर, बाहु, सुबाहु आदि जिनेन्द्रों के पास है। यहां वह बात नहीं है। यह वस्तु स्थिति होते हुए भी जो अपना अद्भुत राग आलापना न छोड़े, उसे गीता का यह उपदेश ध्यान में लाना चाहिए, जिसमें स्वच्छन्द आचरणवालों के लिए हितकारी बात कही गई है।

यः शास्त्र-विधि मुत्सृज्य वर्तते काम-कारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति, न सुखं, न परां गतिम् ॥ २३,- अध्याय १६

जो व्यक्ति शास्त्रोक्त पद्धति का परित्याग करके अपनी इच्छा-नुसार स्वच्छंद हो प्रवृत्ति करता है, वह न सिद्धि प्राप्त होता है, न सुख पाता है और न परम गति को प्राप्त करता है।

पुण्य के सम्बन्ध में कमसे कम गृहस्थों का क्या आचार होना चाहिए यह बात जिनसेन स्वामी के इन मार्मिक पद्यों से स्पष्ट होती है।

पुण्य रूप कल्प तरु—

पुण्यकल्पतरो रासन् फलान्येतानि चक्रिणः।
यान्यनन्योपभोग्यानि भोगांगान्यतुलानि वै ॥ १६०–पर्व ३७ ॥

भरत चक्रवर्ती के भोग तथा उपभोग के साधन पुण्यरूपी कल्प-वृक्ष के फल थे। उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता था। वे चक्रवर्ती के भोगोपभोग संसार में अतुलनीय थे।

चक्रवर्ती का यह श्रेष्ठ सौभाग्य पुण्यरूपी महान वृक्ष का सुफल था। उसका चिरकाल तक भरतेश्वर ने उपयोग किया, और रस-पान किया; पश्चात् योग्य वेला में परित्याग कर शाश्वतिक सुख को प्राप्त किया।

आचार्य पूछते हैं:

पुण्याद् विना कुतस्तादृग् रूप-संपदनीदृशी।
पुण्याद् विना कुतस्तादृग् अभेद्यं गात्रबंधनम् ॥ १६१ ॥

पुण्य के बिना चक्रवर्ती के समान लोकोत्तर रूप संपत्ति कैसे मिल सकती है? पुण्य के बिना वैसा अभेद्य शरीर का संगठन कैसे प्राप्त हो सकता है?

पुण्याद् विना कुतस्तात्–निधि–रत्न-र्द्धि-रूर्जिता।
पुण्यात् विना कुतस्तादृग् इभाश्वादि-परिच्छदः ॥ १६२–३७ ॥

पुण्य के विना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नों की ऋद्धि कैसे हो सकती है? पुण्य के बिना वैसे अपूर्व अश्व गजादि की सामग्री प्राप्त हो सकती है?

भरत चक्रवर्ती ने अपने दिव्यप्रभाव से देवताओं को भी वश में किया था तथा वे सुरगण इस प्रतापी मानव को प्रणाम करते थे। यह पुण्य का ही प्रभाव था।

आचार्य कहते हैं—

पुण्याद् विना कुतस्तादृक्प्रतापः प्रणतामरः।
पुण्याद् विना कुतस्तादृग् उद्योगो लंघितार्णवः ॥ १६५ ॥

पुण्य के बिना देवताओं को भी नम्रीभूत बनाने वाला वैसा प्रताप कहां प्राप्त हो सकता है! पुण्य के बिना समुद्र को उल्लंघन करने वाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है?

पुण्याद् विना कुतस्तादृग् प्राभवं त्रिजगज्जयि।
पुण्यात् विना कुतस्तादृक् नगराज-जयोत्सवः ॥ १६६ ॥

पुण्य के बिना तीनों लोकों को जीतने वाला वैसा प्रभाव कहां हो सकता है? पुण्य के बिना वैसा हिमवान पर्वत को विजय करने का उत्सव कैसे मिल सकता है?

पुण्याद् विना कुतस्तादृक् खचरा-चल-निर्जयः।
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् रत्नलाभोऽन्यदुर्लभः ॥ १६८ ॥

पुण्य के बिना विजयार्ध पर्वत की विजय कैसे संभव हो सकती है? पुण्य के बिना अन्य मनुष्यों को दुर्लभ ऐसे रत्नों का लाभ कहां हो सकता है?

पुण्यात् विना कुतस्तादृग् आयतिः भरतेऽखिले।
पुण्याद् विना कुतस्तादृक् कीर्ति-र्दिक्-तट-लंघिनी ॥ १६९ ॥

पुण्य के बिना समस्त भरत क्षेत्र में वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है? पुण्य के बिना दिशाओं की सीमाओं के बाहर कीर्ति कैसे हो हो सकती थी।

पुण्य हेतु संयम का उपदेश—इस प्रकार भरतेश्वर का अद्भुत वैभव पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुआ था, अतः भगवज्जिनसेनाचार्य सदृश दिगम्बर ऋषिराज यह उपदेश देते हैं :—

अतः पुण्योदयोद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रियम् ।
चिनुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पण्यं सुखसंपदाम् ॥ २०० ॥

इसलिए बुद्धिमान मानवो ! चक्रवर्ती की विभूति को पुण्य के उदय से उत्पन्न मानते हुए उस पुण्य का संचय करो, जो सुख और सम्पदाओं की दुकान के समान है ।

आर्षवाणी—ऐसी आर्षवाणी के विरुद्ध जो कुछ भी कहा जाय, उसे अस्वीकार करना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है । आस्तिक्य गुणधारी सत्पुरुष ऐसी भगवद्-वाणी के प्रकाश में प्रवृत्ति करता है । जो उपदेश उपरोक्त आगम के विपरीत दिया जाता है, मुमुक्षु तत्वज्ञ उसका आदर नहीं करता है । सम्यक्त्वी की प्रगाढ़ श्रद्धा पानी की लहर की तरह क्षण क्षण में नहीं बदलती है ।

समंतभद्र स्वामी के शब्दों में वह श्रद्धा तलवार के पानी की तरह कम्पन रहित होती है । मृत्यु के दण्ड की धमकी भी उस श्रद्धा को नहीं डिगा सकती है । बालक निकलंक ने जिनेन्द्र शासन के प्रति निर्मल भक्ति अंत तक धारण करते हुए अपने आपको मृत्यु को सौंप दिया था । ऐसे उज्ज्वल श्रद्धा वाले चिरजीवी होते हैं ।

कर्म से डसा गया—जो रुचिपूर्वक नीम को चबाता है, उसे सर्प ने काटा है ऐसा निश्चय किया जाता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति या वर्ग जिनवाणी की आज्ञा के विरुद्ध अपना मनमाना आचरण करता फिरता है, वह कर्मरूपी सर्प के द्वारा डसा जा चुका है, ऐसा निश्चय करना चाहिए । कवि कहता है :—

सर्प डस्यो तब जानिये, रुचिकर नीम चबाय ।
कर्म डस्यो तब जानिए, जिन वाणी न सुहाय ॥

श्रावकों का सारा जीवन पुण्य की आधार शिला पर स्थित है । वह बेचारा असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प, वाणिज्य रूप षट् कर्मों के चक्र में सारा जीवन इसलिए देता है, कि उसे अर्थ लाभ

होवे, जिससे सुख पूर्वक जीवन यात्रा हो। ऐसे गृहस्थ को सुखों के व्यापार को छोड़कर रत्नों की प्राप्ति का उपाय देव पूजा, पात्रदानादि पुण्य संचय के हेतु कार्यों में बताया गया है। इसीसे करुणाशील मुनीन्द्रों ने गृहस्थ को पुण्य संचय की प्रेरणा दी है।

श्रमण-श्रावक के भिन्न-भिन्न पथ—श्रमण तथा श्रावकों का संसार भिन्न प्रकार है। नीतिकार कहता है, साधु के पास यदि सम्पत्ति है, तो वह दो कौड़ी का है और यदि गृहस्थ के पास सम्पत्ति नहीं है, तो वह दो कौड़ी का है।

शान्ति तथा क्षमाभाव को ही लीजिए। आचार्य कहते हैं "क्षमः भूषणं यतीनां, न तु भूपतीनाम्"—शांति साधुओं का भूषण है, राजाओं का नहीं। राजा की दण्डनीति कभी भी शिथिल नहीं होनी चाहिये। नीतिवाक्यामृत में लिखा है, "अप्रणीतो दण्डो मात्स्य-न्यायमुत्पादयति बलीयानबलं ग्रसति" (दण्डनीति समुद्देश, ७)— राजा यदि अपराधियों को दण्ड नहीं देता है, तो मत्स्य सम्बन्धी न्याय की उत्पत्ति होती है अर्थात् बलवान निर्बल का विनाश करता है।

राम का आदर्श कार्य—यदि राम ने एकान्तवादी की यह सलाह मानली होती कि सभी जीव सर्वथा स्वतन्त्र हैं तथा शुद्ध हैं। कोई किसी का कुछ नहीं करता है। रावण सीता को ले गया है, तो वह अपने कर्मों का फल भोगेगा, मुझे सीता से क्या प्रयोजन है? क्यों व्यर्थ में हिंसा का कारण युद्ध करूं?

ऐसा यदि राम ने किया होता तो वे मर्यादा पुरुषोत्तम महापुरुष के रूप में नहीं पूजे जाते। उन्होंने अपने को श्रमण साधु नहीं समझा और न गृहविमुक्तों की भावनाओं को उस समय अपने जीवन का मार्ग दर्शक माना। उन्होंने सच्चे + क्षत्रिय का कर्तव्य पालन करके

+ क्षत्रिय का कर्तव्य सोमदेव सूरि ने इस प्रकार कहा है, "भूत-संरक्षणं शस्त्राजीवनं सत्पुरुषोपकारो दीनोद्धरणं रणे ऽपलायनं चेति क्षत्रियाणाम्"

क्रमशः

पापी रावण के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। सती सीता की रक्षा की और विश्व में सच्चे अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा अंकित की। कदाचित् राम ऐसा न करते, तो जगत् में पाप का अखण्ड शासन चलता और असंख्य प्राणियों की दुर्गति होती। राम का युद्ध धर्म युद्ध था। उस युद्ध का उद्देश्य साम्राज्य की लिप्सा नहीं थी। राम का लक्ष्य था धर्म तथा शील की इज्जत रक्षा करना। पति का अपनी धर्म पत्नी के प्रति कर्तव्य पालना उसका ध्येय था।

जो अविवेकी लोग मुनियों की बातों को गृहस्थ धर्म में जोड़ देते हैं और गृहस्थों के शिथिलाचार को साधुओं की चर्या में मिला देते हैं, वे दोनों की हानि करते हैं। इसी कारण महान ज्ञानी भगवान गौतम गणधर ने महावीर भगवान की वाणी को अंग रूपता प्रदान करते समय आचारांग को प्रथम स्थान दिया और श्रावकाचार के वर्णन करने वाले अङ्ग को पृथक रखते हुए सातवें अङ्ग में उसका प्रति पादन किया।

श्रावक का लक्ष्य श्रमण वृत्ति—मोक्ष प्राप्ति का उपाय रत्नत्रय धर्म है। उसका पूर्णतया परिपालन मुनि अवस्था में होता है। असमर्थ व्यक्ति को अपवाद मार्ग रूप गृहस्थावस्था की स्वीकृति देते हुए आचार्यों ने यह कहा है कि ऐसे गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन का लक्ष्य दिगम्बर पदवी धारण को बनावे। गृहस्थ जीवन की विविध प्रवृत्तियाँ श्रमण पद प्राप्त करने की प्रसुप्त भावना को जागृति प्रदान करती है।

भोजन के लिए प्रवृत्ति करते समय विवेकी श्रावक चित्त में सोचता है "कदा माधुकरी वृत्तिः मे स्यात्"—मेरे जीवन वह दिन

शेषांश

(-नीतिवाक्यामृत, त्रयीसमुद्देश, सूत्र ८)—जीवों का संरक्षण करना, शस्त्र के द्वारा आजीविका करना, सत्पुरुषों का उपकार करना, दीनों का रक्षण करना तथा युद्ध से नहीं भागना क्षत्रिय का धर्म है।

धन्य होगा, जब मैं मधुकर अर्थात् भ्रमर के समान आहार करूंगा तथा जैसा भी शुद्ध आहार मुझे मिलेगा, उससे अपनी शरीर की आवश्यकता को पूर्ण करूंगा।" वह गृहस्थ वैराग्य प्रधान मनोवृत्ति को बनाता हुआ गृहस्थी के जाल से छूटने की तीव्र लालसा युक्त रहता है।

रात्रि को कभी नींद का भङ्ग हो गया, तो वह वैराग्य भावना द्वारा आत्मशुद्धि के कार्यों में लग जाता है। आशाधर जी ने सागार-धर्मामृत में लिखा है—

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत् ।
सम्यग्भावित-निर्वेदः सद्यो निर्वाति चेतनः ॥ २८—६

धर्म के तीर्थंकर महा श्रमण वर्धमान भगवान ने श्रावकों और श्रमणों को अपनी देशना द्वारा श्रेयोमार्ग में प्रवृत्त कराया था। उनका समवशरण संसार सिंधु संतरण हेतु नौका सदृश लगता था। समवशरण में वे जिनेन्द्र इस प्रकार शोभायमान हो रहे थे :—

समवशरण शोभित जिनराजा ।
भवदधि तारन-तरन जिहाजा ॥

समंतभद्र स्वामी का यह चित्रण अत्यन्त सजीव है :—

शरीररश्मि-प्रसरः प्रभोस्ते ।
बालार्क-रश्मि-छविराऽऽलिलेप ॥
नरामराकीर्ण-सभां प्रभावत् ।
शैलस्य पद्माभमणेः स्वसानुम् ॥

हे जिनेन्द्र ! प्रभात कालीन प्रभाकर की रश्मियों के समान दीप्तिमान आपकी शरीर की किरणों का विस्तार मनुष्यों तथा देवों से परिपूर्ण समवशरण रूप धर्म सभा को इस प्रकार अलंकृत किए है, जिस प्रकार पद्म की आभा युक्त मणि पर्वत की ज्योति अपने शिखर को तेजोमय बनाती है।

शुभचिंतक प्रेस, जबलपुर।

प्रमुख संदर्भ-ग्रंथ-सूची

ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता
अष्टपाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य
अनगार-धर्मामृत	आशाधर
अष्टशती	अकलंकदेव
आध्यात्मिक ज्योति	सुमेरुचन्द्र दिवाकर
आत्मानुशासन	गुणभद्र भदन्त
आप्तमीमांसा	समंतभद्राचार्य
इष्टोपदेश	पूज्यपाद
उत्तरपुराण	गुणभद्र भदन्त
उपासकाचार	पूज्यपाद स्वामी
कषायपाहुड चूर्णि सूत्र	यतिवृषभ आचार्य
कषायपाहुड सुत्त हिन्दी अनुवाद	सुमेरुचन्द्र दिवाकर
कषायपाहुड सुत्त	गुणधराचार्य
कल्याण मन्दिर स्तोत्र	सिद्धसेन दिवाकर
गीता	वेदव्यास
गद्य चिंतामणि	वादीभसिंह
गोम्मटसार जीवकाण्ड	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
गोम्मटसार कर्मकाण्ड	,,
छक्खंडागम सुत्त	पुष्पदन्त-भूतबलि आचार्य
जीवक चिंतामणि	तिरुतक्कदेव
जैन शासन	सुमेरुचन्द्र दिवाकर
जयधवला टीका	वीरसेन-जिनसेन स्वामी
चारित्र चक्रवर्ती	सुमेरुचन्द्र दिवाकर
तत्वार्थ सूत्र	आचार्य उमास्वामी
तिरुक्कुरल	तिरुवल्लर कुंदकुंद स्वामी
तिलोयपण्णत्ति	यतिवृषभ आचार्य

ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता
तत्वार्थसार	अमृतचन्द्र सूरि
तत्वार्थ राजवार्तिक	अकलंकदेव
द्रव्य संग्रह	नेमिचन्द्र आचार्य
धवला टीका	आचार्य वीरसेन जिनसेन
नाटक समयसार	बनारसीदास
निर्वाणभक्ति	पूज्यपाद स्वामी
नीतिवाक्यामृत	सोमदेव सूरि
प्रश्नोत्तर रत्नमालिका	सम्राट् अमोघवर्ष
पार्श्वपुराण	वादिराज सूरि
पारसपुराण	भूधरदास
पेरेडाइज लास्ट (अंग्रेजी)	मिल्टन
परमात्म प्रकाश	योगीन्द्रदेव
पात्रकेसरी स्तोत्र	पात्रकेसरी आचार्य
पुरुषार्थसिध्युपाय	अमृतचंद्र सूरि
पातंजलि सूत्र	पातंजलि
प्रवचनसार	कुंदकुंद आचार्य
पंचास्तिकाय	कुंदकुंद आचार्य
बाइबिल	
बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका	ब्रह्मदेव
महाभारत	वेदव्यास
महाबंध हिन्दी	सुमेरुचंद्र दिवाकर
मिलिन्द प्रश्न	नागसेन
मज्झिमनिकाय	बौद्ध आचार्य
महापुराण (अपभ्रंश)	पुष्पदन्त
महापुराण (संस्कृत)	भगवज्जिनसेन
भावसंग्रह	देवसेन आचार्य

ग्रन्थ	ग्रन्थकर्ता
यशास्तिलक चम्पू	सोमदेव सूरि
युक्त्यनशासन	समंतभद्राचार्य
वर्धमान चरित्र	असगकवि
वरांग चरित्र	आचार्य जटासिंह नंदि
रामायण (संस्कृत)	वाल्मीकि
रामायण (हिन्दी)	तुलसीदास
रयणसार	कुंदकुंदाचार्य
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	समंतभद्र स्वामी
रिलीजन एण्ड पीस	सुमेरुचन्द्र दिवाकर
समयसार	कुंदकुंद स्वामी
समाधि शतक	पूज्यपाद स्वामी
सागारधर्मामृत	आशाधर
सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद
समयसार टीका	अमृतचन्द्र
स्वयभू स्तोत्र	समंतभद्र स्वामी
स्वरूप संबोधन	अकलंक देव
हरिवंश पुराण	जिनसेन आचार्य
क्षत्रचूड़ामणि	वादीभसिंह सूरि
त्रिलोकसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती
ज्ञानार्णव	शुभचन्द्राचार्य